स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा चेतना

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोध–प्रबन्ध
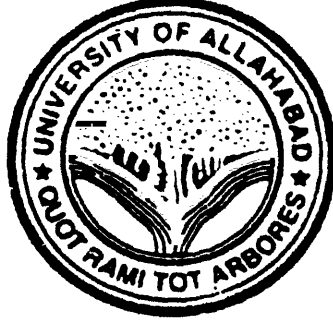
शोधकर्ता :

अशोक राम

निर्देशक :

डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सन् – 2001

पूजनीय पिता जी की स्मृति
में समर्पित प्रतीक पुष्पांजलि

प्राक्कथन

साहित्य का सम्बन्ध हमारी भावनात्मक सत्ता से होता है। हमारे जीवन का शाश्वत सत्य भावनात्मक रूप में ही प्रतिबिम्बत होता है। "साहित्य मानव समाज का मस्तिष्क है।" कह कर साहित्य की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने की है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है। वह तोप, तलवार और बम गोलों में भी नहीं पाई जाती है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेद्वी साहित्य को समाज का दर्पण ही नहीं मानते, वे साहित्य में समाज की अभिव्यक्त ही नहीं खोजतें बल्कि एक कदम आगे बढ़कर समाज का परिवर्तन और विकास को प्रभावित करने वाली सक्रिय शक्ति के रूप में भी देखते है। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। साहित्य और समाज का अटूट सम्बन्ध है। दोनों के एक दूसरें पूरक हैं, समाज के बिना साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती और साहित्य के बिना समाज के स्वरूप को दृष्टिपात नहीं किया जा सकता।

गद्य की परम्परा की शुरूआत साहित्य के अध्ययन के प्रारम्भ में ही हो गयी थी लेकिन उसका पूर्ण विकास आधुनिक काल में हुआ। गद्य परम्परा में अनेक विधाओं जैसे नाटक, कविता, कहानी और निबन्ध आदि का विकास हुआ इन्हीं विधाओं के एक विधा के रूप में उपन्यास विधा का विकास हुआ। उपन्यास की विधा एक ओर तो गद्य साहित्य निर्माण और विकास की समकालीन विधा है और दूसरी ओर उसका सम्बन्ध, मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग (सर्वहारा वर्ग) से है। उपन्यास वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। प्रेमचन्द के शब्दों में "मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्व हैं, "उपन्यास में मानव जीवन का प्रतिबिम्ब हो, घटनाएं श्रृंखलाबद्ध हो, वास्तविकता की सेवा में नियोजित कल्पना हो।"

मिशेल जेराफा ने लिखा है कि "उपन्यास ऐसी कला है, जिसमें मनुष्य सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से निरुपित होकर सामने आता है।" उपन्यास का स्वभाव ऐसा है कि वह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति से भागकर उपन्यास नहीं रह सकता। लेकिन केवल सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के कारण कोई उपन्यास

कलात्मक कृति नहीं हो जाता। अगर ऐसा होता तो सभी उपन्यासकार प्रेमचन्द होते। प्रेमचन्द की रचनाशीलता का ऐतिहासिक संदर्भ स्वाधीनता आंदोलन था। इनके उपन्यासों एवं कहानियां में रचनाशीलता का लक्ष्य किसानों, आदिवासियों, हरिजनों, स्त्रियों, मजदूरों और दूसरे शोषित दलित जन समुदायों का जीवन है।

स्वातंत्र्योत्तर पश्चात हिन्दी साहित्य पर सामाजिक, राजनीतिक क्रांतियों के परिवर्तनों का गहरा प्रभाव पड़ा हैं, आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थवाद अथवा पारम्परिक जीवन मूल्यों की जगह प्रगतिशील जीवन मूल्यों की व्यापक रूप से प्रतिष्ठत हुआ। जिसमें निचली श्रेणी का विस्फोटक रूप उभर कर उपन्यासों के सामने आया, जो सर्वहारा वर्ग से सम्बन्धित था। उपेक्षित अंचलों के चित्रों में उपेक्षित, दीन–हीन, पीड़ित लोगों की पहिचान ही सर्वहारा पहिचान है। वास्तव में गांव और अंचलों का उभार ही मोटे रूप में स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य की मुख्य धारा है। इस धारा में सर्वहारा वर्ग एक बहुत ही पुष्ट बिन्दु है। और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों ने इस वर्ग का बहुत ही व्यापक सांगोंपांग निरूपण किया है। प्रगतिशील कथाकारों ने भी सर्वहारा को उठानें में योगदान किया है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में " स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा चेतना " नामक विषय का अध्ययन आठ अध्यायों में किया गया है।

पहला अध्याय में सर्वहारा : एक स्पष्टीकरण (आशय) का वर्णन किया गया है। जिसमें स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग के स्वरूपात्मक पक्ष मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विश्लेषित किया गया हैं और मार्क्सवाद सारभूततत्व एवं मार्क्सवादी दर्शन का सर्वहारा वर्ग और भारतीय समाज के प्रति क्या दृष्टिकोण है। उसके जो दर्शन रहे हैं, भारतीय सामाजिक परिवेश के लिए कहाँ तक तथ्यत्माक है? उसके दर्शन की अवधारणा क्या है? समाज में वर्ग की अवधारणा और वर्ग संघर्ष की तथ्यात्मकता जो उसने अपने दर्शन की माध्यम से कहीं है, वह भारतीय सामाजिक परिवेश में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में कहाँ तक रूपायित किया गया है। आधुनिक भारतीय समाज में सर्वहारा वर्ग की स्थिति क्या रही है? उसका अवलोकन स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों द्वारा कर के भारतीय समाज के सर्वहारा वर्ग के स्वरूप को विश्लेषित किया गया है। मार्क्स और एंजेल्स के विचारधारा के अनुरूप वर्गविहीन समाज और भारतीय सामाजिक

परिवेश में भारतीय वर्ग व्यवस्था शोषित समाज की स्थिति और आधुनिक भारत में सर्वहारा की स्थिति का भारतीय पिछड़े समाज से विवेचन–विश्लेषण किया गया है।

प्रगतिशील उपन्यासकार प्रेमचन्द, यशपाल, नागार्जुन, अमृतराय, भैरव प्रसाद गुप्त, हिमांशु श्रीवास्तव, भगवती चरण वर्मा, रामदरश मिश्र, मैत्रेयी पुष्पा, कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, उषा प्रियंम्वदा जैसे उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में विभिन्न घटनाओं, क्रिया कलापों के माध्यम से सर्वहारा वर्ग के स्वरूपों को व्याख्यायित किया गया है।

दूसरा अध्याय के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग से जुड़े विशिष्ट उपन्यासों का अनुशीलन किया गया है। जिसमें स्वातंत्र्योत्तर काल क्रमागत उपन्यास जैसे पानी के प्राचीर, सोनभद्र की राधा, कब तक पुकारूं, अलग–अलग वैतरणी, सागर लहरें और मनुष्य, बलचनमा, उखड़े हुए लोग, मैला आँचल, झूठा–सच उपन्यासों का सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि परिवर्तनों का अवशीलन एवं अवलोकनार्थ है। इन उपन्यासों के पात्रों में अवयस्क लड़के–लड़कियाँ एवमं महिलाएं, बृद्ध पुरूष वर्ग का आधुनिकता जीवन बोध दिग्दर्शन किया गया है।

तीसरा अध्याय में सर्वहारा वर्ग की आर्थिक समस्याओं का अवलोकन एवं चेतनशीलता का विश्लेषण करते हुए इसमें नये उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की आर्थिक समस्याओं के अन्तर्गत आकलित किया गया है। यह समस्या कैसे उत्पन्न होती है? इसके नियंत्रक तत्व कौन से हैं इस पर प्रकाश डालते हुए सर्वहारा की आपूर्ति में बाधक में निर्धनता का भूमि सम्बन्धी विशेषताएँ, जमींदारी उन्मूलनोंपरान्त भूपतियों का सर्वहारा के प्रति उदित मनोभावों, आर्थिक बिषमता से उत्पन्न सर्वहारा के अन्यांय जीवन मूल्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें अर्थचक्र की सर्वोन्मुखी समस्यात्मक कोण, उचित पारिश्रमिक की समस्या, भविष्योंमुखी आर्थिक क्षितिज का दृष्टिकोण विवेचित का करने का प्रयास किया गया है।

चौथा अध्याय में हिन्दी उपन्यासों में राजनीति और सर्वहारा वर्ग का प्रतिमान, आयाम के उपन्यास चित्रों को उद्घाटित किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में भारतीय सामाजिक परिवेश में सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना को व्याख्यायित किया गया है। किस प्रकार स्वातंत्र्योत्तरकाल में सर्वहारा वर्ग समाजवादी विचारों से प्रभावित हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के सन्दर्भ में उभरी नव सर्वहारा संस्कृति अभ्युदय

एवं इस वर्ग से सम्बन्धित विभिन्न राजनीतिक सन्दर्भ को भी विश्लेषित किया गया है। अधिकार बोध की चेतना नें वर्ग संघर्ष के विविध आयामों को प्रश्रय दिया है। सर्वहारा वर्ग की राजनीति में भूमिका दलिय स्थिति के बारे में भी अवलोकन कर स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों के परिप्रेक्ष्य में विवेचित करने का प्रयास किया है।

पाँचवा अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रमुख सर्वहारा पात्र–योजना एवं चरित्राकंन को आख्यायित किया गया है। सवर्दा से उपेक्षित पदमर्दित शोषित व्यक्तियों को नारी एवं पुरूष पात्र में बलचनमा, जागला, सुखराम, विरजा, दुखन, जयदेवपूरी, डॉ0 प्राण, गंगा, मलारी, नट नारी प्यारी, बसमतियां, इंजोरिया, पलकी, कनक, तारा जैसे पात्र के माध्यम से आलोच्य कालावधि में जो सामाजिक आर्थिक परिर्वतन हुए है। उसका सर्वहारा वर्ग पात्रों द्वारा बिश्लेषण एवं चरित्र–चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

छंठा अध्याय में सर्वहारा वर्ग में सामाजिकता का बोध उपन्यास साहित्य में प्रतिफलन अंकित किया गया है। इसमें स्वतंत्रता पूर्व सर्वहारा वर्ग की सामाजिक शोषक–मूलक परिवेश का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर सर्वहारा वर्ग की सामाजिक समस्या का प्रतिरूप एवं नये पीढ़ी के नये आयाम समाज में नवीनतम शीलता वर्ग संघर्ष की सामाजिक परिदृश्य, सर्वहारा वर्ग की नव आधुनिकता एवं सर्वहारा चेतना की सामाजिक स्थितियों, उत्पीड़न और शोषण का अवलोकन विश्लेषित किया गया है।

सातवाँ अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की सांस्कृतिक आत्मबोधता का वर्णन किया गया है। उपन्यासों में कथाकारों ने अपने कथा के माध्यम से सांस्कृतिक चेतना एवं धार्मिक मान्यताएँ जैसें ईश्वरास्था, देवपूजा, नाना साधनों के प्रति समर्पित एवं विविध आयामों से सम्बद्व किया गया है। समाज का सर्वहारा वर्ग के टुटते–जुडते सांस्कृतिक मूल्यों, पुरानी रूढ़ियों, अन्धविश्वासों का अवलोकनार्थ एवं जीवन मूल्यता और सर्वहारा वर्ग का विन्यास, विवाह संस्था की मान्यताएँ आधुनिक बोधगम्यता का सांगोपांग निरूपण किया गया है। उपन्यासों में विशेष अभिज्ञान के अन्तर्गत सांस्कृतिक अनुष्ठान, नारी नवजागरण, दलितोंत्थान, दलितसाहित्य, संत कबीर,

ज्यातिबा फूले, डॉ0 राममनोहर लोहिया एवं डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का फलक अन्वेषित करने का प्रयास किया गया है।

आठवाँ अध्यायः उपसंहार में समूचे मूल्याकंन की दिशाओं का स्पष्ट किया गया हैं। युग सन्दर्भ जीवन की परिस्थितियों अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर होने वाली वैचारिक और बौद्धिक परिवर्तन इन सबसे कभी जुड़कर और कभी कट कर हमारा उपन्यास साहित्य आगें बढ़ता रहा है। फिर वह विकास यात्रा आज भी जारी है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध विद्वद्रेण्य, सत्यनिष्ठ, सूक्ष्मअन्वेषक, श्रद्वेय गुरूवर डॉ0 जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव (हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के कुशल निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। पूजनीय गुरूदेव ने आद्यांत शोध प्रबन्ध को साकार रूप देने में गुरूतर दायित्व का निर्वाह किया। इस पुनीत कार्य हेतु आदरणीय गुरूजी के प्रति श्रद्धावनत हूँ।

गुरूवर द्वारा प्रदत्त परामर्श, हार्दिक सहयोग तथा मानसिक सम्बल के सहारे ही यह शोध कार्य अन्तिम चरण तक पहूँच सका है। किन शब्दों में, मैं अपना आभार प्रकट करू! मै स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि कहीं–कहीं शब्द हृदयगत भावों की अभिव्यक्त पूर्णतः समर्थ नही होते।

मैं हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के उन सभी गुरूजनों के प्रति विशेष रूप से डॉ0 राजेन्द्र कुमार (विभागाध्यक्ष), डॉ0 मोहन अवस्थी, डॉ0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, डॉ0 किशोरी लाल, डॉ0 मालती तिवारी, डॉ0 मीरा श्रीवास्तव, डॉ0 सत्यप्रकाश मिश्र, डॉ0 रामकिशोर शर्मा, डॉ0 शैल पाण्डेय, डॉ0 भूरेलाल एवं विभागीय अन्य प्राध्यापकों के प्रेरणाप्रद व्यक्त्वि के प्रति अपना प्रणति निवेदित करता हूँ, जिनका आर्शीवाद एवं सहयोग मुझ अंकिचन को प्राप्त होता रहा है। ये विद्वत् बिन्दु मेरे लिये सम्बल है।

पारिवारिक सहयोग के बिना कोई कार्य पूर्ण नहीं होता है। शोध कार्य के समय सदैव इसका अनुभव होता रहा है। मेरे ममतामयी पूजनीया माँ श्रीमती फूलेश्वरी देवी का स्नेह एवं आशीर्वाद ही है, जो मुझे आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहा है और बिषम परिस्थितियों में भी मैं उन्ही से होता रहा हूँ। भ्राताओं में अनुज श्री गुलाब चन्द्रा

(एडवोकेट) का समय–समय पर भरपूर सहयोग मिलता रहा है। परिवार के प्रत्येक सदस्य का हार्दिक सहयोग ही था। जिससे गुरूतर कार्य पूर्ण हो सका।

प्रेरणा प्रदायिनी पूजनीया दीदी श्रीमती शान्ती गौतम के प्रति आभार प्रकट किये बिना कैसे रह सकता हूँ जो मुझे शिक्षापथ का थका–माँदा विकल पथिक होने की प्रेरणा, ऊर्जा और हर सम्भव सहयोग देती रहीं एवं स्नेहिला सुश्री अर्चना का अप्रतिम अनुपमेय योगदान रहा है एवं प्रेरणादायिनी सुश्री रेखा (प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) का जिनकी दृढ़ता, दूरदर्शिता एवं प्रतियोगितात्मक भावना ने मुझे दृढ़ दूरदर्शी एवं प्रतिस्पर्शी होने की प्रेरणा प्रदान की। मैं उनका ऋणीं एवं आभारी रहुगां। भामाशाह सरीखे प्रेरणादायक श्री श्रवण कुमार (जीजा जी) एवं इष्टमित्रों, सर्वश्री तारकेश्वर प्रसाद, व्यासमुनि, मुसाफिर प्रसाद, सच्चिदानन्द, अजित कुमार, नन्द प्रकाश (एडवेकेट) एवं उमेश कुमार का चिर ऋणी हूँ जिन्होंने अपनी धन की गठरी खोलकर मेरे शोध की आर्थिक बाध्यता को दूर किया। इसके अतिरिक्त विभागीय कर्मचारियों एवं अन्य सगें सम्बन्धियों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से सहयोग रहा है।

शोध प्रबन्ध की पूर्णता में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, हिन्दुस्तान अकादमी, पब्लिक लाइब्रेरी, विश्वविद्यालय पुस्तकालय, केन्द्रीय पुस्तकालय काशी विश्वविद्यालय बनारस से शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित सामग्री प्राप्त हुई। इसलिए मैं वहाँ के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को सह्रदय धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

विनयागत् होकर मैं यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा हूँ, मुझे आशा ही नहीं विश्वास है कि विद्धद्‌जन इसमें हुई त्रुटियों को क्षमा करेगें। यदि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध " स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा चेतना" के प्रति किंचित् भी ध्यानाकर्षित करता है तो मैं अपना अथक प्रयास सफल समझूगाँ।

विनयावनत् :

अशोक राम

अशोकराम

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

2001

अनुक्रमणिका

पहला अध्याय

सर्वहारा: एक स्पष्टीकरण (आशय)

(क) सर्वहारा का स्वरुपकात्मक विश्लेषण :

मानव समाज के विकास की ऐतिहासिकता पर विश्व के विचारकों एवं दार्शनिकों ने समय–समय पर मानव जगत में कई दार्शनिक मतवाद और विचार धाराओं का सूत्रपात किया है। देश और काल की प्राचीरों को लॉघनें की क्षमता को रखने वाले दार्शनिक सिद्धान्त साहित्य के क्षेत्र में भी अवतरित होते है। कुछ दार्शनिक सिद्धान्त सदा सर्वथा दार्शनिक सिद्धान्त ही बने रहते है तो कुछ और सिद्धांत काल की चेतना को आत्मसात् करते हुए विकासशील होकर अक्षुष्ण रहते हैं। वे युग को प्रभावित करते है और युग उसमें भी प्रभावित हो जाता है। विप्लव के बीच–बीच जिन नए मनुष्यों का जन्म होता है वे मुनष्य विप्लव की महान रचनाएं होते है। जैसे सागर की लहरों में हर उतार के बाद चढ़ाव जरूर आता है, वैसे हर पराजय के बाद चढ़ाव जरूर आता है।

बीसवीं शताब्दी में घटित परिवर्तनों की प्रेरक शक्तियों में सर्वहारा वर्ग का विकसित रूप दिखलाई पड़ रहा है । मार्क्स के अनुसार पूँजीपति एवं सर्वहारा दो वर्ग है । जिसमें सर्वहारा वर्ग स्वाधीनता बाद जागरूक हो गया है इनमें परिवर्तन के लक्षण व्यापक रूप से दिखलाई पड़ रहा है। संविधान में समान अधिकारोपरान्त वर्णव्यवस्था एवं जाति व्यवस्था की संकीर्ण कड़िया टूट रही है। सर्वहारा अपने अधिकारों के लिए लड़ रहा है क्योंकि सर्वहारा में जन शक्ति का सैलाव है जबकि पूॅजी पति वर्ग में धनशक्ति है । सम्पूर्ण समाज को अब तक यही अर्थशक्ति नियंत्रित करती रही है। इस अर्थशक्ति को चुनौती देने वाला सर्वहारा वर्ग ही स्पष्टतया समाज में दीखता है।

भारतीय समाज में आर्थिक असमानता, वर्गसंघर्ष मध्यवर्गीय जीवन का शिथिलीकरण, वैयक्तिक तनाव, नये पुराने, आदर्शों और सिद्धान्तों का द्वन्द्व, समाज और व्यक्ति का आपसी वैमनस्य शैक्षणिक प्रणाली के प्रयोग एवं उसमें उत्पन्न कठिनाइयों, शिक्षित नारी का नवीन विकास आदि तत्व क्रियाशील है। समाज में परिवर्तन की दृष्टि से कीर्ति हो रही है, इसमें असंतोष की भावना भूखमरी, बेकारी और सामाजिक विसंगतियों में सम्पूर्ण देश डूबा हुआ है। अनेक विसंगतियों का निराकरण सर्वहारा द्वारा ही किया जा सकता है।

सर्वहारा वर्गीय जीवन में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्षों की परिवर्तित एवं पारम्परिक गतिशील एवं स्थिर वास्तविकता तथा तन्जन्य मानसिकता है, इसके अन्तर्गत आधुनिकता बोध की वैचारिक स्वीकारोक्ति समसामयिकता की प्रभाव परिणति एवं सॉस्थानिक परिवर्तनों की क्रियाशीलता विद्यमान है। आधुनिक समाज के विषय में स्तालिन ने कहा है कि "एक श्रेणी उन पूंजीपतियों की है जो कच्चे माल तथा कल कारखानों और फार्मों के मालिक हैं। इसके विपरीत दूसरी श्रेणी उस विशाल सर्वहारा मजदूर वर्ग की है जिसके पास अपनी श्रम शक्ति है कि अतिरिक्त कुछ नहीं है।"

मार्क्स ने वर्गहीन समाज की स्थापना और अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पूंजीवाद के विनाश की अनिवार्यता घोषित की है। पूँजीवाद की समाप्ति के लिए पूँजीवाद से ही उद्‌भूत सर्वहारा, जो इसी की कब्र खोदता है को अपने दर्शन का आधार बनाया है और कहा कि सर्वहारा को मुक्ति दिलाये बिना दर्शन को चरितार्थ नहीं कर सकता, सर्वहारा दर्शन को चरितार्थ किये बिना अपनी मुक्ति नही कर सकता, मार्क्स ने मुक्ति के महान् आन्दोलन को व्यक्ति और समाज के अन्यान्य क्रम में प्रकट होता हुआ देखा।[1] लासेल ने भी सर्वहारा को प्रधानता देते हुए कहा कि सर्वहारा वह चट्टान है, जिस पर भविष्य में मंदिर का निर्माण होगा। जोरेस ने तो समाजवाद कैसे प्राप्त होगा के प्रत्युत्तर में कहा कि, 'सर्वहारा के विकास से जिसका समाजवाद से अटूट सम्बन्ध[2] है। सर्वहारा वर्ग में किसी वर्ग विशेष का आधिपत्य नहीं रहता। शोषित वर्गों का यह संगठित वर्ग होता है। "बुर्जुआ वर्ग के मुकाबले में आज जितने भी वर्ग खड़े हैं, उन सब में सर्वहारा ही क्रांतिकारी वर्ग है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग के साथ ह्रासोन्मुख होकर अन्ततः विलुप्त हो जाते है, सर्वहारा वर्ग ही उसकी मौलिक और विशिष्ट उपज है।

सर्वहारा के माध्यम ये अभिलषित समाजवाद वन आगमन हो सकेगा, ऐसा मार्क्स और उसके अनुयायियों का विश्वास हैं क्योंकि समाज के दूसरे वर्ग अपने स्वार्थों के कारण पूंजीपतियों से आबद्ध रहते हैं। अतएव क्रांति की ज्वाला उनके माध्यम से नहीं आ सकती वे अधिक से अधिक सुधार की बात कर सकते हैं सर्वहारा क्रांति की अधिक

---

1. एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन : अशोक मेहता, अनु0 श्यामा प्रसाद प्रदीप, पृष्ठ–116 अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन राजघाट, काशी।
2. एशियाई समाजवाद : एक अध्ययन से उद्धृत, पृष्ठ–95

सुधार की बात कर सकते हैं सर्वहारा क्रांति की सबसे बड़ी विशेषता होगी। समाज को वर्गीय भावना से मुक्त करके साम्यवाद का प्रसार।[1] इन संदर्भों के आधार पर 'सर्वहारा' के विषय में सर्वप्रथम व्युत्पति परिभाषा और स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में विचार कर लेना आवश्यक हैं।

16 अक्टूबर, सन् 1972 ई0 को एक सम्मेलन में शराफ रशी दोव द्धारा प्रस्तुत रिपोर्ट में कहा गया हैं कि विश्व पूंजीवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग को जन्म दिया। यह जबरदस्त सामाजिक शक्ति थी जिससे यह तकाजा किया गया था कि वह इन्सान के हाथ इन्सान के शोषण को मिटाने, समाज का पूरी तरह संगठन करने तथा तमाम राष्ट्रों की मेहनत कश जनता का एक बन्धुत्व पूर्ण संघ तैयार करने के लिए होने वाले संघर्ष कार्य का नेतृत्व करें।[2]

मार्क्स और एंगेल्स ने समाज के विकास की जिस वैज्ञानिक भौतिकवादी संकल्पना की खोज की, वह कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र की सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु में व्याप्त हैं। पाठक के समक्ष समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष के इतिहास के रूप में आता हैं, प्राचीन युग में दासों का स्वामी और दास, सामंतवाद के युग में सामंती भूमिपति और भूदास वे विरोधी वर्ग थे। जो एक दूसरे के जानी दुश्मन थे और एक अन्तहीन संघर्ष चलाये रखते थे, जिसके फलस्वरूप समाज का, क्रांतिकारी रूपान्तर हुआ। दासों पर स्वामित्व वाला समाज खत्म हुआ। तो सामंती समाज बना और सामंती समाज के स्थान पर बुर्जुआ समाज बना, जिसमें दो मूल विरोधी वर्ग होते है। 'बुर्जुआ वर्ग' और 'सर्वहारा'। "इसलिए किसान", मार्क्स ने लिखा "शहरी सर्वहारा को, जिसका काम पूंजीवादी व्यवस्था को उलटना है, अपना स्वाभाविक मित्र और नेता पाते है"।[3] किसानों के बड़ें समुदायों की सहायता से "सर्वहारा क्रान्ति वह समवेत स्वर प्राप्त करेगी, जिसके बिना उसका एकल गीत सभी कृषक देशों में उसका मृत्यु पूर्व का अन्तिम गीत बन जाता हैं"।[4]

मार्क्स एंव एंगेल्स ऐसे सर्वहारा क्रांन्तिकारी थे, जिनके लिए विज्ञान स्वयम् उद्देश्य नहीं, बल्कि मजदूर वर्ग का बौद्धिक उपकरण था।

---

1. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल : डॉ0 पारस नाथ मिश्र, पृष्ठ–41
2. लेनिनवाद मुक्ति तथा जातियों की प्रगति का ध्वज : सम्पादक – वी0आर0 कुल्लान्दा, सोवियत भूमि पुस्तिका, 1972, पृष्ठ–10
3. कार्लमार्क्सए लुई बोनापार्ट की 18 वीं ब्रूमेर (संकलित रचनाएँए खण्ड एक भाग दो)ए पृष्ठ–238
4. वही, पृष्ठ–240

उन्नीसवीं शदी का विचारक, दार्शनिक अन्तर्राष्ट्रीय के सर्वहारा के प्रणेता और वैज्ञानिक कम्यूनिज्म के संस्थापक कार्लमार्क्स का जन्म 5 मई, सन् 1818 ई0 प्रशिया के राइन प्रान्त के ट्रियर नगर के यहूदी परिवार में हुआ था। और इनकी मृत्यु 17 मार्च, 1883 ई0 लन्दन (हाइगेट कब्रिस्तान) में हुआ था। मार्क्स आधुनिक, एवं वैज्ञानिक तथा अधिकांश समाजवादी विचारधाराओं के सर्वमान्य जनक हैं। समग्र संसार के श्रमिक और क्रान्तिकारी आन्दोलन मार्क्स के प्रभावशाली विचारों से प्रभावित हुए हैं। इसलिए उन्हें अन्तराष्ट्रीय सर्वहारा के महान शिक्षक और नेता कहाँ जा सकता हैं। इस दृष्टि से मार्क्स संसार में न केवल महान अपितु युग प्रवर्तक विचारकों में से हैं।

पश्चिम यूरोपीय देशों में सामाजिक जीवन का अध्ययन कर मार्क्स ने सम्बोधन किया कि दुनिया के स्तर पर आर्थिक दृष्टि से मानव समाज दो ही वर्ग में बंटा है। पहला पूँजीपति दूसरा सर्वहारा। तात्विक आधार पर समाज के निरन्तर विकास की प्रक्रिया का आधार संघर्ष माना। अभी तक आर्विभूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग–संघर्षों का इतिहास रहा हैं। आज पूरा समाज दो विशाल शत्रु शिविरों में एक दुसरे के खिलाफ खडें, दो विशाल वर्गो में पूँजीपति और सर्वहारा वर्गो में विभक्त होता जा रहा हैं। पूंजीपति वर्ग ने पारिवारिक सम्बन्धों के ऊपर से भावुकता का पर्दा उतार फेंका है और पारिवारिक सम्बन्ध को केवल द्रव्य के सम्बन्ध में बदल दिया हैं। "मार्क्स ने अपने विज़न के फलीभूत होने को उम्मीद औद्योगिक रूप से विकसित उन देशों में की थी जहॉ पूंजीवाद ने जरूरी भौतिक आधार तैयार किया था लेकिन इतिहास ने मार्क्स की इस उम्मीद पर एक चाल चल दी। पहले विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद यूरोपीय देशों में हुई क्रान्तियों में, मार्क्स ने जिसका अनुमान लगाया था। केवल रूसी क्रान्ति सफल हुई। पूँजीवाद द्वारा मुहैया किये गये आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों के आधार पर समाजवाद का निर्माण एक अकेले पिछड़े हुए देश में करना पड़ा और वह भी सर्वाधिक शत्रुतापूर्ण पूँजीवाद के वैश्विक वर्चस्व के बीचो बीच। मार्क्सवादी शब्दावली का इस्तेमाल करें तो इस समाधान में उत्पादक शक्तियों का विकास और नए समाज के आधार के रूप में उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धों का निर्माण साथ–साथ करना था। लेनिन ने इसे ऐसे संघर्ष के रूप देखा जिसमें 'पराजय'

एक विशिष्ट सम्भावना थी। उसने लिखा 'संघर्ष और केवल संघर्ष ही निर्धारित करेगा कि हम कितना आगें बढ़ पाते हैं।'[1]

'पूँजी' को मार्क्स ने मानव समाज के जीवन मूल्यों का नियामक माना। पूँजी की भूमिका में मार्क्स कहते हैं। "इस रचना का अंतिम उद्‌देश्य आधुनिक समाज (अर्थात पूँजीवादी) (बुर्जुआ समाज) की गति के आर्थिक नियम को खोलकर रख देना ही हैं।" इतिहास द्वारा निर्धारित समाज विशेष के उत्पादन सम्बन्धों का, उनके उद्‌भव, विकास तथा ह्रास का अनुसंधान यह हैं मार्क्स की आर्थिक शिक्षा का अंतर्य।[2] पूँजी के उत्पादन के नियमों के गहन अध्ययन कर उसने बताया कि पूँजी के बढ़ाव में पूँजी और मानवीय श्रम दोनो का योगदान होने के उपरान्त भी श्रम शक्ति की उपेक्षाकर पूँजीपति वर्ग व्यक्तिगत पूँजी निरन्तर बढ़ रहा है। ऐसे वर्ग को उसने शोषक वर्ग की संज्ञा दी। दुनिया भर में पूँजी उत्पादन की विद्या को एक मानकर उसने अपने अपने सिद्धांतो की प्रतिष्ठापना को जो निम्नवत हैं:–

(1)दुनियाभर के पूँजीपतियों का एक वर्ग हैं जिसे मार्क्स ने बूर्जुआ वर्ग की संज्ञा दी।

(2)श्रमिकों वर्ग जिसकी श्रमशक्ति का उपयोग पूँजीपतियों ने मनमाने ढ़ंग से की उस वर्ग को प्रोलिटेरियट कहा।

सैद्धान्तिक तौर पर विश्व के अन्य सामाजिक विकास पद्धतियों के चिन्तन (विशेष रूप से भारत) का बिना अध्ययन किये पूँजी के प्रति अपने दृष्टिकोण को सही मानकर संघर्ष के लिये सर्वहारा वर्ग को संगठित करने का आह्‌वाहन मार्क्स ने किया। पहली बार दुनिया के पैमाने पर मार्क्स ने शोषित जनता की सर्वहारा (पोरोतालियन) शब्द दिया। उसके शोषण की व्याख्या की कारणों का तलाश किया, और मुक्ति का क्रान्तिकारी दर्शन दिया है। वर्ग संघर्ष आर्थिक संघर्ष से मुक्ति पाने एवं पूँजीवादी व्यवस्था को भंग करने का एक सशक्त साधन हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन हैं कि 'आज समाज केवल भावलोक का विद्रोह कर टाल सकता हैं, परलोक मानस में शुष्क धर्माचार व रूढ़ मान्यताओं के प्रति यह भाव लोक का विद्रोह किसी दिन वास्तविक के विद्रोह का रूप ले सकता हैं। यह वास्तविक लोक आधुनिक जीवन की

---

1. परख : एक वैकल्पिक प्रस्ताव पत्रिका – अक्टूबर 2001 से मार्च 2002, सुदर्शन आफसेट, इलाहाबाद, पृष्ठ–9

2. लेनिन : कार्लमार्क्स और उनकी शिक्षा – प्रगति प्रकाशन मास्को, प्रकाशन सन् 1989 ई0, पृष्ठ–21

विडम्बना मूलक व्यवस्था है और व्यापक रूप से उस समाज व्यवस्था से है जो जिसमें दलित सर्वहारा अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य हैं। इस प्रकार मार्क्स का सर्वहारा मूलतः समाज का शोषित दलित जनसमूह हैं जिसका मूल शत्रु पूँजीवादी व्यवस्था हैं। इसके विरूद्ध परिवर्तन का संघर्ष उसका मूल ध्येय हैं। ऐसी परिवर्तनकारी क्रान्ति की व्याख्या करते हुए भगत सिंह ने लिखा हैं – "क्रान्ति वर्गवाद, जातिवाद तथा राष्ट्र द्वारा राष्ट्र का, व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के, किसी भी प्रकार के शोषण का अन्त कर देगा।"[1]

दुनिया के श्रमिकों की सामाजिक स्थिति में हर जगह भिन्नता थी। इसका बिना विचार किए पूँजीपतियों के खिलाफ संघर्ष करने की घोषणा एक असामयिक घोषणा सिद्ध हुए। औधोगिक महानगरों के सर्वहारा चेतनायुक्त होने के कारण पूँजीपतियों के खिलाफ संगठित होकर संघर्ष करने में पहले सफल सिद्ध होगे ऐसी मार्क्स की भविव्यवाणी थी। लेकिन इंग्लैण्ड और जर्मनी के मजदूर इसमें असफल रहें। जिस अनुपात में पूँजीपति वर्ग का, अर्थात पूँजी का विकास होता हैं। उसी अनुपात में सर्वहारा वर्ग का, आधुनिक मजदूरों के एक वर्ग का विकास होता है। जो तभी तक जिन्दा रह सकते है। जब तक उन्हं काम मिलता जाये और उन्हें काम तभी तक मिलता हैं जब उनका श्रम पूँजी में वृद्धि करता हैं। सर्वहारा वर्ग विकास की विभिन्न मंजिलों से गुजरता हैं। जन्म काल से ही पूँजीपति वर्ग से उसका संघर्ष शुरू हो जाता हैं। पूँजीपति वर्ग को अपने राजनीतिक उद्‌देश्यों की पूर्ति के लिए पूरे सर्वहारा वर्ग को गतिशील करना पड़ता है। और वह ऐसा करने में कुछ समय तक समर्थ भी होता है। इसलिए इस अवस्था में सर्वहारा वर्ग अपने शत्रुओं से नहीं,, बल्कि अपने शत्रुओं से, निरकुंश राजतंत्र अवशेषों, भूस्वामियों, गैर औधोगिक पूँजीपतियों, निम्न पूँजीपतियों से लड़ता है। इस प्रकार इतिहास को समस्त गतिविधि के सूत्र पूँजीपतियों के हाथों में केन्द्रित रहते है। इस प्रकार हासिल की गयी हर जीत पूँजीपति वर्ग की बढ़ती हुई आपसी होड़ और उससें पैदा होने वाले व्यापारिक संकटों के कारण मजदूरों की मजदूरी और भी अस्थिर हो जाती है।

सर्वहाराओं का अपना वर्गरूपी संगठन और फलतः एक राजनीतिक पार्टी के रूप में उनका संगठन उनकी आपसी होड़ के कारण बराबर गड़बड़ी में पड़ जाता है। लेकिन हर बार वह फिर उठ खड़ा होता है पहले से भी अधिक मजबूत दृढ़ और

---

1. दलित जन उभार : बहुजन चेतना मण्डप, प्रकाशक – बी0 एम0 एन0 प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ–258

शक्तिशाली बनकर। पूँजीपति वर्ग अपने को लगातार लड़ाई में फंसा पाता है, पहले अभिजात वर्ग के साथ, फिर खुद पूंजीपति वर्ग के उन भागों के साथ, जिनके हित औद्योगिक प्रगति के प्रतिकूल हो जाते है और अन्ततः विदेशों के पूँजीपतियों के साथ तो सदा ही । अतः पूँजीपति वर्ग खुद ही सर्वहारा वर्ग को अपने राजनीतिक और सामान्य शिक्षण के तत्वों से सम्पन्न कर देता है, अर्थात् उनके हाथ में पूँजीपति वर्ग से लड़ने के लिए हथियार देता है । सर्वहारा वर्ग को ज्ञानोदीप्ति और प्रगति के नये तत्व प्रदान करते हैं ।

मार्क्स के साथ एंगेल्स ने भी सर्वहारा का चित्रण किया और दोनों एक दूसरे के पूरक है इसलिए अलग चिन्तन की कोई आवश्यकता नही'। बड़े–बड़े उद्योगों, मिल कारखानों, खानों, कल कारखानों, आदि मालिकों का वर्ग पूँजीपति वर्ग कहलाता है । यह वर्ग सम्पूर्ण देश की अर्थव्यवस्था की कुंजी को अपनी मुट्ठियों में बन्द रखता है और इसी कारण देश के आर्थिक क्रिया कलापों, उत्पादन, वितरण आदि पर इसका पूर्ण नियंत्रण होता है । कालमार्क्स ने इसी वर्ग को शोषण वर्ग श्रमिक वर्ग का खून चुसने एवं उसकी गॉढ़ी मेहनत की कमाई का अधिकांश भाग स्वयं "हडपने वाला वर्ग" कहा हैं। सामाजिक परिवर्तन लाने में इस वर्ग की जो भूमिका हैं। उसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्तमान भारत में जो औद्योगीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील है। वह वास्तव में इसी वर्ग की देन हैं। उद्योगों को शुरू करने तथा रोजगार की सम्भावना बढ़ाने में इसी वर्ग की भूमिका रही है।

पूँजीपति वर्ग अस्तित्व और प्रभुत्व की लाजिमी शर्त पूँजी का निर्माण और वृद्धि है। और पूँजी की शर्त हैं, उजरती श्रम पूर्णतया मजदूरों की आपसी होड़ पर निर्भर है। उद्योग की उन्नति जिसे पूँजीपति वर्ग अनिवार्यतः अग्रसर करता है। होड़ के कारण उत्पन्न मजदूरों के अलगाव की जगह पर उनका संसर्गजनिक क्रान्तिकारी एका कायम कर देती है। पूँजीपति वर्ग सर्वोपरि अपनी कब्र खोदने वालों को पैदा करता हैं। व्यक्तिगत पूँजी का अनियंत्रित संग्रह और पूँजीपतियों द्वारा उसका असीमित उपभोग देखकर मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग के लिए अभिनव दिशा निश्चित की। उन्नीसवीं शती में राज्य की एक ऐसी शक्ति थी जो पूँजीपतियों के साथ लड़ने में सक्षम थी अन्यथा पूँजीपतियों के शक्तिशाली गिरोह के सामने सर्वहारा वर्ग का किसी भी प्रकार का संघर्ष

कर पाना असंम्भव था। इसलिए राज्यविहीन समाज की कल्पना कर चलने वाले मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को राज्यतंत्र पर कब्जा करने की प्रथम राजनीतिक आवश्यकता पर अधिक बल दिया।

राज्य को हाथ में लेकर सर्वहारा पूँजीपतियों के समूल नाश में सक्षम हो सकता है। इस प्रकार अर्थवादी चिंतक मार्क्स ने सर्वहारा की अधिनायक की राजनैतिक कल्पना कर सर्वहारा को आर्थिक वर्ग न बनाकर राजनैतिक वर्ग बना दिया। इस प्रकार विकास कम में सर्वहारा वर्ग अपना संगठन बनाकर राज्य सत्ता कैसे प्राप्त करे इसका चिन्तन ज्यादे करने लगा परिणाम सामने आया। कोई भी राजनैतिक वर्ग शोषण विहीन समाज की स्थापना करेगा यह अनुभव विश्व को बताता हैं कि असम्भव है। हाँलाकि इतना जरूर हुआ कि व्यक्तिगत पूँजीपतियों के खिलाफ राज्य शक्ति नियंत्रक हुईं । इसी का परिणाम हैं कि ब्रिटेन का मजदूर अपने लोकतांत्रिक स्वभाव के अनुसार संसदीय ढंग से राज्य पर नियंत्रण कर पूँजीपतियों के साथ समझौते पर चलने लगा और न सर्वहारा क्रान्ति ही पायी और न पूँजीपति समाज समाप्त हो पाया।

पूँजीपति और शोषक दोनों समझौते की स्थिति में हो गये उन्नीसवीं सदी के अंत में इसी तरह राज्य रचना के विरूद्ध संघर्ष की तैयारी करने वाला लेनिन रूस में पैदा हुआ। लेनिन के रूस में सर्वहारा का संघर्ष कहीं से पूँजीपतियों के विरूद्ध नहीं हुआ बल्कि एक राज्य व्यवस्था को संघर्ष के द्वारा बदलकर अपनी सत्ता स्थापित की मार्क्स का आर्थिक मानव राजनैतिक मानव हो गया मार्क्सवाद को आधार मानकर लेनिन ने संघर्ष किया। यह एक उसकी आवश्यकता थी। क्योंकि किसी भी संगठन की वैचारिक आवश्यकता को पूर्ण करना आवश्यक होता हैं। विचार का भी आकर्षण यदि चमत्कारिक न हो तो आकर्षण नहीं हो पाता यह कार्य रूस में मार्क्सवाद को करना पड़ा। रूस में सत्ता प्रतिष्ठान बदलने के बाद रूस सत्ता के खिलाफ संघर्ष करने वालों का आकर्षण केन्द्र बना और लेनिनवाद विचार के रूप में सबका प्रेरक तत्व बना। रूस में सर्वहारा के नाम स्थापित सत्ता के आर्दशानुरूप चीन और भारत में कुछ लोगों ने कार्य प्रारम्भ किया। सन् 1921 ई0 में चीन में माओंत्सेतुंग ने और भारत में मानवेन्द्रनाथ राय आदि ने चीन ऐसे अविकसित देश में माओं ने तत्कालीन राज्यव्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष की कम आवश्यकता का अनुभव किया यदि तत्कालीन चीन की व्यवस्था पर

विचार किया जाय तो कोई ऐसी सत्ता नहीं थी जिसके नियंत्रण में सम्पूर्ण चीनी समाज है। युद्ध सरदारों और क्वेमिड0 ताड0 की संस्कारों द्वारा चीनी जनता का शासन होता था। उसी काल में जापान आक्रमण के रूप चीन में प्रविष्ट हुआ। जापान जैसे आक्रामक देश के विरूद्ध चीन को राष्ट्रवाद के आधार पर खड़ा किया जाय। यह आवश्यकता थी। और चीन मे गुरिल्ला युद्ध को आधार मानकर सारा संघर्ष शुरू हुआ। संघर्ष कि विकास क्रम में देश भक्ति के आधार पर चीनी सीमा को निश्चित कर उसने अपनी सर्वहारा शक्ति को खड़ा किया। शक्ति केन्द्र वाली संघर्ष की परिस्थितियॉ भिन्न थीं। अतः माओ ने बीहड़ जंगलो और पर्वतीय इलाको में, गांव के कबीला संस्कृति के लोगो को मिलाकर खड़ा किया। और उसने सर्वहारा की संज्ञा गांव के छोटे किसानों, निम्न पूँजीपतियों एवं पारम्परिक छोटे–मोटे व्यवसायों द्वारा जीविकार्जन करने वालों को दे डाली।

सन् 1949 ई0 में जापान की हार के बाद क्वोमिड़0 ताड़0 की सरकार को रूसी सेना की सहायता से गिराने में माओत्सेतुंग सफल हो गया। सन् 1949 ई0 में सर्वहारा अधिनायक शाही के नाम पर राज्य सत्ता स्थापित हो गयी । दुनिया के स्तर पर राजनैतिक मानव की भूख अर्थवादी चिंतन की आड़ में, शान्त हो गई।

भारत में सन् 1924 ई0 में मानवेन्द्र नाथ राय के सहयोग से कम्यूनिष्ट पार्टी की स्थापना हुई। सर्वहारा अधिनायकवाद की परिकल्पना जो रूस से प्राप्त की गयी थी उसको आधार बनाकर कार्य प्रारम्भ किया गया। उस समय ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ भारत में स्वतंत्रता का संघर्ष चल रहा था। कोई देशी राजव्यवस्था ऐसी नही थी। जिसके विरूद्ध यह संघर्ष चले। सत्याग्रह और असहयोग के आधार पर गांधी जी का चल रहा संघर्ष स्वतंत्रता प्राप्ति में सफल हो गया और रूस की द्वितीय विश्व युद्ध की राष्ट्रीय आवश्यकता जो कि इग्लैण्ड की समर्थक थी, इस विषय पर रूस के अनुसार चलने के कारण कम्युनिष्ट पार्टी को काफी नुकसान हुआ और देश हित के विरूद्ध बिट्रेन से सहयोग की बात उनके काफी विपरीत गयी। भारत ऐसे सामाजिक विषमता वाले देश में सर्वहारा वर्ग में कौन–कौन से लोग सम्मिलित हो, यह विवादास्पद विषय बना हुआ है। भारत जैसे सामाजिक विषमता वाले देश में सर्वहारा वर्ग में कौन–कौन से लोग सम्मिलित हो, यह विवादास्पद विषय बना हुआ हैं। आज भी सामाजिक तौर पर

उपेक्षित और आर्थिक तौर पर पीड़ित लोगों का बहुत बड़ा वर्ग तो है। परन्तु साम्यवाद की सर्वहारा शब्दावली के अन्दर यह कितना अपने को समाहित मानता हैं। ऐसा आज तक कुछ दिखाई नहीं पड़ता।

लेनिन परिवारिक स्तर पर राज्य के अत्याचार का शिकार होने के कारण प्रतिशोध भाव से यह राज्य के उर्ध्वस्त करने के चिन्तन में लग गया उसने ऐसे सब लोगों का संगठन किया जो जारशाही के विरूद्ध थे। तत्कालीन राज्य व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष करने वाले पूरे समूह का अगुवा सर्वहारा होगा ऐसा रूस में उसने विचार कर राज्य के खिलाफ सभी असन्तुष्ट लोगों का गिरोह बनाया और सन् 1917 ई0 में सर्वहारा अधिनायकशाही को स्थापित करने में सफल हुआ।

प्राचीन काल में मेहनत कश लोग मालिको के दास थे दास आमतौर पर मालिक की पूर्ण सम्पति हुआ करते थे। दास उत्पादन के औजारों और अन्य साधनों के स्वामित्व से वंचित रहते थे। वे अपने श्रम संगठनकर्त्ता नहीं थे और केवल अपने मालिक के आदेश की पूर्ति किया करते थे मध्य युग में तथा औधोगिक क्रांति होने तक शहरों में दस्तकार भी थे जो निम्न पूँजीवादी उस्तादों के नौकर थे। मैनूफेक्चर के विकास के साथ मैनूफेक्चर मजदूरों का उद्भव होने लगा। सर्वहारा से मतलब आधुनिक उजरती मजदूरों से हैं, जिसके पास उत्पादन का अपना खुद का कोई साधन नहीं होता, इसलिये जो जीवित रहने के लिये अपनी श्रम–शक्ति को बेचने को विवश होते है।

आजादी के लड़ाई के समय सर्वहारा के अधिनायकवाद की व्यवस्था को लोगो के गले कोई उतार नही पाया। इसका दो कारण था। सर्वहारा के नाम पूरे देश में चाहे वह राजनैतिक क्षेत्र हो या लेखन का क्षेत्र हो नेतृत्व एक बनावटी सुविधावादी वर्ग के हाथ में रहा नागरीय गरीब लोगों पर नगरीय घूर्तता का असर रहा तो गॉव के गरीबों के गवांरूपन को सभी लोगों ने हिकारत की दूष्टि से देखा। आजादी के पूर्व मिलों में आन्दोलनात्मक कार्य करने वाला मजदूर नेता गांव से लौटकर ग्रामीण परिस्थितियों मे अपने को समरस करने में असमर्थ रहा।

सर्वहारा वर्ग स्वयम् अपनी पुरानी हस्तगत करण–प्रणाली का और इसके साथ–साथ पहले को सभी हस्तगतकरण–प्रणालियों का अन्त किये बिना समाज की हस्तगतकरण–प्रणालियों का अन्त किये बिना समाज की उत्पादक शक्तियों का स्वामी

नही बन सकता। सर्वहारा के पास जोड़नें और सुरक्षित रखने के लिए अपना कुछ भी नही है। उसका जीवन लक्ष्य निजी संपत्ति की सभी पुरानी गांरटियों और जमानतों को नष्ट कर देना हैं।.............बुर्जुआ वर्ग के मुकाबले में आज जितने भी वर्ग खड़े हैं, उन सब में सर्वहारा ही वास्तव में क्रांतिकारी वर्ग हैं। दूसरे वर्ग आधुनिक उधोग के समक्ष ह्रासोन्मुख होकर वर्ग अंतत विलुप्त हो जाते हैं, सर्वहारा ही उसको मौलिक और विशिष्ट उपज हैं।[1]

सर्वहारा क्रांति का चिन्तन भारतीय चिन्तन के साथ उलझ गया है। विचारों के साम्राज्य में जीने वाला भारतीय समाज वर्ग संघर्ष एवें सर्वहारा की अधिकनायकशाही दोनों को स्वीकार करेगा, यह कठिन नहीं असम्भव भी प्रतीत होता। सुविधावादी नेतृत्व का शहरीकरण हो गया और सर्वहारा वर्ग भी वेतन भोगी बनकर रह गया और सर्वहारा क्रांति की इच्छा ही मर गयी क्योंकि क्रांति के पूर्व सम्भावित खतरे से जुझने का साहस उस नेतृत्व के पास न रहा न मजदूर के पास कोई योजना ही रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त भी इर्द'–गिर्द कुछ ऐसा ही स्वरूप रहा, गॉव और शहर दो इकाई बने रहे। शहरी नेतृत्वकर्त्ता ऐसा चाहता ही नही की कोई दीर्घकालिन संघर्ष होगा। सामाजिक व्यवस्था एंव अर्थवादी जगत के भारतीय चिन्तकों की श्रृंखला में आने वाले मनीषियों को विचारधारा में पर्याप्त विभेद रहा हैं। पं0 दीन दयाल उपाध्याय जिन्होंने मार्क्सीय दृष्टिकोणों की पर्याप्त आलोचना की हैं। पूँजीवादी एवं साम्यवादी दोनों व्यवस्याओं को विकृतिपूर्ण बताया है। सम्पूर्ण साम्यवादों चिन्तन के विरूद्ध वैचारिक संघर्ष की एक व्यापक शुरूआत उन्होनें अपने एकात्म मानववाद के विचार को प्रस्तुत किया हैं। उनकी सामाजिक विकास को प्रक्रिया के सम्बन्ध में मान्यता है। कि पारस्परिक सहयोग पर विकास सम्भव है। पूँजी का एकीकरण चाहे व्यक्ति के हाथ हो या राज्य के हाथ हो दोनों विशाल समाज के लिये अहितकर हैं। पूँजी के प्रति दृष्टिकोण यदि भारतीय हो जाय तो सारी समस्या का निदान सम्भव है, ऐसी उनकी मान्यता है। ऐसी ही स्थिति में भारतीय साम्यवादी चिन्तक चित्तन के धरातल पर जुझ रहा है। सामाजिक जीवन में उसको उपयुक्त वातावरण नहीं मिला और गांव एवं शहर के लोगों ने आर्थिक आधार पर कोई उचित स्वरूप संगठन के निर्माण में भी कोई विशेष सफलता नही प्राप्त की है।

---

1. सर्वहारा अधिनायकत्व : मार्क्स एंगेल्स, लेनिन – प्रगति प्रकाशन मास्को, 1985 पृष्ठ–13

एक दूसरे प्रश्न के प्रत्युत्तर में कि सर्वहारा का जन्म कैसे हुआ? कहा गया है कि सर्वहारा उस औधोगिक क्रांति के फलस्वरूप पैदा हुआ जो गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में प्रकट हुई थी। और जिसकी तब से संसार के समस्त सभ्य देशों में पुनरावृत्ति होती रही हैं।[1]....................यांत्रिक उपकरणों की औद्योगिक क्रांति ने उद्योग की हर शाखा पर अपना आधिपत्य कर लिया, पूँजी पर हर वस्तु के मालिक बन गये। सभ्य देशों में श्रम की लगभग सभी शाखायें फैक्टरी प्रणाली के अन्तर्गत होती है, और लगभग तमाम शाखाओं में से दस्तकारी तथा मैनुफैक्टर को बड़े पैमाने के उघोगों ने बाहर धकेल दिया हैं। फलस्वरूप पहले के मध्य वर्ग खासतौर पर छोटे दर्जे के कारीगरों को बरबादी की ओर पहुँचा दिया गया हैं तथा दो नये वर्ग जो धीरे–तमाम अन्य वर्गों को अपने अन्दर समा रहे है,, अस्तित्व में आये है, अर्थात बड़े पूँजीपतियों का बुर्जुआ वर्ग, जो मशीनों और फैक्टरीयों आदि का स्वामी हैं तथा उन लोगों का वर्ग जिनके पास कुछ नहीं हैं और जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनों को प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों को अपना श्रम बेचने के लिये वाध्य हैं, सर्वहारा वर्ग हैं।[2]

एक अन्य प्रश्न के प्रत्युत्तर में कि सर्वहारा क्या हमेशा से विद्यमान नहीं रहा हैं? लिखा गया हैं कि हां, नहीं रहे। गरीब लोंग तथा श्रमजीवी वर्ग हमेशा से रहे हैं तथा श्रमजीवी वर्ग अधिक गरीब रहे हैं। परन्तु ऐसे गरीब, ऐसे मजदूर अर्थात सर्वहारा, जो अभी अभी चर्चित अवस्थाओं के अन्दर रहे है, हमेशा से उसी अस्त्विमान नही रहें हैं जिस तरह होड़ हमेशा से मुक्त तथा बेलगाम नहीं रही है। 19वीं सदी के सर्वहारा की परिभाषा तथा सर्वहारा क्या है?, के प्रत्युत्तर में लिखा हैं कि सर्वहारा समाज का वह वर्ग हैं जो अपनी आजीविका के साधन पूर्णतया तथा केवल अपने श्रम की बिक्री से हासिल करता है, किसी पूँजी से हासिल किये गये मुनाफे से नही, जिसकी भलाई और दुख, जिसकी जिन्दगी और मौत, जिसका पूर्ण अस्तित्व श्रम की मांग पर, इस कारण अच्छे कारोबार के समय तथा बुरे कोरोबार के समय की अदला–बदली पर, बेलगाम होड़ से पैदा होने वाले उतार चढावों पर निर्भर करता हैं।[3] संक्षेप में सर्वहारा अथवा सर्वहारा वर्ग 19–या 20 वीं शताव्दी का श्रमजीवी वर्ग हैं।

---

1. फ्रेडरिक एंगेल्स, पृष्ठ–84
2. मार्क्स एंगेल्स : कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, पृष्ठ–85
3. वही, पृष्ठ–84

मार्क्स की परिभाषा का क्षेत्र और अधिक विस्तृत करते हुये माओत्सेतुंग अपने देश काल की सीमा में जो सर्वहारा की व्याख्या प्रस्तुत की वह निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं। औद्योगिक सर्वहारा श्रमिकों के अतिरिक्त अर्द्ध सर्वहारा के रूप में प्रस्तुत माओत्सेतुंग की व्याख्या ने सर्वहारा समाज का एक बृहत रेखाचित्र प्रस्तुत किया है। चीन की विशाल जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि से जुड़ा हुआ था और दरिद्र किसानों की विशाल सेना दयनीय स्थिति झेल रही थी। ये न केवल औद्योगिक श्रमिकों के समकक्ष थे वरन् अनेक बातों में इनकी स्थिति सर्वहारा के ही समान थी। माओंत्सेतुंग के वर्गीकरण से जुड़ा अर्द्धसर्वहारा वर्ग भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रखना हैं। 'माओं' ने कई सर्वहारा वर्ग की पाँच श्रेणियों की है।

(1) अर्द्ध भूमिधर किसानों की भारी बहुसंख्याः– इससे माओं का तात्पर्य यहॉ उन जो अंशतः अपनी जमीन पर काम करते हैं और अशतः दूसरों से लगान पर ली हुई जमीन पर।[1]

(2) गरींब किसान

(3) छोटें दस्तकार

(4) दुकानदार कर्मचारी, इससे माओं का तात्पर्य है उन कर्मचारियों से जो तत्कालीन चीन में बहुसख्यक थे दुकान कर्मचारियों का एक निम्न तपका भी था जो सर्वहारा के समाज जीवन बिताता था।[2]

(5) फेरीवालेः– अर्द्वभूमिधर किसानों की भारी बहुसंख्या और गरीब किसान ये दोनों मिलकर देहात की आय जनता का बड़ा हिस्सा बन जाते हैं। किसान समस्या मूलतः इन्हीं की समस्या है। अर्द्वभूमिधर किसान, गरीब किसान और छोटे दस्तकार ये सब भूमिधर किसानों और मालिकों दस्तकारों से और[3] भी छोटे पैमाने के उत्पादन में लगे हुए हैं। यद्यपि अर्द्वभूमिधर किसानों की भारी बहुसंख्या और गरीब किसान दोनों ही अर्द्वसर्वहारा वर्ग में आता है, फिर भी अपनों आर्थिक स्थिति के हिसाब से उन्हे उच्च, मध्यम और निम्न इन तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। अर्द्वभूमिधर, अर्द्वभूमिधर किसानों की जिन्दगी भूमिधर किसानों की जिन्दगी से ज्यादा कठिन है, क्योंकि हर साल उन्हें अपनी जरूरत के लगभग आधे अनाज की कमी का सामाना करना पड़ता हैं। उन्हे

1. माओत्सेतुंग की संकलित रचनाएं, पृष्ठ–17
2. वही, पृष्ठ–17

दूसरों से लगान पर जमीन लेकर अपनी श्रमशक्ति का हिस्सा बेंचकर या छोटे–मोटे व्यापार में लगकर यह कमी पूरी करनी पड़ती हैं। बसन्त के अन्त और ग्रीष्म के शुरू में पौधों में हरा अनाज निकलनें के पहले और पुराने अनाज के चुक जाने के बाद, वे भारी व्याज पर कर्ज लेते हैं और ऊचें दाम देकर गल्ला खरीदते हैं.....[1]

............गरीब किसान देहात के आगामी किसान है, जिनका शोषण जमींदार करते है। अपनी आर्थिक स्थिति के हिसाब से उन्हे अन्य दो श्रेणियों में बांटा जा सकता हैं। गरीब किसानों की एक श्रेणी के पास अपेक्षाकृत रूप से काफी खेती औजार होते हैं और कुछ पूँजी भी होती है।...........जहां तक किसानों की दूसरी श्रेणी का सम्बन्ध है, उनके पास न तो खेती के पर्याप्त औजार होते हैं और न पूँजी होती हैं, उनके पास काफी खाद भी नही होती, जमीन से भी मामूली[2] दुकान कर्मचारियों को भी माओं ने थोड़ी पूँजीवाला हैं और गरीब किसानों के समकक्ष ही उन्हें भी क्रांति की जरूरत हैं। माओं ने कृषि और तत्सम्बन्धी जनों के विकट स्थिति का विश्लेषण अत्यन्त निकटता से किया था। और सर्वहारा वर्ग की सीमा में परिगणित किया। माओं ने आधुनिक औद्योगिक सर्वहारा वर्ग को बड़ा नही माना हैं किन्तु मुख्यतः रेलवें, खान, समुन्द्री परिवहन सूती, कपड़ा और जहाज निर्माण उद्योग में श्रमरत इनकी बड़ी तादात्म उन कारबारों में गुलामी करती हैं, जिनके मालिक विदेशी पूँजीपति है।

...................यद्यपि ये संख्या में कम हैं फिर भी उत्पादक शक्तियों के प्रतिनिधि है। ये केन्द्रित हैं। जनता का कोई दूसरा हिस्सा इतना केन्द्रित नहीं हैं। इसका कारण इसकी गिरी हुई आर्थिक स्थिति हैं। उनके उत्पादन के सभी साधन छिन चुके है, उनके पास अपने भुजबल के सिवाय और कुछ बाकी नही रह गया हैं[3] जिसे हम देहाती सर्वहारा वर्ग कहते है, उसका अर्थ है साल, महीने या दिन के हिसाब से काम पर लगाये जाने वाले खेत– मजदूर। इनके पास न जमीन है, न खेती न औजार हैं और न थोड़ी सी भी पूँजी हैं। वे जिन्दगी बसर करने के लिये केवल अपनी श्रम शक्ति को ही बेच सकते है। दूसरे मजदूरों की तुलना में वे सबसे ज्यादा घंटे काम करते है, सबसे

1. माओत्सेतुंग की संकलित रचनाएँ, पृष्ठ–10
2. वही, पृष्ठ–11
3. वही, पृष्ठ–13
4. वही, पृष्ठ–14

दस्तकारों की हैं। जिन्हे काम नही मिल पाता। वे सबसे अस्थिर जिन्दगी बिताते है.........[1] माओं ने युद्ध सरदारों नौकरशाह, दलाल, पूँजीपति वर्ग, बड़े जमीदारों का वर्ग और उन पर निर्भर बुद्धिजीवियों को सर्वहारा वर्ग के लिए दुश्मन माना हैं तथा औद्योगिक सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व सम्पन्न क्रांतिकारी वर्ग तथा अर्द्धसरकारी वर्ग और निम्न पूंजीपति वर्ग सर्वहारा के सवसे नजदीकी दोस्तों के रूप में स्वीकार किया हैं।

एम0 सिरोदोव ने सर्वहारा विश्लेषण क्रम में लिखा हैं कि दासमूलक समाज में श्रम के प्रति हिकारत का रूख व्याप्त हो गया। इसके फल स्वरूप रोम में एक ऐसा सामाजिक तबका पैदा हो गया, जिनके पास न तो गुलाम थे और न स्वयं श्रम करना चाहता था। ये साधनहीन पतित व्यक्ति परजीवीयों की तरह जीते थे। यहीं वह लम्पट सर्वहारा बने जिसकी रोटी और खेल तमाशे की मांग विख्यात है। (एम0 सिरोदोव, राजनीतिक विज्ञान ऐतिहासिक भौतिकवाद क्या है?) एम0 सिरोदोव को यह प्रस्तुत परिभाषा अपने तत्कालीन समाज में चाहे जिस रूप में भी व्याप्त हो आज के संदर्भो में यह पर्याप्त परिवर्तित हो चुकी हैं।

प्रख्यात विचारक लीवरेख्त ने भी श्रमजीवी वर्ग की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा हैं। कि इस प्रकार हमें श्रमजीवी वर्ग में मजदूरी करने वाले के अलावा छोटे–छोटे किसानों तथा छोटे– छोटे दुकानदारों को भी शामिल करना चाहिए............ कुछ लोग मानते हैं कि एक मात्र मजदूरी करने वाला सर्वहारा ही, सच्चा क्रांतिकारी वर्ग हैं, अकेले वही समाजवादी सेना बनाता है, हमें दूसरे वर्गो के जवीन के दूसरे क्षेत्रों के लोगों से सर्तक रहना चाहिये। सौभाग्य से इन ना समझी भरे विचारें का जर्मन सोशल डेमोक्रेसी पर कभी प्रभाव नहीं रहा।

प्रस्तुत विचारों के आधार पर कहा जा सकता हैं कि मार्क्स के सर्वहारा की व्याख्या देशकाल की सीमाओं के अनुसार पर्याप्त विस्तार पाती रही। न केवल औद्योगिक संस्थानों से जुड़ा श्रमिक ही सर्वहारा की संज्ञा पा सका और क्रांति का अग्रदूत बना वरन् वे सभी दलित, उपेक्षित अर्थहीन व्यक्तित्व इस सीमा में समाहित हो गये जो शदियों की घोर विद्रूपता से संघर्षशील होते रहे है।

---

1. माओत्सेतुंग की संकलित रचनाएँ, पृष्ठ–14

भारतीय विचारकों ने समाजवाद और समाजवाद के अग्रदूतों के रूप में जिस वर्ग की कल्पना की वह सर्वहारा से भिन्न नही है। ख्यातिलब्ध भारतीय राजनीतिक और विद्वान डॉ0 सम्पूर्णानन्द ने अपनी कृति समाजवाद में सर्वहारा की व्युत्पुत्ति, परिभाषा और आधुनिक स्थिति पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा हैं कि प्राचीन काल में कारीगर स्वतंत्र थे बनाये माल का अधिकार रखते थे। आज को मशीनें करघों का विस्तृत रूप हैं। कारीगर ही इन कपड़ों के स्वामी बने और रूपया लगाने वाले को मूलधन व्याज चाहिये और वह अपने रूपयों की सन्तति को वृति निन्तर चाहने लगा। महायंत्रों ने रूपये वालों का पक्ष प्रबल कर दिया...............उन्हे स्वतंत्र कारीगर तो चाहिये नही, केवल मजदूर चाहिए अर्थात ऐसे लोग चाहिये जो पैसा लेकर श्रम करने को तैयार हो और अपनी मजदूरी मात्र से मतलब रखें[1]..................यह कहा से आते है...............जिनके पास खेती बारी घर आदि कोई सम्पत्ति नहीं हैं। उनके पास अपने शरीर मात्र हैं। यह लोग अपने शरीर के स्वामी बने रहते हैं पर अपनी यहीं श्रमशक्ति को समय विशेष के लिए रूपये वाले के हवाले कर देते है। ऐसे लोगों के लिये कुछ दिनों से सर्वहारा प्रोलेटेरियन नाम चल पड़ा है। अकिंचन कहना भी बुरा न होगा।[2] वहीं सच्चा मजदूर हो सकता हैं जिसके पास कुछ न होते हुए भी एक वस्तु हैं। वह है उसकी श्रमशक्ति (लेबर पावर) श्रम करने की शक्ति। बस वह रूपयों वालों के हाथ इसी को बेचता हैं। यही उसका एक मात्र पण्य है।[3] डॉ0 सम्पूर्णानन्द ने देशकाल निरपेक्ष वस्तु स्थितियों को समीक्षित कर धनी और निर्धन की स्थिति भेद को स्पष्ट करते हुए हर युग में इसकी उपस्थिति की चर्चा की है। किन्तु इसके साथ ही वर्तमान जीवन की प्राणलेवा निर्मम आर्थिक शोषण की सत्यता को उद्धाटित करते हुए लिखा कि पहले भी धनी और निर्धन का भेद था, पर आज जैसा तीव्र न था...........ऐसे लोगों को गणना करना कठिन है जो प्राण पाल रहे हैं परन्तु न भरपेट अन्न पाते हैं न वस्त्र।[4] निश्चित ही सम्पूर्णानन्द जी को इस परिभाषा मे सर्वहारा को अन्तरंगी व्याख्या समाहित हैं। जीवन जीने की विवशता के साथ घोर आर्थिक विद्रूप की पीड़ा से जीवन के हर मोड़ पर मर्माहत होनेवाला वर्ग ही सर्वहारा हैं। आधुनिक सर्वहारा के सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा हैं कि खेती बारी से दूर जीविकोपार्जन हेतु क्षुमित लोगों के पास सम्पति न थी। यह लोगों शुद्ध

---

1. समाजवाद : डॉ0 सम्पूर्णानन्द, पृष्ठ–139
2. वही, पृष्ठ–139–140
3. वही, पृष्ठ–140
4. वही, पृष्ठ–157

सर्वहारा थे। इनकी सन्तान ही आजकल कारखानों को चला रही हैं और बेकारों की संख्या बढ़ा रही है।[1]

सर्वहारा वस्तुतः वह श्रमिक वर्ग हैं जो शिवाय शरीर व मस्तिष्क के उनके पास उत्पादन का कोई दूसरा साधन नहीं हैं और कृषक वर्ग में केवल वे ही शोषित हैं। जो किसी भी अर्थ में भूमि के स्वामी न होकर जीविका के लिये दूसरों पर आश्रित है। अतः शोषित, श्रमिक और कृषक ही सर्वहारा हैं।[2] डॉ० सम्पूर्णानन्द की यह परिभाषा निश्चय ही माओत्सेतुड्य के सर्वहारा वर्गीकरण को स्वीकार करने वाली है। भारतीय परिवेश में बहुधा सर्वहारा की श्रेणी में यही लोंग आते भी हैं।

प्रख्यात साहित्यकार शलम श्री रामसिंह ने सर्वहारा (PROLETARIAT) की व्यत्पुत्ति और आधुनिक संदर्भ में परिभाषित करते हुए लिखा हैं कि सर्वहारा मार्क्सवादी समाज संहिता की मानक शब्दावली का यह आधार शब्द मूलतः ग्रीक भाषा के शब्द 'प्रोल' से बना हैं। प्रोल का अर्थ होता है, सन्तान। इस प्रकार अपने व्यापक और विश्लेषित (किन्तु अपेक्षाकृत कम परिचित अथवा एक सीमा तक विस्मृत) रूप में प्रोलेटेरियन का मतलब हुआ समाज का वह मानव (वर्ग) जिसके पास सन्तान के अतिरिक्त कोई दूसरी सम्पत्ति न हो। अर्थात सन्तान ही धन हो, जिसका वह हुआ सर्वहारा किन्तु इसे सार्थक सन्दर्भ मे जोड़ते हुए और इसकी परिभाषा को परिस्थितिगत आग्रह से जोड़ने के क्रम में इसे जो प्रचलित तथा प्रथमतः स्वीकृत परिभाषित रूप रूसी क्रांति के सूत्रधारों के द्वारा प्रदान किया गया वह था, समाज का न्यूनतम वेतन भोगी श्रमिक वर्ग। सर्वहारा का यह अर्थ सन् 1917 ई0 में सम्पन्न होने वाली रूसी क्रांति के समय तक इसी सीमा के अन्तर्गत स्वीकृत और मान्य रहा किन्तु 1949 ई0 में माओंत्सेतुड्ण्ग के नेतृत्व में परिपूर्ण होने वाली चीनी क्रांति की सफलता ने इस शब्द–(सर्वहारा) की सीमा को भूमिहीन ग्राम कृषकों से जोड़कर जो विस्तार प्रदान किया वह अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक और मानवीय होने के साथ ही साथ आधुनिकता से युक्त होने के कारण सहज रूप से ग्राह्य और विचारणीय बन गया और इसका मूल अर्थ न केवल स्थापित हुआ अपितु इस शब्द (सर्वहारा) की अर्थवत्ता अपनी व्यापकता के साथ ही साथ एक सर्व स्वीकृत सत्य के रूप में प्रतिपादित हो गई अर्थात सर्वहारा की परिभाषा प्रथमतः और अन्ततः एक और केवल यही बन पायी कि सर्वहारा वह है[3]

----

1. समाजवाद : डॉ0 सम्पूर्णानन्द, पृष्ठ–172
2. वही, पृष्ठ–340
3. शलभ श्री रामसिंह, एस0 4/ 24, बेलूर हाउसिंग इस्टेट सापुई पारा (बाली), हाबड़ा (पं0 बंगाल)

जिसके पास संतान के अतिरिक्त कोई दूसरी चल अचल सम्पति न हो। इस दृष्टि से विवेकानन्द का शूद्र और मोहनदास करमचन्द गांधी का 'हरिजन' भारतीय सर्वहारा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[1]

शलमजी ने सर्वहारा की ग्रीक व्युत्पत्ति के सन्दर्भ क्रम को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में संदर्भित कर जो व्याख्या प्रस्तुत की हैं, उसमें एक बात निर्विवाद रूप से सामने आयी कि सर्वहारा कहे जाने वर्ग के पास चल अचल सम्पति के रूप में मात्र साढ़े तीन हाथ का यह शरीर ही है। जिसके द्वारा इस संसार के हर संघर्ष से उसे जुझना पड़ता हैं। अपना कहनें के लिये और क्या हैं ही उसके पास सन्तान के रूप में इस समाज को वह मात्र हाड़ मांस से निर्मित एक शरीर हो तो दे पाता है?

आधुनिक भारतीय विचारकों ने भी सर्वहारा की परिभाषित आधुनिक संदर्भो में प्रस्तुत की हैं। रजनी पामदत्त के "आज का भारत" में नेहरू का यह कथन उद्धत हैं कि कृषीय प्रणाली अब ध्वस्त हो चुकी है और समाज का नया संगठन अवश्यम्भावी हैं। सन् 1933 ई0 में जवाहर लाल नेहरू का कथन।[2] निश्चय ही यह नया संगठन आने वाले औद्योगिक सभ्यता के परिप्रेक्ष्य मे संकेतित किया गया है। लेखक ने इसी लक्ष्य से भारतीय सर्वहारा के विषय में अपना अभिमत प्रस्तुत किया है कि जमीन से बेदखल किसान एक ऐसी स्थिति में पहुॅच गये हैं जो कृषिदास प्रथा के काफी करीब हैं या वे दिन व दिन बढ़ती हुई भूमिहीन सर्वहारा की एक सेना की शक्ल अख्तियार कर रहे हैं। यही वह प्रकिया हैं जो आने वाले तूफान की सूचना दे रही है।[3]

दूसरे शब्दों में हम कह सकतें है कि शोषित जनता ही सर्वहारा की श्रेणी में आता हैं। आर्थिक, सामजिक स्तर पर शोषित उपेक्षित वर्ग सर्वहारा हैं, जो कि मार्क्स का सर्वहारा गांधी का हरिजन तथा अम्बेड़कर का दलित चिंतन और अवधारणा हैं। सर्वहारा का शब्द मार्क्स के शब्दों में "जिनको खोने के लिए जंजीरे है, पाने के लिये सारी दुनिया से है" "मूलतः मार्क्स का चिन्तन आर्थिक से शोषित दलितों के पक्ष .का रहा हैं। मार्क्स का सर्वहारा पूँजीवादी समाज का दलित है जो आर्थिक रूप से वंचित हो उनके अनुसार सर्वहारा वर्ग का जन्म पूँजीवादी वर्ग से हुआ है। पूँजीपति और सर्वहारा समाज के बुनियादी वर्ग है। पूँजीवाद मजदूरों को उनके श्रम के फल से वंचित करता हैं। समाज में मजदूर की यह वंचित स्थिति पूँजीपतियों से लड़ने को विवश करती है।[4]

---

1. शलभ श्री राम सिंह, एस0 4/ 21, बेलूर हाउसिंग इस्टेट, सापुई पारा (बाली), हाबड़ा (पं0बंगाल)
2. आज का भारत : रजनी पामदत्त, अनुवादक – आनन्द स्वरूप वर्मा, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, पृष्ठ सं0 – 239
3. समस्त विश्व में सहयोगी कम्पनियां : पृष्ठ–239
4. दलित जन उभार : प्रकाशन – बी0 एम0 एन0 प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ – 257–258

सर्वहारा का ध्येय और कर्त्तव्य पूँजीवादी समाज को समाप्त करना और वर्गविहीन समाज का निर्माण करना है।[1]

आधुनिक पूँजीवादी समाज ने जो सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग विरोधी को खत्म नहीं किया। उसने केवल पुराने के स्थान पर नये वर्ग, उत्पीड़न की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नयी अवस्थाएं और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह नये रूप खड़े कर दिये हैं। किन्तु दूसरे युगों की तुलना में हमारे युग की पूंजीवादी युग की विशेषता यह हैं कि इसने वर्ग विरोधों को सरल बना दिया। आज पूरा समाज दो विशाल शत्रु शिविरों में एक दुसरे के खिलाफ खड़े दो विशाल वर्गो में पूँजीपति और सर्वहारा वर्गों में अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा हैं। मार्क्स कहते है "सर्वहारा उस दंडादेश को निष्पादित करता है जो निजी सम्पत्ति सर्वहारा को उत्पन्न करके अपने को सुनाती है, जिस प्रकार वह उस देश जिस प्रकार वह उस दंडादेश को भी निष्पादित करता है, जो उतरती श्रम औरों के लिए धन और अपने लिए निर्धनता उत्पन्न करके अपने को सुनाता है ।"[2]

'सर्वहारा ' को परिभाषित करते हुये मार्क्स ने कहा है कि – मजदूर अथवा सर्वहारा वर्ग उन श्रमिकों का वर्ग है जो जबतक जी सकते है जब तक की उन्हें काम मिलता रहे । यह काम उन्हें तब तक ही मिलता है, जब उनके श्रम से पूंजी बढ़ी हो । श्रमिक लोग अपने को अलग अलग बेचनें के लिये लाचार है, किसी भी अन्य व्यापारिक माल की तरह एक बिकाऊ माल है। मार्क्स ने सर्वहारा और पूंजीपति को उत्पत्ति के लिये समाज का ऐतिहासिक तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्लेषित करते हुये सिद्धान्तीकरण किया है।

प्रख्यात कथाकार जैनेन्द्र कुमार ने अपनी कथाकृति "अनामस्वामी" में एक स्थान पर सर्वहारा का विश्लेषण करते हुये 'शंकर उपाध्याय' के शब्दों को अंकित किया है कि किसान सर्वहारा के श्रेणी में नही आता। इसलिये वह क्रान्ति का साधन नहीं हो सकता वह छोटी–मोटी ममताओं में रहता है । जमीन उसे अपनी चाहिए। पर अपना क्या है ? कोई जमीन अपने पेट से बाँधकर लाया है ? बांधकर ले जायेगा ? सबका यहीं के यहीं

---

1. दलित जन उभार : प्रकाशन बी0एम0एन0 प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ–257–258
2. कम्यूनिष्ठ घोषणा पत्र : मार्क्स एंगेल्स, प्रगति प्रकाशन – मास्को हिन्दी अनुवाद सन् 1984, अनुवादक : नरेशवेदी, पृष्ठ–25

रहने को है इस लिये जमीन के चप्पे–चप्पे से लड़ने वाला किसान अन्त में प्रतिगामी सिद्ध होता है ।[1]

लेखक ने आधुनिक भारतीय सर्वहारा का उत्स औपनिवेशिक प्रणाली से उद्वृत करते हुए लिखा है कि – भारत की जनता को उसके जमीन से बेदखल कर दिया गया हालांकि इस प्रक्रिया की ओर भी जटिल कानूनी रूपों की भूल–भूलैया द्वारा अशंतः ढका गया जो आज डेढ़ सौ वर्षों के बाद एक दूसरे में उलझी प्रणालियों, काश्तकारियों, परिवारियों और अधिकारों का अभेद्य जंगल बन गयी है ।[2] यह प्रक्रिया जब और आगे बढ़ी तो किसानों का एक बढ़ता हुआ हिस्सा पिछले सौ वर्षों में ओर खासतौर से पिछले पचास वर्षों में भूमिहीन मजदूर बन गया अर्थात खेतिहर सर्वहारा का एक नया वर्ग तैयार हो गया जो आज खेती पर निर्भर एक तिहाई आबादी से बढ़कर आधी आबादी तक पहुंच गया है ।[3]

सर्वहारा की इन परिभाषाओं पर दृष्टिपात करने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज के किसी भी क्षेत्र में श्रमरत वह त्यक्तित्व जो आवश्यकीय जीवन साधनों की अप्राप्ति के कारण शोषित होता है उसे सर्वहारा की श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है । मार्क्स, एंगेल्स लेनिन और माओत्सेतुंग की परिभाषाओं की सीमायें आधुनिक युग में और अधिक विस्तृत होती जा रही है। भारत जैसे विशाल कृषि प्रधान देश का भूमि से जुड़ा एक बहुत बड़ा वर्ग यदि सर्वहारा की श्रेणी में खड़ा है तो अनिश्चित और अल्प आय वाले निम्न मध्यवर्गीय समाज का भी सर्वहारा स्वरूप बहुत स्पष्टता के साथ उभरा है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में भारतीय सर्वहारा जीवन का पारदर्शी प्रत्यांकन इस सत्य को उद्घाटित करता है कि इस देश की अधिकांश जनसंख्या निर्धनता की सीमा रेखा से जीवन यापन कर रही है और अर्थहीन स्थिति से प्रति क्रान्ति उसका जीवन दुर्वह हो उठा है। प्रबुद्ध साहित्यकारों ने मार्क्स द्वारा प्रयुक्त 'सर्वहारा' शब्द के साथ उन सभी लोगों को सम्बद्ध कर लिया है जो शोषण व्यवस्था का अभिशाप भोगते हुए विषम जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

---

1. अनाम स्वामी : जैनेन्द्र कुमार, सन् 1974 पृष्ठ–272
2. समस्त विश्व में सहयोगी कम्पनियां : पृष्ठ–242
3. आज का भारत : रजनी पामदत्त, पृष्ठ–245

(ख) मार्क्सवाद का सारभूत तत्व :

मार्क्सवाद मूलतः एक साहित्यिक आंदोलन नहीं था लेकिन सभी देशों के साहित्य पर उसका दूरगामी प्रभाव पड़ा है। साहित्य की भावधारा और शिल्प विधान को भी उसने परिवर्तित कर दिया। मानव–समाज के विकास को वैज्ञानिक दृष्टिकोंण से देखने का प्रयत्न मार्क्स ने किया था । दार्शनिकों ने केवल जगत की व्याख्या की है पर मुख्य बात है उसको बदलने की, यही उनका दृष्टिकोण था। मार्क्स का सिद्धान्त सामान्यतया द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद नाम से अभिहित होता है। द्वन्द्वात्मकता से उनका मतलब विचारों के संघर्ष और गतिशीलता से था। भौतिकवाद शब्द का प्रयोग भी सोद्देश्य था । वे पदार्थ की सर्वोपरिता को स्वीकारते है । कोई पराभौतिक शक्ति के अनुसार इस संसार की गतिविधियां संचालित होती है, यह मत उनके लिए मंजूर नहीं था । मार्क्स ने जगत के मूल में भौतिक तत्व को स्वीकार कर आत्मा, मन, मस्तिष्क तथा विचारों को भौतिक पदार्थों से उत्पन्न स्वीकार किया। वे हेगेल के भाववादी दर्शन के विरोध में उभरे फायर बाख के भौतिकवाद से काफी प्रभावित थे और अपने इतिहास दर्शन को इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा कहते थे । उन्होनें मानव समाज के इतिहास का आर्थिक और भौतिक दृष्टिकोंण से विवेचन किया है।[1]

वस्तुतः मार्क्स ने पहली बार भौतिक वाद का इस्तेमाल संगत ढंग से मनुष्य के समाज और इतिहास की व्याख्या करने के लिए किया। उन्होंने कहा कि जीवन के उत्पादन की क्रिया के दौरान कायम सामाजिक सम्बन्ध समाज की वह बुनियाद है, जिस पर राज्य, धर्म, विचारधारा और कला की इमारत खड़ी होती है । और यह कि मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व का निर्धारण उसकी चेतना नही करती, बल्कि चेतना का निर्धारण उसका सामाजिक अस्तित्व करता है । उनके दर्शन की एक प्रमुख प्रस्तावना ही थी भौतिकवादी या वैज्ञानिक ढंग से यथार्थ के आत्मपरक व्यावहारिक पहलू की खोज । इसके अलावा उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि विचार जब जनता द्वारा ग्रहण कर लिये जाते है,[2] तब भौतिक शक्ति बन जाते है । यानी, वे वस्तुगत यथार्थ के परिवर्तन में सक्रिय भूमिका निभाते है । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दूसरे प्रतिपादक और मार्क्स के सहयोगी एंगेल्स ने आज तक का सारा दर्शन भौतिकवाद और भाववाद के दो विरोधी खेमों में बॅटा रहा है । प्रकृति से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध शारीरिक श्रम के जरिए ही

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : आर० सुरेन्द्रन, पृष्ठ–25
2. परख (एक वैकल्पिक प्रस्ताव) : पत्रिकाए अक्टूबर 2001 से मार्च 2002,पृष्ठ–51

होता है । लेकिन जब मानसिक श्रम शारीरिक श्रम से अलग हो जाता है तब वह अपने को प्रकृति से भी स्वतंत्र महसूस करने लगता है । चूँकि मनुष्य द्वारा उत्पादन और सृजन के हर कर्म में चेतना और उद्देश्य की अग्रगामी भूमिका होती है, इसलिए चेतना शारीरिक श्रम के जरिए निर्मित होने का भ्रम भी पाल लेती है । कुल्हाड़ी की रूप–रेखा (मार्डेल) अगर लुहार के दिमाग में मौजूद हो, अगर वह कुल्हाड़ी का विचार बना सका हो, तभी वह कुल्हाड़ी को वस्तुगत रूप दे सकता है, वास्तविक कुल्हाड़ी का निर्माण कर सकता है । लेकिन कुल्हाड़ी चेतना के भीतर से पैदा नहीं होती लोहा चेतना से पहले ही प्रकृति में मौजूद होता है । जिसकी तलाश करके और उपयोगिता समझकर मनुष्य उसे अपने उपयोग की भिन्न वस्तुओं में डाल सकता है । वर्ग और श्रम विभाजन समाज में चेतना का भ्रम वस्तुओं के निर्माण में अपनी एक अहम भूमिका को स्थापित करने में नही है, बल्कि वस्तुओं को अपने भीतर से रचने में और इस तरह समूचे वस्तु जगत को अपनी कृति समझने में है । भौतिक पदार्थ का सिर्फ रुप बदला जा सकता है, उसका उत्पादन नही किया जा सकता।

पदार्थ और चेतना के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को उभारने और भाववाद को भ्रान्त चेतना के रूप में खारिज करने वाले मार्क्स और एंगेल्स के इस ऐतिहासिक विश्लेषण की हो अनिवार्य परिणति थी उनके द्वारा दर्शन या विश्व दृष्टिकोण के वर्ग चरित्र का उद्घाटन। उन्होंने अपने दर्शन को औद्योगिक मजदूर वर्ग या सर्वहारा का विश्व–दृष्टिकोण कहा,जो आज तक का सबसे संगठित, प्रौद्योगिकी के सबसे उन्नत औजारों से लैस और सबसे क्रान्तिकारी वर्ग है। उनके अनुसार सर्वहारा वर्ग समाजवाद और साम्यवाद की स्थापना में आम जनता को नेतृत्व देकर श्रम विभाजन के बुनियादी रूप और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर देगा और इस तरह उसके आधार पर उसमें भाववाद और धर्म जैसे भ्रान्त–चेतना के विभिन्न रूपों का अस्तित्व भी मिट जायेगा।[1]

सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का मार्क्स ने उल्लेख किया था। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे तानाशाही के समर्थक थे। शोषण से मुक्त एक समाज की सम्भावनाएं कम हो जायेंगी। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वयम् उत्पादन में लग जायेंगे। अनुत्पादन वर्ग का शोषण असंभव है। वर्ग चेतना युक्त श्रमिक वर्ग सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रांति मचाता है। तदन्तर होने वाले युग दो भागों में विभाजित रहेंगे,

---

1. परख (एक वैकल्पिक प्रस्ताव) : पत्रिका, अक्टूबर 2001 से मार्च 2002,पृष्ठ–51

समाजवादी युग और साम्यवादी युग। साम्यवादी युग में ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार वर्गो का पूरा सत्यानाश नहीं समता का सूर्योदय होगा, जिसका प्रथम चरण समाजवादी व्यवस्था है।[1] मार्क्सवाद एक प्रकार का नया और वैज्ञानिक मानववाद है जिसे राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद और सामजशास्त्र तथा इतिहास के क्षेत्र में ऐतिहासिक वस्तुवाद कहा जाता है।[2] बेवर के शब्दों में मार्क्सवाद केवल श्रमिक वर्ग ही बुलन्द आवाज नहीं है, यह वर्तमान समाज के प्रभावों तथा जटिलताओं को निश्चित रूप से समझने की वृहद प्रणाली हैं क्रांतिकारी परिस्थितियों तथा समाज से संबंधित विविध रूपों का अध्ययन करना ही इसका उद्देश्य है।[3]

मर्टिन्डेल ने सूत्र रूप में मार्क्सवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मार्कसिज्म रिप्रजेन्ट्स ए फार्म आव कान्फिलिक्ट आइडियोलाजी डवलप्ड इन दि नेम आव दि प्रोलेटेरिएट'। मार्क्सवाद, सर्वहारा के नाम पर विकसित संघर्षवादी विचारधारा के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है।[4] मार्क्स ने सामाजिक जीवन एवं मानव इतिहास की प्रत्येक घटना को वैज्ञानिक एवं क्रांतिकारी दृष्टिकोण से परखा। मार्क्स के दर्शन को विश्लेशित करते हुए जार्ज कैटेलिन ने लिखा है कि–

'दि मार्निसयन फिलासफी इज ए कोहरेन्ट होल। इट इज मारिसम बिकाज रिभोलूशनरी ऐक्शन इज बिल्ट अपानक्लास वार थियरी, दि क्लास वार अपान दि एकोनामिक थियरी आव सरप्लस वैल्यू, दिस एकोनामिक थियरी अपान दि एकोनामिक इन्टरप्रेटेशन आव हिस्ट्री, दिस इन्टरप्रेटेशन अपान दि मार्क्स–हिगेलियन लाजिक आर डाइलेक्टिक्स एण्ड दिस अपान ए मैटेरियलिटिक्स मेटाफिजिक्स।' (जार्ज कैटेलिन)।

"मार्क्सवादी दर्शन में पूर्ण क्रमबद्वता है और इस क्रमबद्वता का कारण है उसकी क्रांतिकारी प्रभावकता क्योंकि इसका आधार वर्ग संघर्ष का सिद्वान्त है। वर्ग संघर्ष का आधार अतिरिक्त मूल्य का आर्थिक सिद्वान्त आर्थिक सिद्वान्त की आधार शिला इतिहास की आर्थिक व्याख्या है जिसका आधार स्तम्भ द्वन्द्वात्मक पद्वति है और यह द्वन्द्वात्मकवाद . भौतिकवादी अध्यात्म पर आधारित है। (जार्ज कैटलिन)। मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद सतत गतिमान परिवर्तनशील और विकासमान रूप से विश्व की विवेचना करता है।[5]

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : आर0 सुरेन्द्रन, पृष्ठ–27
2. हिन्दी की प्रगतिशील कविता : डॉ0 रणजीत, पृष्ठ–31
3. राजदर्शन का स्वाध्ययन : सी0 एल0 वेवर, पृष्ठ–207
4. दि नेचर एण्ड टाइप्स आफ सोसियोलाजिकल थियरी : मार्टिन्डेल, पृष्ठ–162
5. मार्क्सवादी दर्शन : वि0 आफनास्येव, सन् 1972 ई0, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली

द्वन्द्ववाद को विश्लेषित करते हुए एंगेल्स ने लिखा है कि द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव समाज तथा चिंतन के विकास और गतिके सामान्य नियमों का विज्ञान है।[1] द्वन्द्वात्मक विकास को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने स्वीकार किया है कि विकास के लिए पूर्वरूप का निषेध जरूरी है।[2] कहने का आशय यह है कि एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुंचने के लिए आवश्यक है कि उससे पूर्व की स्थिति का निषेध किया जाय। "विरोधी तत्वों का समागम और उनका संघर्ष निषेध सिद्वान्त में कार्य करता है।[3]

मार्क्सवादी सिद्वान्त भौतिक तत्वों पर आधारित है अतः उसे वैज्ञानिक भौतिकवाद की संज्ञा से भी अभिहित किया गया। मार्क्स ने इस संसार को परिवर्तित करने के लिये समाजवादी दर्शन को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। मारिस कार्नफोर्थ ने लिखा है कि भौतिकवाद का अर्थ है ऐसा दृष्टिकोण जो भौतिक जगत की हर वस्तु की, जिसमें मानव जीवन की सभी घटनाएं शामिल है, व्याख्या स्वयं भौतिक तत्वों के आधार पर करता है।[4]

बहरहाल, द्वन्द्ववाद का सारभूत नियम अन्तर्विरोध है, जो सत्ता और अस्तित्व के परस्पर एकदम विरोधी तत्वों की एकता की व्याख्या करता है। सत्ता सिर्फ अन्तवान, सापेक्ष नहीं है। सत्ता अनन्त और निरपेक्ष भी है, मृत्यु जीवन में निहित है, और प्रवाह अविच्छिन्न भी है। गति और विराम परस्पर जुड़े है, हालांकि विराम की तुलना में गति निरपेक्ष है। इसी तरह हर वस्तु अपने अस्तित्व के लिए दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा रखती है, सापेक्ष है, लेकिन सत्ता अपने सम्पूर्ण रूप में निरपेक्ष है और उसी का हिस्सा होने के कारण हर वस्तु में निरपेक्षता का भी एक तत्व मौजूद रहता है।

प्रसिद्व भारतीय विचारक आचार्य नरेन्द्र देव ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दार्शनिक (मेथडोलाजी) है,जो हमें उन आन्तरिक नियमों का ज्ञान कराती है, जिनके अनुसार इस भौतिक जगत का विकास होता है और उनके विचारों में रूपान्तर होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दृश्य जगत् की गति मोशन के नियमों की व्याख्या करता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के सामाजिक चिन्तन का मौलिक सूत्र है। मार्क्सवाद के प्रख्यात विवेचक माओत्सेतुंग ने भी लिखा है कि मानव ज्ञान के इतिहास में विश्व के विकास के नियमों के बारें में हमेशा दो धारणायें रही है। आध्यात्मिक धारणा और द्वन्द्ववादी व्याख्या जिनसे दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण बन जाते है।[5]

---

1. ड्यूहरिंग मत खण्डन : मास्को, सन् 1959 ई0, पृष्ठ–194
2. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल : डॉ0 पारस नाथ मिश्र, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1972 ई0, पृष्ठ–25 एवं 26
3. वही, पृष्ठ–42
4. प्रगतिवादी समीक्षा : रामप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ–18
5. माओत्से तुंग की संकलित रचनाएँ, पृष्ठ–556

मार्क्स ने व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक क्षेत्र में कल्पना की उड़ानें भरने के बजाय जीवन की यथार्थ आवश्यकताओं के आधार पर सोचने के लिए विवश किया। मार्क्स के अनुसार जगत के मूल में भौतिक तत्व मैटर है। यही यह विश्व की चरम सत्ता है। मार्क्स का भूतत्व ही सबका जनक है। चेतना उसी से आविर्भूत हुई। प्रतिदिनके अनुभव का संसार ही सच्चा संसार है। आत्मा या ब्रह्म का हमारे लिए कोई महत्व नहीं है। इसके विपरीत भौतिक पदार्थ, जैसे मिट्टी, पत्थर रक्तमांस मज्जा आदि को हम प्रत्यक्ष देखते ही अनुभव करते है अतः वे हमारे लिए सत्य एवं अन्तिम है।"[1]

लेनिन ने मार्क्सवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को दो प्रमुख विशेशताओं को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इसका वर्ग स्वरूप खुलेआम ऐलान करता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सर्वहारा वर्ग की सेवा करता है। दूसरी विशेषता है इसकी व्यावहारिकता......... .. द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी ज्ञान सिद्धान्त में व्यवहार का दृष्टिकोण प्रमुख और बुनियादी दृष्टिकोण है।[2] मार्क्स के द्वन्द्वात्मक दर्शन की कुछ विशिष्ट मान्यताएं रही है जिन्हें सूत्रात्मक रूप में अंकित किया जा सकता है–

(क) वास्तविकता की जटिलता – द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रत्येक सामाजिक तथ्य को अन्य तथ्यों के संदर्भ में समझने की चेष्ठा करता है।

(ख) वास्तविकता परिवर्तनशील है–द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संसार की प्रत्येक वस्तु को परिवर्तनशील मानता है। मार्क्स के अनुसार विश्व के समस्त भौतिक पदार्थों की स्थितियों में परिवर्तन अथवा विकास द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर हो रहा है।

(ग) क्रांतिकारी परिवर्तन – द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार परिवर्तन सरल रूप में नहीं होते। परिणात्मक और गुणात्मक परिवर्तन एक दूसरे से जुड़े होते हैं और एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। परिणात्मक परिवर्तनों का स्वरूप अपेक्षाकृत मंद और अविराम होता है। मार्क्स ने लिखा है कि........केवल परिमाणात्मक भेद भी एक खास बिन्दु से आगे जाने पर गुणात्मक परिवर्तन बन जाते है।[3] परिणात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में सन्तरण भौतिक जगत के विकास का सार्वत्रिक नियम है।[4]

(घ) विरोध की प्रक्रिया– द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति और समाज में विरोध की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। मार्क्सवाद के

---

1. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल : डॉ0 पारसनाथ मिश्र, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् 1972, पृष्ठ–23
2. कार्लमार्क्स फायर बारव सम्बन्धी स्थापनाएं : बी0 आई0 लेनिन
3. मार्क्स पूँजी , खण्ड, मास्को 1959, पृष्ठ– 309
4. मार्क्सवादी दर्शन : वि0 अफनास्येव, पृष्ठ– 112

व्याख्याता माओ ने भी कहा है कि अन्तर्विरोध सभी वस्तुओं के विकास की प्रक्रिया में मौजूद रहता है और प्रत्येक वस्तु के विकास की प्रक्रिया में अन्तरविरोधों की गति आरम्भ से अन्त तक कायम रहती है।[1]

(ङ.) पदार्थ प्रमुख है– द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पदार्थ अर्थात भौतिक प्रकृति को प्रमुख मानता है। हीगल के मता अनुसार भौतिक वस्तुयें या प्रकृति आत्मा की उपज है, किन्तु मार्क्स की दृष्टि में आत्मा, मन या मस्तिष्क अथवा विचार की उत्पत्ति भैतिक पदार्थ से हुई है। मनुष्य की भौतिक परिस्थितियां ही विचार को जन्म देती है। विचार पदार्थ के सहारे विकास करता है। विश्वात्मा या निरपेक्ष विचार कुछ भी नहीं। प्रत्येक घटना का आधार भौतिक जगत है। प्रत्येक चेतना भौतिक पदार्थ के पीछे चलती है और भौतिक पदार्थ का आन्तरिक विरोध ही विचार को संचालित करता है। प्रकृति तथा जीवन वैषयिक सत्य है। उन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सामाजिक तथ्यों का भौतिक संघर्ष के आधार पर वैज्ञानिक अध्ययन करता है। मार्क्स ने ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से यह व्यक्त किया कि समाज सदा से दो विरोधी शक्तियों, वाद और प्रतिवाद का संघर्ष स्थल रहा है। सदा ही इस संघर्ष ने एक नवीन व्यवस्था सम्वाद को जन्म दिया। ये विरोधी शक्तियाँ दो विरोधी वर्गों के रूप में देखी जा सकती है। प्राचीन काल में मालिक और दास, मध्यकाल में सामन्त और किसान तथा आधुनिक युग में पूंजीपति और मजदूर वर्ग है। उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन होते ही एक वर्ग की शक्ति बढ़ जाती है और एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का जन्म होता है।[2]

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समाजवादी व्यवस्था की उद्घोषणा करता है। चूंकि सामाजिक विकास वर्ग संघर्ष के माध्यम से होता आया है अतः दासता की समाप्ति, सामन्तशाही के विनाश के उपरान्त पूँजीवाद का लुप्तीकरण अवश्यसम्भावी है और आज की स्थिति में पूँजीवाद है तो श्रम प्रतिवाद और इनके संघर्षों से एक नवीन सामाजिक व्यवस्था समाजवाद का अभ्युदय होगा, ऐसा मार्क्स ने कहा है। मार्क्सवाद संसार का बहुचर्चित अपूर्व क्रांतिकारी और महान शक्तिशाली चिंतन है। "यह

1. माओत्से तुंग की संकलित रचनाएँ : पृष्ठ– 265
2. सामाजिक विचारों का इतिहास : काम्टे से गांधी तक : ओंमप्रकाश शर्मा, पृष्ठ–261

भौतिकवादी जीवन है' जो परोक्ष चिंतन की अपेक्षा भौतिक सम्पन्नतामय स्वस्थ सामाजिक जीवन को ही अपना लक्ष्य मानता है।"[1]

सामाजिक विचारधारा के पोषक डॉ0 राम मनोहर लोहिया भारतीय समाजवादी आन्दोलन के जुझारू नेता थे। विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था के वे पक्षपाती थे और कुटीर उद्योग का विकास चाहते थे। वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मानते थे। किन्तु मार्क्सवाद के अन्ध भक्त नहीं थे। इतिहास के चाकिक सिद्वान्त में उनका विश्वास था। महात्मा गांधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सहारा लेकर जन अधिकारों की प्राप्ति चाहते थे।[2]

मार्क्सवाद में अन्याय, अत्याचार और अनैतिकता से मुकाबला करने की शक्ति है और विज्ञान पर आधारित एक ऐसी अजेय शक्ति है जिसे मानव जाति के दुश्मन पूँजीपति वर्ग की फौजी ताकत और बम की शक्ति भी नष्ट नहीं कर सकती। इसलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर चर्चा करते हुए इस युग के अन्य एक मार्क्सवादी चिंतक शिबदास घोष कहते हैं "द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद जब मजदूर किसान अपना लेंगे तो यह उनके हाथों एक इतना जबर्दस्त हथियार होगा कि जिसके मुकाबले पूँजीपतियों के तोपखाने, गोला बारूद वगैरह उनकी पूरी फौजी ताकत भी कमजोर साबित होंगे इस सिद्वान्त को जब वे मजदूर किसान और शोषित आम जनता इसे इस तरह अपनाये होंगे कि खुद हों इसे प्रयोग कर सकते तो तुरन्त उनका जीवन संबंधी दृष्टिकोण पलट जायेगा जिन्दगी के सामने आने वाले सभी कुछ को देखने का उनका दृष्टिकोण एकदम भिन्न हो जायेगा। दुनियां को पलट डालने की ताकत उनमें पैदा हो जायेगी और इसी कारण उस समय संगठन के रूप में जो ताकत कदम दर कदम आगे बढ़ती जायेगी उसका मुकाबला करने की शक्ति किसी भी पूँजीवादी राजसत्ता की फौजी ताकत के पास नहीं है।"

लेनिन के अनुसार "मार्क्स के विचारों और उपदेशों का ही नाम मार्क्सवाद है।[3] वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी के क्रांतिकारी विचारक कार्लमार्क्स ने व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं, सेक्स, रोटी, कपड़ा और मकान को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए जिन सिद्वान्तों को प्रतिपादित किया है कालान्तर में वे सिद्वान्त मार्क्सवाद के नाम से विश्व प्रसिद्ध हुए।[4]

---

1. हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चिंतनः भूमिकाः डॉ0 जनेश्वर वर्माए पृष्ठ– 5
2. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक चेंतना : कृष्ण कुमार विस्साए पृष्ठ– 104
3. मार्क्स और मार्क्सवादः लेनिनए अनुवादक बी0 पी0 सिन्हाए पृष्ठ– 6
4. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक विघटनः डॉ0 धमेन्द्रनाथ श्रीवास्तवए पृष्ठ– 66

मार्क्सवाद मात्र कार्लमार्क्स के सिद्वान्तों का संग्रह ही नहीं है अपितु समाज में उसका एक गतिशील स्वरूप रहा है। इस सम्बन्ध में 'एमिलबर्न्स' का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "जैसे–जैसे इतिहास की नई–नई तहें खुलती जाती है जैसे–जैसे मनुष्य और अनुभव युक्त होता जाता है, वैसे–वैसे मार्क्सवाद का भी अनवरत विकास किया जा रहा है तथा उसे नये–नये तथ्यों पर लागू किया जा रहा है जो अब प्रकाश में आते जा रहे है"।[1] कारणतः मार्क्सवाद के विकास की एक परम्परा दृष्टिगोचर होती है जिस ओर संकेत करते हुए डॉ0 एन0 रवीन्द्रनाथ ने लिखा है। "मार्क्स और एंगेल्स के बाद इस विकास में सबसे महत्वपूर्ण योग युश्चोव माओत्सेतुंग आदि चिंतकों ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किए है। किन्तु इस दर्शन विशेष के विकास के समस्त मूलाधार मार्क्स और एंगल्स के चिंतन में ही निहित है जिसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद दो प्रमुख आधार स्तम्भ है।[2]

मार्क्सवाद के चिंतनधाराओं में अधिनायकत्व का भी महत्वपूर्ण योगदान है। सर्वहारा अधिनायकत्व मार्क्सवाद का सारतत्व है। अधिनायकत्व अथवा सर्वहारा की अखण्ड शक्ति द्वारा सर्वहारा वर्ग पूंजीवाद का अंत तथा समाजवाद का निर्माण कर सकता है सर्वहारा एकाधिपत्य एक क्रांतिकारी शक्ति है जिसका आधार पूंजीपतियों के विरूद्व बल का प्रयोग है।[3]

सर्वहारा अधिनायकत्व के तीन पहलू है। जोर जबरदस्ती का पहलू सर्वहारा अधिनायकत्व का पहला पहलू है। रचनात्मक पहलू दूसरा आधार पहलू है और शैक्षणिक इसका तीसरा पहलू है।[4]

वस्तुतः देखा जाय तो सर्वहारा क्रांति द्वारा अन्तर्विरोधों का समाधान किया जा सकता है। सर्वहारा सार्वजनिक सत्ता पर अधिकार कर लेता है, और उसके द्वारा उन समाजीकृत उत्पादन साधनों की, जो बुर्जुआजी के हाथों खिसकने लगे है, सार्वजनिक संपत्ति में बदल देता है। उत्पादन का विकास समाज के विभिन्न वर्गों के अस्तित्व को कालातीत बना देता है। जैसे–जैसे सामाजिक उत्पादन से अराजकता गायब होती जाती है, वैसे–वैसे राज्य का राजनीतिक प्रभुत्व भी समाप्त होता जाता है। मनुष्य अन्ततः सामाजिक संगठन के अपने रूप का स्वामी बन जाता है, इसके साथ ही वह प्रकृति का शासक और स्वयं अपना स्वामी बन जाता है–स्वतंत्र हो जाता है।[5]

....

1. एमिल बर्न्स मार्क्सवाद क्या है : ओमप्रकाश संगल, पृष्ठ– 5
2. मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास : एन0 रविन्द्रनाथ, पृष्ठ– 17
3. स्टालिन – लेनिनवाद का मूल सिद्धान्त, पृष्ठ 39
4. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक चेतना : कृष्ण कुमार विस्सा, पृष्ठ 104
5. सर्वहारा अधिनायकत्व : मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, प्रगति प्रकाशन मास्को,सन् 1985 ई0 पृष्ठ–73

मार्क्सवाद विश्व की कम्यूनिस्ट पार्टियों का वह घोषित सिद्वान्त है, जिसके आधार पर वह अपनी राजनीति, आर्थिक व सांस्कृतिक योजनाओं को निर्मित कर सर्वहारा क्रांति की सफलता के उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।[1] डा0 राम किशन सैनी के अनुसार–"मार्क्सवादी चितंन एक राजनीति अथवा श्रमिक क्रांति का कार्यक्रम मात्र नहीं है अपितु यह एक सर्वव्यापी जीवन दृष्टि है।"[2]

मार्क्स ने श्रम की महत्ता पर विशेष बल देते हुए कहा कि जो अलगाव श्रमिक वर्ग के लिए एक क्रिया है वही शासक वर्ग के लिए जीवन की अवस्था होता है। वस्तुतः कर्म की परतंत्रता सारे मानव संसार की परतंत्रता है। पूंजीवादी समाज में अलगाव ओर अजनबीपन सार्वभौव हो गया है। मार्क्स यह जरूर मानते थे कि मनुष्य परम स्वतंत्र नहीं है और हर पीढ़ी अपने से पहले की पीढ़ी से प्राप्त सामाजिक, आर्थिक, राजनीति, धार्मिक, सांस्कृतिक ढांचे के आधार पर ही काम शुरू करती है और उसमें कुछ और जोड़ती है। वस्तुतः मानवता का इतिहास श्रम, तकनीक और सामाजिक सम्बन्धों के निरन्तर विकास का इतिहास है।

श्रम की महत्ता का प्रतिपादन लेनिन के शब्दों में "जो काम नहीं करते उन्हें अगर मताधिकार से वंचित कर दिया जाय तो सच्ची समानता होगी। जो काम नहीं करे वे खाये भी नहीं।"[3]

"मनुष्य को श्रम करना चाहिए ताकि वह जीवित रह सके" ट्राटस्की का नारा था।[4] सर्वहारा वर्ग तभी उन्नति कर सकता है जब श्रम द्वारा धन अर्जित करके रोटी, कपड़ा और मकान जैसे आवश्यक चीजों को अपने जीवन में साकार करें। जबकि मार्क्सवाद ने व्यक्ति के अलावा समाज को महत्व दिया है। मार्क्स ने दुनिया को बदलने का आह्वान किया। उन्होंने श्रम के द्वारा वाह्य और आन्तरिक प्रकृति को बदलने और अनिवार्यताओं पर काबू पाने में ही स्वतंत्रता देखी थी। दृष्टि में वे कर्म और जीवन से मुक्ति नहीं बल्कि कर्म और जीवन से मुक्ति चाहते थे।

मार्क्स ने कर्म को जीवन का सार माना भौतिकवादी दृष्टि के अनुसार जीवन के लिए उत्पादन का कर्म ही सारे मानवीय क्रिया कलाप का प्राथमिक और बुनियादी रूप था। यह शारीरिक श्रम था और अपने मूल रूप में श्रम विभाजन से पहले मानसिक श्रम इसे अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। श्रम प्रक्रिया ही मनुष्य को अन्य पशुओं से अलग करती है, क्योंकि घोंसला या छत्ता बनाने जैसे जटिल कर्म भी पशु सहज प्रवृत्ति के

....

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ0 हरिकृष्ण पुरोहित, पृष्ठ–278
2. आधुनिक हिन्दी महाकाव्य में पाश्चात्य चिंतन : डॉ0 रामकिशन सैनी, पृष्ठ– 62
3. लेनिन– सोवियत सत्ता क्या है : प्रगति प्रकाशन मास्को, संस्करण सन् 1967ई0, पृष्ठ– 26
4. "मैन मस्ट वर्क इन आर्डर नाट टू डाई" : एन्डर्सन थोरटन मास्टर रुसियन मार्क्सिज्मः पृष्ठ–128

आधार पर करते है, जबकि मनुष्य का सारा रचना कर्म एक निश्चित अवधारणा और योजना की मांग करता है उत्पादन कर्म के जरिए मनुष्य ने सिर्फ बाह्य प्रकृति को बदल दिया है, जैसे जंगलों की जगह खेत और मिट्टी से मकान बना दिये है, बल्कि आन्तरिक प्रकृति को भी बदल दिया है श्रम ही मनुष्य का जीवन है और उसकी स्वतंत्रता की आधारशिला है। आज की स्थिति में पूँजीवाद है तो श्रम प्रतिवाद और इनके संघर्षों से एक नवीन सामाजिक व्यवस्था, समाजवाद का अभ्युदय होगा, ऐसा मार्क्स ने कहा है।

मार्क्सवादी विचार धारा का आर्विभाव पश्चिमी विश्व में हुआ। आरम्भ में मार्क्सवादी विचारधारा यूरोप के पश्चिमी देशों तक सीमित थी परन्तु सोवियत संघ की स्थापना विश्व इतिहास की एक ऐसी घटना थी जिसने समस्त संसार को मार्क्सवाद की ओर आकर्षित किया।[1] कला के क्षेत्र में मार्क्सवाद की कितनी भी कमजोरियां क्यों न हों, यह बात अवश्य मानना पड़ता है कि साहित्य को इसने जनवादी बना दिया है।[2] साहित्य को मार्क्सवाद एक प्रकार से "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" की दृष्टि से देखता है।

मार्क्सवादी चिंतन की प्रवृत्तियों में मुख्यतया क्रांति मंत चेतना, शोषित दलितों के प्रति सहानुभूति, वर्ग वैशम्य और वर्ग संघर्ष की प्रवृत्ति, शोषण के विरूद्व हिंसा की अभिस्वीकृति, उपनिवेशवादी विरोध, कला जीवन के लिए सिद्वान्त का समर्थन, जनशक्ति में आस्था, श्रम की महत्ता का प्रतिपादन, समवितरण का सिद्वान्त एवं राजसत्ता का लोप एवं आदर्श साम्यवादी की परिकल्पना सभी गुण विद्यमान है। मार्क्सवाद की मूलमूत यही चिन्तन धारा जब हमारे देश में स्वीकृति हुई तो उसमें यहां की स्थिति के अनुकूल कुछ भी परिवर्तन न कर ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया परिणाम यह हुआ कि जो स्थितियां यूरोपीय मार्क्सवादी देशों के समान थी उनके साथ तो ये मेल खाई किन्तु कुछ स्थितियां जो उनसे भिन्न थीं उनके लिये यह विचारधारा अनुकूल नहीं पड़ीं। फिर भी उसका समाजवादी दृष्टिकोण सर्वग्राह्य सिद्व हुआ। यही कारण है कि हमारे देश के गणतंत्र शासन का वही मूल आधार बना, जिसे स्वतंत्रता पूर्व हमारे देश के क्रांतिकारियों ने अपना एक मात्र उद्देश्य घोषित किया था।

मार्क्सवादी दर्शन का मूल उद्देश्य वर्गहीन समाज की प्रतिस्थापना है, जिसमें जाति–पाति, धर्म, श्रेणी आदि मनुष्य के विकास में बाधक नहीं हो। व्यक्ति की कार्यक्षमता ही उसके स्तर का मापदण्ड हो। धर्म के स्थान पर कर्म की प्रधानता है।

---

1. हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, भूमिका : डॉ0 जनेश्वर वर्मा, पृष्ठ– 6
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, आर0 सुरेन्द्रन, पृष्ठ–28

शोषक और शोषित नाम के वर्गो का उन्मूलन कर वह समानता के स्तर पर सामाजिक नियमों को स्वीकार करता है। देश का उपार्जन श्रम और पूंजी की समान महत्ता के द्वारा सबके उपयोग की वस्तु है। इस प्रकार इस विचार धारा के अनुसार हर व्यक्ति को आगे बढ़ने का समाज अधिकार है और कोई व्यक्ति किसी की उन्नति में बाँधक नहीं बन सकता।

समानता के स्तर पर उन्नति करने तथा देश और समाज को सामूहिक रूप से आगे बढ़ने का हर व्यक्ति को अधिकार है। अब तो हमारे देश में स्थिति ऐसी है कि अन्य दलों ने भी इस विचारधारा की अनुकूलता को स्वीकार कर लिया है और कई विचारों में मेल और साम्यता भी दृष्टिगोचर होता है। चिन्तन धारा समसामयिकता को लेकर अभी मत–मतान्तर है।

(ग) वर्ग की अवधारणा

मार्क्स ने वर्गों की सर्वांगीण व्याख्या का दिग्दर्शन किया है। सर्वहारा के साथ जुड़े इस शब्द पर भी विचार मंथन आवश्यक है। मानव समाज की कल्पना के साथ ही हमारे मन में वर्गो का स्वरूप स्वतः जागृत हो जाता है। 5 मार्च, सन् 1852 ई0 को जे0 बेडेमेयर को एकपत्र में उन्होंने लिखा है कि............वर्गों का अस्तित्व केवल उत्पादन के विकास की विशेष ऐतिहासिक अवस्थाओं के साथ जुड़ा हुआ है, कि वर्ग संघर्ष का अनिवार्य फल सर्वहारा का अधिनायकत्व है, कि स्वयं यह अधिनायकत्व सभी वर्गों की समाप्ति और वर्ग विहीन समाज की स्थापना का संक्रमण काल है।

लेनिन ने सामाजिक आर्थिक ढांचों के भीतर वर्गों पर विचार करते हुए लिखा है कि "आदिम समाज में वैसे स्थाई समूह नहीं होते थे, जिनकी सामाजिक स्थितियां भिन्न मूलक हो। यह समाज एक वर्ग विहीन समाज था। पर दास मूलक समाज और सामन्ती समाज के अन्तर्गत पूरी सामाजिक व्यवस्था मूलतः बदल गयी। ऐसे समूह पैदा हुए जिनकी सामाजिक स्थिति इतनी भिन्नता पूर्ण थी कि वे वर्ग बन गये। विकसित समाज में धनी और निर्धन की स्थितियां स्पष्ट हुई, धनिकों के द्वारा दास प्रथा का प्रचलन हुआ। दास मलूक समाज ने पर्याप्त प्रगति की । दास स्वामियों द्वारा अधिक धन संग्रह के कारण विलासिता के विस्तार के फलस्वरूप हस्तशिल्प का पर्याप्त विस्तार हुआ। दास मलूक समाज में हस्तशिल्पियों और स्वतंत्र उत्पादकों का एक वर्ग बन गया। धीरे–धीरे सम्पत्तिवान शिल्पियों ने सम्पत्ति हीन शिल्पियों को भाड़े पर नौकर रखकर काम के

लिये मजदूरी यानि वेतन देने लगे। किन्तु सोलहवीं शती तक इनका कोई वर्ग निर्मित नहीं हो सका।

समाज शास्त्रियों में मैकाइवर तथा पेज ने 'वर्ग' की परिभाषा करते हुए कहा है, " किसी वर्ग का ऐसे श्रेणी अथवा प्रकार से है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह आते हों ।"[1]

जिन्सवर्ग के अनुसार " वर्ग की संकल्पना दलों के सामाजिक भेद पर आधारित है । जिन्सवर्ग ने वर्गो के कार्यों का विवेचन करते हुए अन्यत्र लिखा है, " एक वर्ग के अन्तर्गत ऐसे सदस्य होते है जो एक ही वंश से उत्पन्न हो एक से धन्धों में लगे हो, जिनकी शिक्षा समान हो, जोधन की दृष्टि से समान स्तर रखते हो और जिनके जीवन निर्वाह का ढंग भी एक सा हो । ऐसे सभी सदस्यों के विचार, भावनाएं, प्रवृत्तियां और व्यवहार समान होते है।[2]

रूसी राज्य क्रांति के प्रणेता एवं महान विचारक लेनिन के अनुसार "वर्ग व्यक्तियों के बड़े–बड़े दल होते हैं । ये दल एक दूसरे से भिन्न होते हैं जिनकी भिन्नता का आधार व्यक्ति की सामाजिक उत्पादन पदति के अनुसार निर्धारित किया जाता है। इस अन्तर को उत्पादन के साधनों (जिन्हें अधिकांश वर्गों में कानून द्वारा निर्मित किया जाता है) से ज्ञात कर सकते हैं । यह अन्तर कुछ तो श्रम जीवियों के संगठन के कार्यों पर आधारित होता है और कुछ सामाजिक धन के अर्जित करने के उपायों से भी ज्ञात किया जा सकता है ।[3]

आधुनिक युग में वर्ग की भावना को एक विशिष्ट सामाजिक प्रक्रिया का रूप देने का श्रेय महान चिंतक एवं विचारक कार्ल मार्क्स को जाता है। मार्क्स के अनुसार आदिम समाज में वर्ग भावना या श्रेणी भेद नहीं था, क्योंकि उत्पादन इतना कम होता था कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही कर सकते थे, बचाना उनके लिए असम्भव बात थी । "व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना, जैसे–जैसे प्राणियों में बढ़ती गई वैसे ही वर्गों की भावना भी समाज में बढ़ती गयी सामूहिक हितों की रक्षा के लिए वर्ग संघर्ष प्रारम्भ हुआ । वर्ग संघर्ष की इस मूल भावना को शाश्वत मानकर कार्ल मार्क्स ने कहा है, "अभी तक घटित समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है । "

वर्ग जनित मूल्यों के सृजन में भूमि, पूंजी एवं श्रम तीन निर्माणकारी तत्त्व मुख्यतः स्वीकार किये जा सकते है । ये ही वर्ग व्यवस्था के आधार बिन्दु हैं । उच्च

---

1. सोसाइटी : आर0 एम0 मैकाइवर तथा सी0 एच0 पेज, मैकमिलन कम्पनी लिमिटेड, लन्दन संस्करण 1957, पृष्ठ–348
2. इन्साइक्लोपीडिया आफ दि सोशल साइन्सेज भाग – तीन तथा चार, पृष्ठ –531
3. फन्डामेन्टल्स आफ मार्क्सिज्म लेनिनिज्म मैन्युल फारेन लैग्युजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, संस्करण 1963

और निम्न या धनी और गरीब वर्गों के निर्धारण में इन्हीं तत्वों का योग रहता है । कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने वर्ग–संघर्ष को युगानुकूल व्याख्याकर वर्ग भावना के युग सापेक्ष मूल्यों की प्रतिष्ठा की है । आधुनिक युग में वर्ग जनित मूल्यों के केन्द्र में यही विचारधारा प्रधान है इस विचारधारा का प्रादुर्भाव सन् 1848 ई0 में मार्क्स एवं एंगेल्स के साम्यवादी घोषणा पत्र के साथ ही होता है ।

आदिम पूंजी संचय की अवधि में पहुंचने पर ही जब उत्पादन के साधनों से वंचित होकर आम लघु उत्पादक भी उनकी कतारों में जा मिले, ये मजदूर उनके साथ मिलकर एक नया वर्ग सर्वहारा वर्ग बने । इसके साथ–साथ उनके मास्टर शिल्पी भी सौदागरों और सूदखोरों की कतारों में जा मिले और उन्होंने एक साथ मिलकर पूंजीपति वर्ग का गठन किया ।[1] फलतः कभी–कभी सामन्तवाद के विरूद्ध उत्पीड़ितों का यह आन्दोलन लोक युद्ध का स्वरुप ग्रहण कर लेता था । सामंती समाज में यह संघर्ष सामंतवादी व्यवस्था की स्थापना होते ही शुरू हो गये क्योंकि सामुदायिक जीवन व्यतीत करने वाले किसानों ने शुरू से ही भू–दासता का, जमीन से वंचित किये जाने का और हर प्रकार से सामंती करों का विरोध किया ।[2] फ्रांस में जकीर आन्दोलन, इंग्लैण्ड में वाटर टायलर विद्रोह, जर्मनी में टामस मुन्तजेर के नेतृत्व में किसान युद्ध और रूस में युगाचेव के नेतृत्व में किसान युद्ध इन लोक युद्धों के उदाहरण हैं ।

पूँजीवादी समाज का दूसरा प्रधानवर्ग होता है सर्वहारा, जो पूँजीपति वर्ग का विरोधी होता है .... और साथ–साथ उसके अस्तित्व के लिये आवश्यक शर्त भी होता है जो उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से तथा उन्हें हासिल करने के सुअवसर से वंचित होते है । पूंजीपति वर्ग अधिकांशतः आर्थिक जोर जबर्दस्ती के सहारे सर्वहारा का शोषण करता है । वर्ग के रूप में सर्वहारा के पास उत्पादन के अपने साधन नहीं होते और वह अपना श्रम बेचकर जीविका अर्जित करने के लिये पूंजीपति के यहां काम करने को विवश होता है । जैसा कि मार्क्स ने कहा है, कि यह परिस्थिति सर्वहारा को पूंजीपति वर्ग के साथ उससे भी अधिक मजबूती से बांध देती है जितनी मजबूती हैफेस्टस ने जंजीर से प्रोमीथियस को चट्टान के साथ बांध दिया था ।[3] जिलास ने वर्गों की अवस्थिति पर प्रकाश डालते हुए अपनी पुस्तक 'द न्यू क्लास' में बताया है कि ....

---

1. ऐतिहासिक भौतिकवाद : एम0 सिदोरोव, पृष्ठ–47
2. ऐतिहासिक भौतिकवाद क्या है? एम0 सिदोरोव, पृष्ठ–47
3. वही, पृष्ठ– 48

.... पुराने वर्ग तो समाप्त हुए, किन्तु नये वर्गों का निर्माण हुआ है । ये नये वर्ग है शासक और शासित ।[1]

आर्थिक हितों की समानता के कारण संगठित व्यक्ति समूह को वर्ग कहा जा सकता है । वर्गों की उत्पति पर प्रकाश डालने वाली उपरिलिखित पंक्तियों में संकेत किया गया है कि वर्ग का आविर्भाव सभ्यता के प्रथम चरण में या आदिम व्यवस्था में नही था विकास क्रम के साथ–साथ यह बढ़ता गया । सोवियत भारत विद्याविदों ने भारतीय सामन्तवाद को उत्पत्ति तथा विकास के चरणों का निरूपण किया है । प्रो0 आसिपोव ने अपने निबन्ध में भारत में वर्ग समाज का आविर्भाव काल पहली सहस्राब्दि ईसापूर्व निर्धारित किया है ।[2] (भारतीय इतिहास का 10वीं शताब्दी तक एक संक्षिप्त सर्वेक्षण)

मार्क्स ने वर्गों के निर्माण का कारण भौतिक विभाजन माना है । मार्क्स के वर्ग आर्थिक वर्ग है जो उत्पादन की प्रक्रिया के आधार पर विकसित होते हैं ।

वस्तुओं के वितरण का अन्तर ही वर्गभेद का कारण है । एक वर्ग तो वह होता है जो उत्पादन के समस्त साधनों का स्वामी होता है और आर्थिक दृष्टि से धनी सामाजिक, दृष्टि से शोषण कर्ता ओर राजनैतिक दृष्टि से शासक होता है । दूसरा वर्ग वह होता है जो अपनी शारीरिक मेहनत से उत्पादन कार्य करता है और स्वामी की कृपा के सहारे या मजदूरी के सहारे जीवित रहता है । आर्थिक दृष्टि से यह वर्ग निर्धन सामाजिक दृष्टि से शोषित और राजनीतिक दृष्टि से शासित होता है ।[3]

मार्क्स ने विशुद्ध आर्थिक वर्गों को ही वास्तविक सामाजिक वर्ग मानते हुए तीन प्रकार के वर्गों का उल्लेख किया है :– जो सारणी द्वारा दर्शाया गया है ।

वर्ग →	मजदूर	पूंजीपति	जमींदार
शक्ति →	श्रम	धन्यपूंजी	भूमि
आय का साधन →	वेतन या मजदूरी	लाभ	लगान

मार्क्स ने आधुनिक युग में विद्यमान अनेकों वर्गों के होते हुए भी मूलतः दो ही प्रकार के प्रमुख वर्ग माने है । ये वर्ग हैं पूंजीपति और श्रमिक । चाहे भूमि पूंजी के रूप में हो और चाहे मशीनों और दुकानों

1. दि न्यू क्लासेज : जिलास
2. सोवियत संघ में भारत का अध्ययन : उपलब्धियाँ और प्रगति के चरण, संस्करण–1976, पृष्ठ–23
3. सामाजिक विचारों का इतिहास : काम्टे से गाँधी तक : ओम प्रकाश वर्मा, पृष्ठ–273

के रूप में, श्रम चाहे शरीर का हो या मस्तिष्क का, इन्हीं दो वर्गों में सम्बन्धित है ।

मार्क्स के अनुसार सामाजिक वर्ग आर्थिक भेद पर आधारित हैं किन्तु मैकाइवर और पेंज ने इस मान्यता को खण्डित करते हुए वर्ग को केवल आर्थिक भेद पर ही आधारित माना है । रावर्ट बीरस्टीड ने वर्ग निर्धारण में (1) समपत्ति धन, पूंजी अथवा आय (2) परिवार या रक्त समूह (3) निवास का स्थान (4) निवास की अवधि (5) पेशा (6) शिक्षा (7) धर्म इत्यादि को वर्ग निर्माण में सहायक माना है । आर्थिक तत्त्व वर्ग के बनने में सहायक हो सकता है किन्तु इसे मूलभूत कारण के रूप में स्वीकारा नही जा सकता ।

(घ) वर्ग संघर्ष की दृष्टियाँः

मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में लिखा अभी तक आविर्भूत समस्त समाजों का इतिहास (सिवा आदिम समुदाय के इतिहास के यह बाद में एंगेल्स ने जोड़ा) "वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है। स्वंतत्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामंत और भूदास, शिल्पसंघ का उस्तादकारीगर और मजदूर कारीगर संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित बराबर एक दूसरे का विरोध करते आये है।.................आज पूरा समाज दो विशाल शत्रु शिविरों में, एक दूसरे के खिलाफ खड़े दो विशाल वर्गों में बुर्जुआ और सर्वहारा वर्गों में अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा है।[1] "बुर्जुआ वर्ग के मुकाबले आज जितने भी वर्ग खड़े है उन सब में सर्वहारा ही वास्तव में क्रांतिकारी वर्ग है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग के साथ ह्रासोन्मुख होकर अन्ततः विलुप्त हो जाते है, सर्वहारा वर्ग ही उसकी मौलिक और विशिष्ट उपज है।

वर्ग–संघर्ष के एक रूप की दूसरे रूप के साथ अदला बदली परिस्थितियों में परिवर्तन, विभिन्न वर्गों के हितों के टकराव की तीक्ष्णता की मात्रा, प्रत्येक वर्ग के विकास पर निर्भर करती है। वर्ग संघर्ष के रूप वर्गगत संगठन के रूपों से सम्बंधित होते है जिसे सर्वहारा के वर्ग संघर्ष में विशेष स्पष्टता के साथ देखा जाता है। पूंजीवाद

---

1. लेनिन मार्क्स एंगेल्स लेनिन प्रगति प्रकाशन संस्करण 1989, पृष्ठ–19

के विरूद्व सर्वहारा वर्ग तीन प्रमुख रूपों में संघर्ष चलाता है ये रूप है: आर्थिक, राजनैतिक तथा विचारधारात्मक।

सर्वप्रथम आर्थिक संघर्ष में ही सर्वहारा के पहले संगठन याने ट्रेड यूनियनों ने जन्म लिया जो उनके लिए वर्ग संघर्ष के विद्यालय बन गये। आर्थिक दृष्टि से देखा जाय तो संघर्ष केवल सर्वहारा के दरिद्रीकरण की प्रक्रिया को नहीं रोकता, अपितु इसमें भी निहित है कि वह अधिक व्यापक क्रांतिकारी कार्यभारों के समाधान के लिए सर्वहारा को संगठित करने में भी योग देता है।[1]

राजनीतिक संघर्ष सर्वहारा के वर्ग–संघर्ष का सर्वोच्च रूप है, जो मजदूर वर्ग अपने मुख्य लक्ष्यों की सिद्वि के लिए बुर्जुआ वर्ग के विरुद्व करता है ये लक्ष्य है: सामाजिक स्वतंत्रता, पूंजीवादी शोषण प्रणाली का उन्मूलन, जनवादी अधिकारों और आजादियों की प्राप्ति शांति तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति। राजनीतिक संघर्ष सर्वहारा वर्ग के बुनियादी हितों के हेतु संघर्ष का द्योतक है। सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक संघर्ष का मुख्य कार्यभार है पूंजीपतियों के वर्ग की सत्ता को उलटना तथा अपनी सत्ता की स्थापना करना।[2] आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष के साथ–साथ विचार–धारात्मक संघर्ष भी सर्वहारा वर्ग संघर्ष का अत्यंत महत्वपूर्ण रूप है।

विचारधारात्मक संघर्ष का, जो मजदूर वर्ग और समाजवादी शक्तियों द्वारा, अंतर्य निम्नलिखित बातों में निहित है:– सामाजिक विकास के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार करना, साम्यवाद तथा पूंजीवाद के शोषणकारी स्वरूप को बेनकाब करना वैरभावपूर्ण वर्गगत विरचनाओं का ऐतिहासिक रूप से अवश्यभावी अवसान सिद्व करना। उत्पीड़न तथा पूँजीवाद के विरूद्व सबसे अड़िग योद्वा के रूप में जो समस्त मेहनतकशों और शोषक जनसाधारण के क्रांतिकारी संघर्ष का अगुवा है, मजदूर वर्ग की ऐतिहासिकता भूमिका उजागर करना[3] मजदूर वर्ग की वैज्ञानिक विचारधारा तथा दृष्टिकोण–मार्क्सवाद–लेनिनवाद की अभिपुष्टि करना। ये है सर्वहारा के वर्ग–संघर्ष के आथिंक, राजनीतिक तथा विचार धारात्मक रूपों का सार, उद्देश्य तथा अन्तर्वस्तु।[4]

कम्यूनिष्ट घोषणा पत्र का यह वाक्य कि "हिदरटू एम्री फार्म आफ सोसाइटी हैज बीन वेस्ट आन दि एन्टागोनिज्म आव अप्रेसिंग एण्ड एप्रेस्ड क्लासेज"[5] आज तक प्रत्येक

---

1. वर्ग और वर्ग संघर्ष क्या है : अन्तोमीना येर्माकोवा वालेन्तीन रात्नि कोव, पृष्ठ–136
2. वही, पृष्ठ–138
3. वही, पृष्ठ–141
4. वही, पृष्ठ–142
5. कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो : मार्क्स एण्ड एंगेल्स

समाज शोषक तथा शोषित वर्गों के विरोध पर आधारित रहा है। यही मार्क्स के वर्ग–संघर्ष का मूलाधार है। असमान वितरण द्वारा सम्पत्तिवान वर्ग सम्पत्ति पर एकाधिकार स्थापित करने लगता है फलतः सम्पत्तिहीनों में विरोध का उदय होने लगता है। दोनों वर्गों के हितों में विरोध होने के कारण संघर्ष से पूर्व विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक वर्ग विरोध तब तक वर्ग संघर्ष में परिणत न ही हो जाता जब तक शोषित वर्ग अधिकारों और आवश्यकताओं के प्रति जागरूक होकर क्रांति का आधार नहीं तैयार कर लेता। मार्क्स के विचार से वर्ग संघर्ष मानव समाज में प्रचलित अनिवार्य सिद्वान्त है ''फण्डामेन्टलस आव मार्क्सिज्म लेनिनिज्म'' में मार्क्स ने कहा है कि ''क्लास स्ट्रगल ऐज दि ड्राइविंग फोर्स आव दि डवलपमेन्ट आव ऐन एक्सप्लवायटिंग सोसाइटी।''

''वर्ग संघर्ष के सिद्वान्त के प्रतिपादन का श्रेय कार्लमार्क्स और फ्रेडरिक ऐंगिल्स को है और इनमें से भी प्रमुख रूप से कार्ल मार्क्स को। इन दोनों लेखकों ने सन् 1859 ई0 में दास कैपिटल के अन्तर्गत कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में उस सिद्वान्त का उल्लेख किया था।[1] मैकाइवर के अनुसार ''किसी वर्ग का अर्थ ऐसी श्रेणी अथवा प्रकार से है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति या व्यक्ति समूह आते है'।[2]

लेनिन के अनुसार वर्ग वह चीज है जो समाज के एक भाग को श्रम को हड़प लेने का अधिकार बनाती है यदि समाज का एक भाग सारी भूमि हड़प लेता है तो समाज में दो वर्ग जमींदार और किसान बन जाते है। यदि समाज का एक तमाम मिलों कारखानों शेयरों और पूँजी पर अधिकार कर लेता है और दूसरा भाग इन कारखानों में मजदूरी करता है तो समाज में दो वर्ग पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग बन जाते है।[3]

''समाजवादी क्रांति का सम्बन्ध है मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्वान्त का यही आशय निकलता है कि सर्वहारा वर्ग शासक वर्ग के रूप में सुसंगठित होकर राज्यसत्ता पर अपना एक–छत्र अधिकार जमा लें''।[4]

मानव जाति के विकास का इतिहास वर्गों तथा वर्ग–संघर्ष के अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है। अमीरों और गरीबों, शोषकों और शोषितों की विद्यमानता तथा उनके बीच निरन्तर संघर्ष यह एक ऐतिहासिक तथ्य है जो दीर्घकाल तक नाना शताब्दियों के दौरान सामाजिक प्रगति की अभिन्न अभिलाक्षणिकता बना रहा। ''कार्ल मार्क्स की धारणा

---

1. इन्साइक्लोपीडिया आफ दी सोशल साइन्सेज : पृष्ठ–538
2. आर0 एम0 मैकाइवर तथा सी0 एच0 पेज, सोसाइटी, पृष्ठ–348
3. लेनिन समाजवादी विचारधारा और संस्कृति, प्रगति प्रकाशन, मास्को पृष्ठ–51
4. दि क्लास स्ट्रगल नेसेस्ट्री लीड्स टू द डिक्टेटरशीप आफ दि प्रोबेटेरिएट....लैटर फार्म : मार्क्स टू जोसेफ वे डेमी इअर, मार्च 5,1852
5. समाजवाद : डॉ0 धर्म नारायण मिश्र, पृष्ठ–73

थी कि पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग में वर्ग–संघर्ष अनिवार्य है तथा अन्त में पूँजीवाद का विनाश और सर्वहारा वर्ग की विजय निश्चित है।"[5]

मानव जीवन अपने आरम्भ में किसी प्रकार के भेदभाव से अनजान आदिम सामंजस्य की अवस्था में था, आगे चलकर सभ्यता के विकास क्रम में यह सामंजस्य टूटा और वर्ग भेद तथा लिंग भेद की उत्पत्ति हुई, जिसमें अन्य अनेक प्रकार की विषमताओं का जाल बिछा। सुषुप्त से जाग्रत की यह यात्रा अनेक द्वन्द्वों और तनावों से भरी हुई थी और इसमें प्रकृति से जुझते हुए मनुष्य ने अपने लिए स्वतंत्रता, समृद्धि और सुख हासिल किया।

प्रारम्भिक काल में मालिकों और दासों के मध्य संघर्ष हुआ जिसके परिणामस्वरूप उदास प्रथा का अन्त हुआ। वर्ग भेद चलता रहा और सामंतवादी युग में विरोध की चरम सीमा सामन्तों और भूमिहीन किसानों के हिंसात्मक संघर्ष के रूप में उपस्थित रही। दमन के फलस्वरूप वर्ग संघर्ष दब अवश्य गया किन्तु वर्ग भेद समाप्त न होने से सामन्तों के प्रतिस्थानापन्न पूंजीपतियों और उद्योगपतियों तथा दासों और किसानों के प्रतिस्थानापन्न सर्वहारा श्रमिकों के मध्य आज भी वर्ग संघर्ष समाप्त न हो सका। आज का यह संघर्ष बुर्जुआ और सर्वहारा के वर्गों के बीच है। मार्क्स का कथन है कि जब तक वर्ग रहेंगे तब तक संघर्ष रहेगा । अतः वर्गों की समाप्ति की मानव संघर्ष की समाप्ति है। लेनिन ने भी समाज के विकास को वर्ग संघर्ष के रूप में देखा है और इसे द्वन्द्ववाद का सार "साल्ट आव डाइलेक्टिकलिज्म" कहा है।

सर्वहारा का वर्ग संघर्ष अनेक रूपों में प्रस्फूटित होता है यथा–आर्थिक सैद्धान्तिक और राजनैतिक। जिसकी अंतिम परणति राजनैतिक जागरूकता है और इसका समापन क्रांति में होता है।

आधुनिक भारतीय विचारकों ने भी वर्ग संघर्ष पर अपना अभिमत प्रस्तुत किया है। डॉ0 सम्पूर्णानन्द जी के अनुसार प्रतिस्पर्धा के कारण ही व्यक्तियों और मनुष्यों समूहों के जीवन बनते बिगड़ते रहते हैं। इस प्रतिस्पर्धा का नाम ही वर्ग संघर्ष या वर्ग युद्ध है।

अनादिकाल का न होने पर भी यह पुराना है। सभ्य समाज के जन्म से भी जिसमें कुल लोगों के हाथ में भूमि व पूँजी पर अधिकार हो और दूसरे लोगों को उनके

---

1. समाजवाद : डॉ0 सम्पूर्णानन्द, पृष्ठ–148
2. वही, पृष्ठ–192

आश्रित रहना पड़ा तब यह वर्ग संघर्ष शुरू हुआ।[1] अपने वर्ग संघर्ष को सभ्यता का सहोदर मानते हुए लिखा है कि आज कल का वर्ग संघर्ष पहले से बहुत कटु है।[2]

मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्वान्त का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है। वर्तमान समय में विश्वभर में औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा यातायात के साधनों के प्रचुर विकास के कारण पूंजीवादी व्यवस्था विकसित होती जा रही है। इस व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन और एकाधिकार की प्रवृत्तियां पनपती जा रही हैं। मार्क्स का विश्वास है कि पूँजीवादी व्यवस्था का विकास सर्वहारा वर्ग को निश्चय ही एक दिन अजेय शक्ति के रूप में परिवर्तित कर देगा। शोषित सर्वहारा शोषण के विरूद्ध संगठित होकर शशक्त विद्रोह कर देगा और राज्य शक्ति निष्प्रभ हो जाएगी। यह वर्ग संघर्ष प्रारम्भ में मजदूरी के संगठनों के रूप में विकसित होगा जो यदाकदा अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करेंगे किन्तु अंत में हिंसक क्रांति के द्वारा समस्त राज्य व्यवस्था को उलट दिया जायेगा। मार्क्स ने सशस्त्र क्रांतिकारी संघर्ष में विश्वास व्यक्त किया है। मार्क्स राज्य व्यवस्था को आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखने का साधन मानता है। मार्क्स वर्ग संघर्ष को वर्ग संघर्ष की समूल समाप्ति के लिए आवश्यक मानता है।

मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्वान्त की पर्याप्त आलोचना हुई है। प्रत्येक युग और समाज में वर्ग संघर्ष होता रहा किन्तु निरन्तर और अनिवार्य रूप में नहीं वरन् आकस्मिक और अस्थायी रूप में। मानव समाज की प्रगति और कल्याण के लिए सहयोग संघर्ष से अधिक महत्वपूर्ण है।

मार्क्स ने वर्ग संघर्ष का मूल आधार आर्थिक माना है किन्तु संसार में धर्म, जाति और राष्ट्रीय आधार पर भी भीषण संघर्ष हुए हैं जिनका कोई आर्थिक आधार नहीं रहा ।

मानव समाज में मात्र विरोधी वर्ग ही नहीं होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि विरोधी मान्यता रखने वाले वर्गों में संघर्ष हो ही। मार्क्स के सिद्वान्तों पर खड़े सोवियत रूस ने सच अस्तित्व को–इक्जिस्टेन्स दो सिद्वान्त को अपनाया है।

मार्क्स के वर्ग संघर्ष की विचारधारा से सर्वथा विपरीत विचारधारा भारतीय चिन्तकों की रही है। इस विशाल राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में वर्ग संघर्ष के प्रति अपना दृष्टिकोण अभिव्यक्ति करते हुए लोक नायक जयप्रकाश जी ने लिखा है कि.............. सर्वोदय आन्दोलन में भी इस विचार के बीज थे............विनोबा जी ने वर्ग संघर्ष की जगह वर्ग निराकरण की बात की थी। और हम उस दिशा में प्रयत्नशील भी रहे। क्या

फल रहा उसका? आंकड़ें देखें हम कितनी जमीन बटी और कितनी कब्जे में रह गयी जिन्हें जमीन मिली उनकी हैसियत में कोई परिवर्तन हुआ?

सर्वोदय के प्रसंग में जय प्रकाश जी ने आगे कहा है कि समाज में दो शक्तियां हैं। एक कमजोर है और एक मजबूत। सर्वोदय आन्दोलन में हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया ने व्यक्तिगत तौर पर कुछ समर्थकों का मानस बदला। पर वर्ग के रूप में कुछ बदलाव आया ऐसा नहीं लगता।

निश्चय ही सर्वोदय आन्दोलन के सैद्वान्तिक पक्ष ने यदि व्यवहारगत सफलता प्राप्त की होती तो भारतीय सर्वहारा के अनेकों प्रश्नों का समाधान हुआ होता।

जय प्रकाश जी ने सवर्णो उस वर्णों के मध्य की विषमता तथा अवशेष सामन्तवाद को लक्ष्य कर कहा है कि मजदूरी के मामले में सप्लाई एण्ड डिमांड का हिसाब चलता है..........यह स्थिति कैसे बदलेगी हमें सोचना चाहिए। वर्ग संघर्ष हो ही नहीं सकता क्योंकि वह सर्वोदय विचारधारा के खिलाफ है। इधर हृदय परिवर्तन हुआ ही नहीं क्योंकि उसकी आवश्यक परिस्थिति हम बना नहीं पा रहे हैं, तब क्या होगा? वर्ग निराकरण आन्दोलन के विषय में आपने लिखा है कि मुझे नहीं लगता कि सर्वोदय आन्दोलन में या किसी प्रकार की वालेंटरी एजेन्सी में इतनी ताकत होगी या हो सकेगी कि वह इस वर्ग संगठन को तोड़ देगी। दूसरा रास्ता खोजना पड़ेगा।

वर्ग संघर्श की पुरानी कल्पनाः

वर्तमान समय में मार्क्स के वर्ग संघर्ष की कल्पना को इस देश के परिप्रेक्ष्य में अवमूल्यन करते हुए आपने कहा है कि वर्ग संघर्ष की मार्क्सवादी कल्पना हमारे काम नहीं आयेगी। वर्ग संघर्ष की उस कल्पना के पीछे काफी शक्ति लगी है। साम्यवादियों, समाजवादियों, ने वैसा वर्ग संघटन करने की योजनाबद्ध कोशिशें की, फिर भी उन्हें बड़ी सफलता मिली ऐसा नहीं कह सकते, थोड़ा बहुत परिणाम हुआ। मार्क्स ने जो कुछ कहा था वह औद्योगिक समाज पर लागू होता है। भारत के कृषि समाज में वैसा वर्गीकरण ठीक नहीं है, वैसा वर्गीकरण होगा भी नहीं शायद। छोटे किसान हैं। मजदूर हैं। उनका स्वार्थः उनका जीवन जुड़ा है उस स्रोत से जिसकी मालिकी बड़े भूमिवानों के पास है। कैसे मार्क्स का वर्ग संघर्ष हो सकता है।

वर्ग–संघर्ष का नया रूपः

वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए आपने लिखा है कि जो हल चलाता है उसकी जमीन न हो, यह तो बड़ा अन्याय है। लेकिन अधिकार हल चलाने वाले को कैसे प्राप्त हो इसका जवाब तो यही लगता है कि वह अपने अधिकारों का दावा करे। जब तक नीचे के वर्गों में आत्मसम्मान पैदा नहीं होगा, उनमें आत्मविश्वास का दबाव नहीं होगा तब तक ऊपर के वर्गों का बदलना सम्भव नहीं लगता है। इस प्रकार मैं दूहरे दबाव की कल्पना करता हूँ ईमानदार और निःस्वार्थ युवकों कार्यकर्ताओं द्वारा व्यापक लोक शिक्षण का दबाव और पिछड़े, दबे लोगों के व्यापक वर्ग संगठन का दबाव। दबाव की यह दुहरी ताकत सामंती परम्पराओं और शोषण की व्यवस्था तोड़ेगी।

वर्ग संघर्ष में सम्भावित हिंसा की मार्क्सवादी कल्पना को लक्ष्यकर जयप्रकाश जी ने कहा है कि सामाजिक तथा आर्थिक समानता का संघर्ष शांतिमय होना चाहिए यदि हिंसा का रास्ता अपनाया गया तो उसमें नहीं मरेंगें, जिनके लाभ के लिए वर्ग संघर्ष की बात हम करते हैं। अपने रक्षण की नीचे के लोगों में बहुत कम ताकत है। मैं मानता हूँ कि वर्ग संघर्ष में हिंसा को दूर रखा जा सकता है। वह शांतिमय संघर्ष के रूप में सहयोग के रूप में, सत्याग्रह के रूप में हो सकता है।

भारतीय समाज परिवर्तन के लिये वर्ग संघर्ष को व्यापक सत्याग्रह का रूप देने की अपील करते हुए लोकनायक ने कहा है कि नीचे के लोगों की ऐसी संगठित ताकत का ऊपर के लोग प्रतिरोध करेंगे। उस कष्ट, बलिदान के लिये तैयार रहना चाहिए। आज भी क्या कम कष्ट, दमन, अत्याचार है नीचे वाली जातियों पर वर्गों पर! आज से संगठित स्थितियों में इसे जातियों पर वर्गों पर? आज से संगठित स्थिति में इसे भोगते हैं इसलिये उनमें से कोई ताकत पैदा नहीं होती। संगठित रूप से अन्याय को प्रतिकार करते हुए दमन कष्ट झेलना, समाज परिवर्तन की ताकत बन जाता है।

व्यापक शांतिमय सत्याग्रह ही, मेरे वर्ग संघर्ष का रूप है।[1] गांधी से लेकर विनोबा भावें और जयप्रकाश तक ने इस राष्ट्र की बहुमूखी समस्याओं के निदान के लिए संघर्ष की अपेक्षा शांतिपूर्ण मार्ग के अवलम्बन का सुझाव दिया है। इन्होंने माना है कि गांव के समूह भारत की आवश्यकताओं को वर्ग संघर्ष को तेज करके या दलों की प्रतिद्वन्दिता द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता।[2] समाज निर्माण की प्रक्रिया में पारस्परिक सद्भाव और निष्ठा की आवश्यकता है, अन्दर ही अन्दर सुलगने वाले वैरभाव की नहीं।

---

1. आज, 25 और आश्विन मंगलवार, 11 अक्टुबर 1977
2. एशियाई समाजवाद : अशोक मेहता, अनु0 श्यामाप्रसाद प्रदीप, पृष्ठ–222

(ङ) वर्ग विहीन समाज (क्लासलेसनेस) की रुपपक्षताः—

मार्क्स ने कहा है कि हैव्स सम्पन्न अर्थात पूंजीपति और हैब्स नाट (विपन्न अर्थात सर्वहारा ये दो वर्ग हैं। जिनके पास उत्पादन के साधन हैं, वह एक वर्ग और जिनके पास नहीं है, वह दूसरा वर्ग है। इन दोनों में अखण्ड संघर्ष है। वर्ग संघर्ष के द्वारा प्राप्त सर्वहारा के अधिनायकत्व में उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का अधिकार होगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और प्रत्येक को उसके कार्यानुसार मजदूरी मिलेगी। यहीं से समाजवाद का प्रसार होगा। उत्पादन का आधार सामाजिक उपयोगिता होगी न कि लाभ कमाने की प्रवृत्ति।

संक्रमण काल में धीरे—धीरे जब संघर्ष एवं वर्गीय भावना का अन्त हो जायेगा तो समाज में राज्य जैसी दमनात्मक संस्था की आवश्यकता नहीं रहेगी। उत्पादन के सभी साधन समाज के अधिकार में होंगे। श्रम समाज की सम्पत्ति होगी। व्यक्ति का विकास इस सीमा तक हो जायेगा कि बौद्विक, नैतिक, और मानवीय दृष्टि से वह लोक कल्याण में योगदान देता हुआ अपनी शक्ति भर उत्पादन करने का दायित्व वहन करने लगेगा और उसे उत्पादित अंश के उपभोग का समान अधिकार प्राप्त हो जायेगा। फलतः न कोई दरिद्र होगा न धनी। जब समाज अपने इस चरम रूप को प्राप्त कर लेता तो वैयक्तिकता के स्थान पर सामूहिकता का प्रसार होगा। यही सामूहिकता की भावना लोगों को कार्य की ओर अग्रसर करेगी। वर्ग विहीन समाज, का मूल मंत्र प्रगति है। समाज में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक भावना से निरन्तर उत्प्रेरित होता हुआ सामाजिक नियमों का पालन करेगा। सामजिक उत्थान में पूरी शक्ति से सहयोग प्रदान करेगा। यहां पर राज्य का अपने आप लोप हो जायेगा। (द स्टेट विल विदर अवे)।[1]

राज्यलोप के विषय में मार्क्स और एंगेल्स की इस कल्पना के समकक्ष ही हमारे यहां वर्गविहीनता थी इसे प्रख्यात अर्थशास्त्री दत्तोपंत ठेगड़ी ने अपनी लघु कृति में व्यक्त किया है कि हमारे यहां वर्गविहीनता थी। जो परिपक्व बन जाते है जिनकी आन्तरिक प्रगति हो चुकी होती है उनके लिए हमारे यहां वर्ग विहीनता रखी गयी। सर्वहारी लोगों को कहा गया है कि तुम्हारा कोई वर्ग नहीं। सब भूल जाओ। जाति, कुल, माता—पिता को भूल जाओ तुम सन्यासी हो।[2]

...............स्वदेशों भुवन त्रयम्, नाट वनली वर्ल्ड सिटिजन, वट सिटिजन आव द यूनिवर्स। मानें त्रैलोक्य का नागरिक ऐसे जो विश्व नागरिक थे उनकी वर्गहीनता का

---

1. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल : डॉ0 पारसनाथ मिश्र, पृष्ठ—46
2. राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आधार : दत्तोपंत ठेगड़ी, पृष्ठ—28
3. वही, पृष्ठ—28
4. वही, पृष्ठ—42

ज्वलंत आदर्श हमारे यहां था। किन्तु अनधिकारी के लिए नहीं।[3] आन्तरिक जागृति को लक्ष्य कर ही वर्गविहीनता का अस्तित्व हमारे यहां आध्यात्मिक अधिकार भेद के आधार पर है और कहीं नहीं।[4] हमारे यहां स्वयं शासित समाज रचना थी। विधर्मियों के शासनकाल में भी हमारा सामाजिक अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। मार्क्स ने जिस साम्यवाद की उच्चतर स्थिति की कल्पना की और बाकुनिन ने जिस अराजकतावाद की उच्चतर स्थिति की कल्पना की ऐसा समाज हमारे यहां भी आदर्श माना गया है[4]......... लेकिन इस प्रकार शासन विहीनता कैसे चली थी............न राज्यं नैव राजा सीत न दण्ड्यो न च दाण्डिकः। धर्मणैव प्रजाः सर्वे रक्षन्तिस्म परस्परम्।। धर्म के आधार पर सब एक दूसरे की रक्षा करते थे........इस प्रकार धर्म के आधार पर हमारे यहां शासनविहीन समाज था।[5] ठेंगड़ी जी ने भारतीय पृष्ठिभूमि में धर्म के आधार पर वर्ग विहीन समाज की स्थिति पर प्रकाश डाला है।

(च) भारतीय वर्ग व्यवस्था का शोषित समाज और आधुनिक सर्वहारा वर्गः

मार्क्स के सर्वहारा वर्ग के विश्लेषण के उपरान्त भारतीय परिवेश में सर्वहारा के चिन्तन क्रम को यहां की वर्णव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य से यदि जोड़ दिया जाय तो कदाचित भारतीय समाज का स्वरूपस्पष्ट हो जायेगा हिन्दू समाज का अभिमत है की समाज व्यवस्था ईश्वररोक्त और चातुर्वण्य पर अवलम्बित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जिनकी प्रमाणिकता ऋग्वेद से पुरूष सूक्त पर आधृत है। उसमें यह उद्घोषणा की गई है कि सृष्टि के आदि मे ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण भुजाओं से क्षत्रिय करि से वैश्य और चरणों से शूद्र का अविर्भाव हुआ।

के० एम० पाणिक्कर ने चातुर्वण्य की कल्पना को केवल तत्व चिंतन की एक शैली मानते हुए उसे सामाजिक व्यवस्था के तथ्यों पर किसी प्रकार भी आधारित नहीं माना है।[1] और वर्ण चतुष्टय को समाज की एक काल्पनिक व्यवस्था कहा है। सुविज्ञ इतिहास वैत्ताओं ने भी ऋग्वैदिक काल में वर्णव्यवस्था और जाति प्रथा के अस्तित्व को नकार दिया है।[2] किन्तु ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से जाति अथवा वर्ण व्यवस्था के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। पुरूष शूक्त में वर्णित ब्राह्मण, रजन, वैश्य एवं शूद्र जो वर्णव्यवस्था के आधार हैं, स्पष्ट रूप से निखर कर समाज के सामने नहीं आये थे

---

1. हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर : के० एम० पाणिक्कर, वही, पृष्ठ–6
2. म्यूर ओरिजिनल संस्कृत वालूम,12, (वेबर एण्डिस्चे स्टडीज बालूम दस) पृष्ठ–239

क्योंकि अधिकांश इतिहासकारों के मतानुसार उक्त सूक्त वाद की जोड़ी हुई ऋचा मानी जाती है। किन्तु तत्कालीन समाज में रंग वर्ण के आधार पर आर्य अनार्य का भेद स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आ चुका था जो कालान्तर में जाति प्रथा कास्ट सिस्टम के अनेक आधार स्तम्भों में एक आधार स्तम्भ यह भी बना। लेकिन यह तथ्य भी निर्विवाद है कि ऋग्वैदिककाल में जाति अथवा वर्णव्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा अथवा योग्यता के आधार पर आधारित थी। किन्तु आर्यो ने जैसे–जैसे पंजाब से पूरब की ओर प्रयाण किया और जीवन में विविधता बढ़ती गयी बड़े राज्य स्थापित होने के साथ सभ्यता एवं संस्कृति में विविधता आने लगी और वर्णव्यवस्था कालान्तर में समय के साथ कर्मणा न होकर जन्मना हो गयी। आर0 पी0 भसानी ने भी लिखा है कि प्रारम्भिक वैदिक काल के तत्वदर्शियों ने वर्ण व्यवस्था का कोई उल्लेख नहीं किया है। इस युग के साहित्य में भीतर घुसकर हम कितनी ही खोज करें, वहां वर्गों का साक्षात्कार भले हो सकता है वर्गों का नहीं निदान उसमें वेतत्व अवश्य उपस्थित थे जिनसे वर्णो का निर्माण होता है। अतएव विभिन्न व्यवस्थाओं में धीरे–धीरे खाई पैदा हो गयी। बहुत समय तक सामाजिक अलगाव और अस्पृश्यता की परिकल्पना फिर भी उन विवेकशील लोगों को अरूचिकर बनी रही जो विभिन्नता में एकता का दर्शन और एकता में विभिन्नता का विलीयन करते थे। प्रत्येक वर्ग समाज के ताने वाने का अविच्छिन्न अंग माना जाता था।[1]

के0 एम0 पणिक्कर ने भी वर्णव्यवस्था के ईश्वरीय विधान के समर्थन में दिये जाने वाले गीता के इस प्रवचन का कि "चतुर्वर्ण्यमया सृष्ट गुण कर्म विभागशः" की समुचित व्याख्या कर चतुर्वण्य की पारम्परिक मान्यता को खण्डित करते हुए लिखा है कि यदि सावधानी से विचार किया जाय तो इससे प्रत्यक्ष ही जायेगा कि भगवान कृष्ण का उपरोक्त कथन वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं करता, प्रत्युक्त उस पर मर्मान्तक प्रहार करता है। उसका वाच्यार्थ है: मेरे द्वारा गुण और धर्म के आधार परचातुर्वण्य की रचना की गई।"[2] जन्म के आधार पर वर्ण के ईश्वरीय विधान को असंदिग्ध शब्दों में नकारा गया है। लेखक ने कालान्तर में दूषित होती हुई। इस प्रथा के संदर्भ में लिखा है कि उपनिषदों का तत्वज्ञान और गीता का कर्मज्ञान वर्णव्यवस्था के अत्याचारों के कारण कोरा वाग्जाल बन गया। जड़ और चेतना समस्त विश्व को एकता का उपदेश देने वाले

---

1. आर0पी0 भसानी : कान्ट एण्ड स्ट्रक्चर ऑफ सोसाइटी (लिगेसी आफ इण्डिया ग्रंथमाला) , पृष्ठ–132
2. हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर : के0 एम0 पणिक्कर, पृष्ठ–16
3. वही पृष्ठ–16

भारत में ऐसी सामाजिक व्यवस्था ने एक दूसरे को अलग–अलग कर दिया इसका सबसे भीषण परिणाम यह है कि वह अस्पृश्यता और असंसर्गता का घर हो गया है।[3]

अस्पृश्यता के सामाजिक पद्वति का रूपधारण कर लेने पर तीन हजार वर्षों तक इसकी निर्वाह अवस्थिति के कारण वर्तमान काल में भारतीय समाज के लिए यह एक बहुत बड़े कलंक का विषय बन गया है। विद्वान लेखक ने इसी अस्पृश्य समाज की जाति पद्धति से बाहर का बताते हुए दूसरे शब्दों में पंचम अवर्ण संज्ञा दी है। वस्तुतः अवर्ण हिन्दू सामाजिक धारणाओं की परिधि से बाहर का बताते हुए दूसरे शब्दों में पंचम बाहर की जातियां थी। फिर भी हिन्दू जीवन के स्वाभाविक प्रवाह में उनका योगदान आवश्यक है। शास्त्रीय विशेधाज्ञाओं ने चार वर्णों के सदस्यों के लिए कुल व्यवसाय वर्जित कर दिये थे। उस समय जाति की नीच टहलई को मानवीय अपवित्रता ओर अद्योगति का कारण माना जाता था इसलिए यह तुच्छ सेवा चातुर्वर्ण्य के हिस्से में नहीं पड़ी थी। परिणामतः एक पटरी समाज बन गया जिसमें चार वर्णों से बाहर की वे जातियां सम्मिलित हो गयीं जो उपर्युक्त आवश्यक सेवा सुश्रुधा कर सकती थीं।[1]

प्रत्येक गांव के बाहर बस्ती से दूर घरों का झुण्ड खड़ा हो गया जिसमें यह प्राणी गांव की सफाई नीच टहलाई, खेती बारीके श्रम साध्य कार्य तथा हेय समझी जाने वाली सेवाओं को करते हुए दुरावस्था में जीवन गुजारने लगा। पाणिक्कर ने इनकी दशा को दासों से भी हेय बताया है क्योंकि दास स्वामी की निज की स्पत्ति था। आर्थिक स्वार्थो और मानवीय भावनाओं ने व्यक्तिगत दासता की नृशंसता में कमी कर दी किन्तु दासता और अस्पृश्यता में भारी अन्तर था। अस्पृश्यता के अन्तर्गत जातिगत दासता अन्तर्भूत थी। दास केवल एक व्यक्ति के आधीन था लेकिन अछूतों के परिवार तो गांव के साथ जोड़ दिये जाते थे और उन पर इस प्रकार गांव भर की दासता का भार होता था।[2]

सम्भवतः पणिक्कर का यही पंचम अवर्ण, अस्पृश्य निम्नकर्मी समाज आज की अछूतों के पटरी समाज के रूप में खड़ा है और समाज से दर अछूतों का यह पटरी समाज आज भी अपनी दीन हीन स्थिति में कार्यरत है जिसे हम सरलता से भारतीय सर्वहारा के रूप में परिगणित कर सकते है। स्वातंत्र्योत्तर मताधिकार और संवैधानिक अधिकार प्राप्ति ने इनमें नवचेतना जागृत की है लेखक ने कलान्तर में शक्तियों से चली आई वर्ण व्यवस्था की उच्छिन्नता को लक्ष्य करके लिखा है कि हिन्दू मत के उदर में

---

1. हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर : के० एम० पणिक्कर, पृष्ठ–29
2. वही, पृष्ठ–27
3. वही, पृष्ठ–29

हरिजनों और आदिम जातियों के समाजों में से चातुर्वव्य के समाज की इतिश्री हो जायेगी।[3]

साम्यवाद के उदय से जो समाज को आर्थिक और राजनैतिक रूप से ही नहीं वरन् समूचे समाज स्वरूप को ही नये सिद्वान्तों पर बदलना चाहता है और एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है कि भारतीय वर्ण व्यवस्था से टकराहट अवश्यम्भावी है। भारतीय समाज में आई विकृतियां, मार्क्सवादी प्रभाव, औद्योगिक समाज का प्रभाव इत्यादि ने भारतीय समाज को परिवर्तन की दशा में पर्याप्त प्रभावित किया है। इस नई स्थिति को विश्लेषित करते हुए लेखक ने कहा है कि इसलिए भारत में मजदूरों की जागृति सामाजिक दृष्टि से दलित वर्गों की भी जागृति कही जा सकती है जो मानवता के नाते अपना अधिकार चाहते हैं।[1]

भारतीय समाज में मात्र एक दृढ़ सामाजिक संस्था के रूप में गठित वर्णव्यवस्था आज विषम स्थिति को प्राप्त कर चूकी है विवेकानन्द जी जैसे वैदान्त के उन्नायक और हिन्दू धर्म के पुनरूद्वारक ने कहा था कि बुद्व से लेकर राम मोहन राय तक सभी ने वर्ण व्यवस्था को एक धार्मिक संस्था समझने की भूल की है—— किन्तु पुरोहितों की चिल्लपों के बावजूद वर्णव्यवस्था केवल एक दृढ़ सामाजिक संस्था है,जो अपनी सेवा को पूरी करने के पश्चात् भारत के वायु मण्डल में दुर्गन्ध फैला रही है।' इस कथन द्वारा यह सत्य ध्वनित होता है कि इस जीर्णशीर्ण सड़ी गली व्यवस्था के पुनरूद्वार द्वारा ही भारतीय समाज का कल्याण सम्भव है। बुद्ध, शंकराचार्य, दयानन्द, तिलक, गांधी और बिनोबा ने सम्भवतः इसी उपेक्षित, दीन हीन भारतीय समाज के पुनरूद्वार के लिए प्रयास किया जिसमें धर्म की ओर से इनके शोषण का दुष्चक्र चला।

भारतीय धर्म ग्रन्थों तक ने कालान्तर मे शूद्र कहे जाने वाले वर्ण के लिए पर्याप्त विभेद प्रस्तुत कर दिया और इनके माध्यम से हिन्दू समाज में शोषण और उत्पीड़न का नया चक्र चला। मनुस्मृति का यह आदेश कि जो नीच वर्ण व्यक्ति ब्राह्मणादि उत्कृष्ट वर्ग के साथ आसन पर बराबर बैठना चाहे, राजा उसकी कमर दगवा कर उसे देश निकाला दे अथवा उसके नितम्ब का मांस कतरवा ले।[2] सेवा परायण शूद्र को जूठा अन्न, पुराने कपड़े, निस्सार धान्य और फटा पुराना ओढ़ने बिछौने को देना चाहिए। शंकर ने 'ब्रहमसूत्र' के भाष्य में लिखा है कि स्त्री और शूद्र को वेद नहीं पढाना चाहिए। सुनने पर कानों में गर्म शीशा डालना चाहिए पढ़ लिखकर विद्वान हो जायें, तो इसे

1. हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर : के0 एम0 पणिक्कर, पृष्ठ–73
2. मनुस्मृति (8 / 286)

फांसी पर लटकवा देना चाहिए। अगर जीभ से उच्चारण करें, तो जीभ कटवा लेनी चाहिए। (10, 3–35 से 38) तक धर्म द्वारा वर्ग विशेष के इसी भयावह शोषण को इंगित करते हुए डॉ0 सम्पूर्णानन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि धर्म के अंवलम्बन द्वारा ही मानव समाज का शोषण किसी सीमा तक निरन्तर होता रहता रहा यदि किंचित श्रेष्ठ मानवों ने धर्म के महत्तर स्वरूप के द्वारा युग परिवर्तन की अपूर्व क्षमता प्रदर्शित की है परन्तु कालान्तर में चलकर वही धर्म व्यवस्था निर्बलों के शोषण उत्पीड़न में सहायक बनी।[1]

हिन्दू धर्म शास्त्र और समाज के विषय में इस कथन को घटित किया जा सकता है जिसने पूरे समाज को विघटन के कागार पर ला दिया। भारत में एक बहुत बड़ा वर्ग अस्पृश्यों का है जो मूल समाज में कट चुका है और असवर्ण के रूप में मानवाधिकारों से च्यूत है। स्वतंत्र भारत में अस्पृश्यता समाज के विघटन का चतुष्कोणीय आकलन साप्ताहिक पत्रिका रविवार में राजकिशोर के निबन्ध में प्रस्तुत की गई है।

प्राचीन भारत में शोषितों की स्थितिः

भारत में प्रागैतिहासिक काल में सभ्यताओं में सबसे विकसित सभ्यता हड़प्पा सभ्यता है। कुछ विद्वानों के अनुसार हड़प्पा सभ्यता का समाज भी विद्वान ,योद्धा, व्यापारी और शिल्पी इन चार वर्णों में विभक्त था। वैदिक काल में सम्पूर्ण आर्यों का एक वर्ग का प्रारम्भ में कोई वर्ग भेद देखने को नहीं मिलता है।

ऋग्वेद में शूद्र शब्द का स्पष्ट उल्लेख पुरूष सूक्त में है जिसमें विराट पुरूष के चरणों से शूद्र की उत्पत्ति बतायी गयी है।

बाहबोडस्य मुखभासीद बाह राजन्यकृतः ।
ऊरु तदस्य यद् वैश्वः पैद्दयः शूद्रों अजायत।।[2]

विराट पुरूष के पैरों से शूद्र की उत्पत्ति का अर्थ विद्वानों द्वारा यह लगाया गया कि उसका जन्म समाज के तीन अन्य वर्गों सेवा करने के लिये हुआ था। यहां यह प्रश्न विचारणीय हैं।

मनुस्मृति में उल्लेख प्राप्त होता है कि प्रभु ने शूद्र को एक ही कार्य करने का आदेश दिया कि वह अन्य वर्णों को ईर्ष्या रहित होकर सेवा करें। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी शूद्रों द्वारा दास्य भाव से जीवन निर्वाह करने का वर्णन मिलता है। इस प्रकार से पूर्व

---

1. समाजवाद : डॉ0 सम्पूर्णानन्द, पृष्ठ–35
2. ऋग्वेद,(10, 90–92)

वैदिक युग में शूद्र अनार्य होते हुये भी ब्राह्मण समाज के सहयोगी वर्ग के रूप में थें। उनके साथ सौजन्य एवं मानवता का व्यवहार किया जाता था। तैत्तरीय संहिता में वर्णन प्राप्त होता है "हमारे ब्राह्मणों में प्रकाश भरों, हमारे मुख्यों (राजाओं) में प्रकाश भरों, वैश्यों और शूद्रों में प्रकाश भरो और अपने प्रकाश से मुझमें भी प्रकाश भरों। इससे स्पष्ट होता है कि शूद्र लोग समाज के एक अंग थे। परन्तु आर्य अनार्यों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं करते थे।"

उत्तर वैदिक काल में चार्तुवर्ण का विकास स्पष्टता अथर्ववेद संहिता में ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का उल्लेख प्राप्त होता है। कृषि कार्य हेतु श्रम का उपयोग शूद्र श्रम द्वारा समाज का पोषण करता था। अथर्ववेद के उन्नीसवें अध्याय में शूद्रों का वर्णन एक वर्ग के रूप में किया गया है। उत्तर वैदिक काल में आर्यों और दासों के वैवाहिक सम्बन्ध भी होने लगे फिर भी उसमें विसंगतियां व्याप्त थी।

शतपथ, ब्राह्मण सोम यज्ञ में शूद्र को भाग लेने का अधिकार देता है। उपनिषदों के वर्णानुसार सत्य कर्म जाबाल और जान श्रुति जैसे शूद्र वैदिक दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान थे। शतपथ और तैत्तिरीय ब्राहमण ग्रंथों के अनुसार राजसूय यज्ञ के समय अभिषिंचन क्रिया में शूद्र को भाग लेने का अधिकार नहीं है।

सत्याषाढ़ और सूत्र के वर्णनानुसार शूद्र को उपनयन संस्कार का अधिकार प्राप्त नहीं था जबकि सभी वैदिक धार्मिक क्रियाओं से वंचित नहीं था। ऐतरेण ब्राहमण में शूद्रों के कर्त्तव्य के रूप में सदा दूसरों की सेवा करना बताया गया है। शूद्रों को संपत्ति का स्वामी वेदोत्तर काल में शूद्रों को संपत्ति एकत्रित करने और धार्मिक कृत्यों को करने के अधिकारों से वंचित किया गया था। गौतम तथा आपस्तलब धर्मसूत्रों के अनुसार ब्राहमण द्वारा शूद्र को भोजन कराना वर्जित बताया गया है। पाणिनी द्वारा शूद्रों का दो वर्ग निरवसित और अनिरवसित था। निरवसित शूद्र वे थे जिनको अपने वर्तनों में भोजन कराने से हिजों के वस्त्र अपवित्र हो जाते थे। अनिरवसित शूद्रों की श्रेणी में वे शूद्र थे जो हिजों द्वारा भोजन कराने योग्य माने जाते थे। यह अवस्था शूद्रों की समाज में स्थिति की परिचायक है जबकि शूद्र सर्वथा अस्पृश्य भी नहीं माने जाते थे। मौर्यकाल में शूद्रों के विभिन्न कर्त्तव्यों का उल्लेख मिलता है। इस काल में वैश्यों के साथ शूद्र भी कृषि कार्य करने लगे। कौटिल्य ने भी उल्लेख किया है कि जो कृषि, पशुपालन और व्यापार के द्वारा धनोपार्जन करके अपना निर्वाह करते थें। मौर्योत्तर काल में भी शूद्रों के

कर्त्तव्यों का वर्णन प्राप्त होता है लेकिन अधिकार नहीं था। मनुस्मृति में वर्णन प्राप्त होता है:–

एक मेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।

ऐतषाभव वर्णानां शूश्रूषामन सूयया ।।

अर्थात् प्रभु ने शूद्र को एक ही कर्म करने का आदेश दिया है कि वह चारों वर्णो की ईर्ष्यारहित होकर सेवा करें।

भगवत गीता के अनुसार वर्णित

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्र स्थापि स्व भावजम्।।

अर्थात् सब वर्गों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म हैं। प्राचीन भारत में शूद्रों को वैदिक ग्रन्थों को पढ़ने का अधिकार नहीं था और न हीं वैदिक यज्ञ ही कर सकते थें।।

स्मृतिकाल में धर्मशास्त्र कारों के मतानुसार शूद्रों की स्थिति में सुधार हुआ। गुप्तोत्तर काल में शूद्रों को सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों से वंचित रखा गया है। मेधातिथि के मतानुसार शूद्र उच्च वर्ग की सेवा करने के अनिवार्य कर्त्तव्य से मुक्त हो सकता है। शूद्रों को विवाह संस्कार के लिये धार्मिक क्रिया करने की स्वतंत्रता प्राप्त था उसे देवता का जय करने की अनुमति थी। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में शूद्रों की स्थिति निम्न स्तरीय थी।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में डा0 राम मनोहर लोहिया के "वर्ग संगठन और शूद्र' नामक पाठ से उद्घत शब्दों में "अब न तो सिर्फ शूद्रों का उठाना है। और जगह–जगह उनको नेतृत्व के आसन पर बैठाना है, बल्कि बार–बार सहारा देकर ओर सलाह तथा बहस के द्वारा उनकी आत्मा को जगाना और सुसंस्कृत करना है, जिससे देश का बंधा यानि बहे, और द्विज तथा शूद्र अपने दोषों से मुक्त हो। राजकीय क्रांति की बात बिल्कुल व्यर्थ है, जब तक सामाजिक उथल–पुथल की चेष्टा साथ–साथ न चले अब तो देश में वही राजनीति दल कुछ कर पायेगा, जो इस सामाजिक उथल–पुथल का अगुआ बने, और अपने संगठन द्वारा बतलाए कि एक नया सबेरा आने वाला है।[1]

आधुनिक भारत में सर्वहारा की स्थितिः

स्वतंत्रता के चौवन वर्षोपरान्त और सत्ता परिवर्तन के पश्चात इनके शोषण के विषय में लेखक ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि न केवल सामाजिक स्तर पर वरन्

---

1. दलित जन उपहार : बी0 एम0 एन0 प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ–128

राजनैतिक दुष्चक्रों की आड़ में इस वर्ग का निरन्तर शोषण होता रहा है। सैंतीस साल पहले दो जनवरी सन् 1964 ई0 को दिल्ली नगर निगम के मेहतरों की सभा में प्रथम भारतीय प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने उदास और रूधी आवाज में इनकी वस्तुस्थिति के विषय में कहा था कि मुझे आप के सामने आने से शर्म आती है क्योंकि आपके साथ न्याय नहीं हो पाया है। 'किन्तु अट्ठारह वर्षों तक उन्हीं की पुत्री श्रीमती गांधी के शासन काल में इस वर्ग का जिनता घोर उत्पीड़न हुआ उसके विषय मे लेखक का यह कहना है कि दलितों को जिन्दा भूनने का यह साहस सिर्फ कुछ महीनों की उपज था या इसके पीछे उनके द्वारा पाली पोसी व्यवस्था का भी हाथ था! एक ज्वलंत प्रश्न बन कर उभरा है। लेखक ने भारतीय सर्वहारा समाज के इस शोषण को बाबा आदम के जमाने से सम्बद्व माना है और लिखा है कि सामाजिक वैषम्य की इन दीवारों पर हमला जरूर किया, कबीर, रैदास जैसे सन्त कवियों के कारण पिछड़ी जातियों में आत्म विश्वास भी जागा, किन्तु पिछली शताब्दी में ही यह सचमुच देशव्यापी आन्दोलन का रूप ले सका।

विवेकानन्द, तिलक, दयानन्द आदि सुधारकों ने इस पर खुलकर विचार प्रकट किये और वर्ण व्यवस्था को बनाये रखकर भी नीची जातियों को न्याय दिलाने का प्रयत्न किया। किन्तु सच पूछा जाय तो संगठन और राजनीतिक मान्यता दिलाने के स्तर पर सिर्फ महात्मा गांधी और डा0 भीमराव अम्बेडकर इन दोनों ने ही गम्भीरता से इसे एक मुद्दा बनाया।[1]

हरिजन नामकरण गाँधी जी का ही दिया हुआ है। अस्पृश्य, पिछड़ी या दलित जातियों के नाम से जाने जाने वाले लोगों को हरिजन की संज्ञा देते हुए महात्मा गांधी ने 19 अगस्त, सन् 1931 ई0 को 'यंग इंडिया' में लिखा 'मेरे लिये अस्पृश्य ही वस्तुतः हरिजन (हरि का जन) है–हम लोग तो दूर्जन हैं। गांधी जी ने कहा कि अब सवर्ण हिन्दू आंतरिक निष्ठा से अस्पृश्यता को त्याग देते तब वे सच्चे अर्थों में हरिजन बन जायेंगे।[2]

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त इस वर्ग की वास्तविकता को समीक्षित करते हुए लेखक ने लिखा है कि 'पंडित जवाहरलाल नेहरू का प्रगतिशील चिन्तन इसका हामी था कि देश में औद्योगीकरण की रफ्तार तेज होने से सामाजिक बुराइयाँ स्वतः समाप्त हो जाएंगी। शायद वे छुआछूत, जातिप्रथा, सामाजिक अत्याचार आदि को सूपरस्ट्रक्चर अपने आप भरभरा कर गिर पड़ेगा। पर न तो आर्थिक प्रश्न हल हुआ न हरिजनों का उत्पीड़न रूका। दरअसल कांग्रेस का समूचा नेता वर्ग उच्च वर्गीय सरोकार से जुड़ा

---

1. रविवार साप्ताहिक, हरिजन कांग्रेस राज में क्या हुआ ? राजकिशोर, 2 अक्टूबर से 8 अक्टूबर 1977 पृष्ठ–12
2. वही पृष्ठ–12

रहा है और उसने गरीब और पीड़ित जनता की कठिनाइयों के बारे में कभी संजीदगी से नहीं सोचा।

योजनाएं बनाई गयीं कुछ कारखानें खड़े हुए, पर ये सारी चीजें अमरीकी मॉडल को भारत की मिट्टी में रोपने के प्रयत्न स्वरूप सिर्फ कुछ विशिष्ट वर्गों को ही लाभान्वित कर सकी। हरिजन की यंत्रणा कथा वैसे ही, बिना किसी विराम के चलती रही। लेखक ने एक ज्वलंत प्रश्न सामने रखा है कि क्या वह आदमी जिसके पास जमीन नहीं, नौकरी नहीं, शिक्षा नहीं, आज अपने अधिकारों के लिए लड़ पायेगा? सवर्ण जातियों का आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक आतंक इतना गहरा और व्यापक है कि दबे हुए लोगों के लिए उनकी बराबरी करना असम्भव है। लेखक ने स्वतंत्र्योत्तर स्वतंत्रतोपरान्त जगी इनकी चेतना को स्वीकारा है।

कृषि व्यवस्था और सर्वहारा:

19 वीं सदी के शुरू में 75 वर्षों में ही भारत के उद्योग धंधों की मुख्य रूप से बरबादी हुई, पुराने आबाद औद्योगिक केन्द्र उजड़ गये, इन केन्द्रों के लोगों को गांवों में खदेड़ दिया गया और इनकी बरबादी के साथ–साथ गांवों में रहने वाले लाखों दस्तकारों की जीविका भी छिन गयी। ब्रिटिश पूंजीवादी नीति ने भारत में पश्चिमी ढंग की फैक्टरियों की स्थापना की ग्रामीण उद्योग धंधों को विनष्ट किया और पैदावार की ऊँची कीमतों की ओर आकर्षित दस्तकारों और खानदानी कारीगरों तक ने खेती का काम प्रारम्भ कर दिया। कृषि पर एक तरफा निर्भरता चरम सीमा पर पहुंच गयी। पुराने उद्योगों के विनाश तथा उसके स्थान पर नये उद्योगों के विकसित न होने से खेती पर आबादी का दबाव निरन्तर बढ़ता गया।

(छ:)प्रगतिशील कथाकार और उनकी कृतियां:

साहित्य को सोद्देश्य और सर्वहारा जीवन से सम्बद्ध मानने वाले प्रगतिशील भारतीय कथाकारों ने सामाजिक विकास में योगदान देने वाले साहित्य की सर्जना की।

यूरोप के सम्पर्क से भारतीय राजनीतिक जीवन ने राष्ट्रवाद की लहर आई और साहित्य ने यथार्थवाद को प्रश्रय दिया। पश्चिमात्य औद्योगिक क्रांति द्वारा बुद्धिवादी विकास परम्परा ने परम्परागत मान्यताओं पर चोट की। फ्रांस में रूसों, वाल्तेयर आदि ने
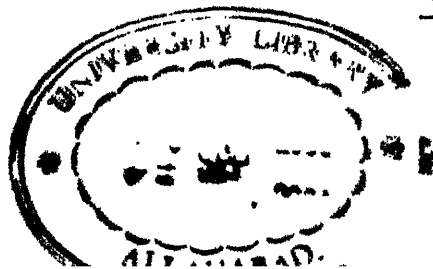
भौतिकवादी चिन्तन परम्परा द्वारा धार्मिक परम्पराओं पर प्रहार किया तो हीगेल, कान्ट, स्पिनोजा आदि दार्शनिकों ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इस परिस्थितियों में दो भिन्न दृष्टिकोण उभरे मार्क्सवाद और अराजकतावाद। 19वी शती के उत्तरार्द्ध में देश में आई नई जागृति के फलस्वरूप दासता के साथ–साथ धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों को भी तोड़ने की चेतना आई।

सन् 1885 ई0 में नेशनल कांग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय जनमानस में स्वाधीनता की भावना तीव्रवर हो उठी। सन् 1920 ई0 में गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। सन् 1931 ई0 तक आते आते कांग्रेस के भीतर समाजवादी पार्टी की स्थापना हो गयी। 1935–36 में यूरोप के सजग बुद्धिजीवियों द्वारा प्रगतिशील लेखक संघ की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना होने के उपरान्त भारत में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन सन् 1939 ई0 में लखनऊ में हुआ। इसके अध्यक्ष प्रेमचन्द्र थे। और अपने अध्यक्षीय भाषण में साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्यकार खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौदंर्य का सार हो कि सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश को,जो हममें गति, संघर्ष और बैचेनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।[1] और क्रमशः प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां अधिवेशन क्रमशः कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई और भिवण्डी में सम्पन्न हुआ। मई,1946 में होने वाले पांचवे अधिवेशन के घोषणा पत्र में एक स्थान पर कहा गया है कि भारतीय साहित्य का भविष्य सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में लड़ती हुई उस जनता के भविष्य से अलग नहीं जो आज स्वतंत्र जीवन, लोकतंत्र तथा समाजवाद के लिए संघर्षरत है और मानव द्वारा मानव के शोषण की तमाम सम्भावनाओं को समाप्त कर देना चाहती है। हमारे साहित्यकार इस आन्दोलन के जितना निकट आयेंगे, उनके साहित्य में रूप और अर्थ की दृष्टि से उतनी ही गहराई आयेगी।

प्रगतिवादी साहित्य के प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों के भी अखिल भारतीय स्तर पर कई सम्मेलन हुए। यथा प्रांतीय प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन और 'काशी प्रगतिशील लेखक संघ'। युद्धोत्तर काल में प्रगतिशील आन्दोलन का उत्कर्ष मन्द पड़ने लगा और राजनैतिक दल विशेष से सम्बद्ध होने के अभियोग में राजनैतिक कोपभाजन बनकर विघटित होने लगा। प्रगतिशील आन्दोलन

---

1. साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचन्द, पृष्ठ–39

कर्ताओं ने देश के सांस्कृतिक आधार पर की उपेक्षा कर धार्मिक मान्यताओं और नैतिकता की अवहेलना कर अराजकता का प्रतिनिधित्व करने के कारण इसे विघटन के कगार पर पहुंचा दिया।

सर्वहारा वर्ग को साहित्य में प्रतिष्ठित करके पूँजीपति तथा उच्च मध्यवर्ग के शोषण को अभिव्यक्ति देना ही प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य हो गया। साहित्यकार यशपाल ऐसे उपन्यासकार है, जिन पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पड़ा था। इन्होंने सामाजिक यथार्थवाद को अभिव्यक्ति दी। सामाजिक यथार्थवाद का मुख्य उद्देश्य पूंजीवाद के विनाश और वर्गहीन समाज की स्थापना में योग देना है।[1]

प्रगतिशील साहित्यकारों में यशपाल कृत उपन्यास दादाकामरेड, मनुष्य के रूप, झूठा सच, एवं दिव्या तथा नागार्जुन कृत 'रतिनाथ की चाची' और 'नई पौध' में प्रगतिशीलता,का दर्शन दृष्टव्य हैं। इनके अलावा प्रगतिशील साहित्यिक कृतियों में यशपाल के देशद्रोही, नागार्जुन की व्यंग कविताएं, एवं उपन्यास तथा अमृतराय की कहानियां और बीज नामक उपन्यास आदि है। प्रगतिशील साहित्य भारतीय सामाजिक चेतना के विकास में स्थान रखता है। प्रगतिशील लेखकों ने अपनी कृतियों द्वारा समाज की जनवादी और उदारवादी परम्परा को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। इनमें साहित्यिक न्यूनता है किन्तु भविष्य में हो सकता है कि जीवन के प्रगतिशील मानदण्ड और कलात्मक वैभव से समन्वय स्थापित हो सके। प्रत्येक युग में कला एवं सामाजिक उपयोगिता की इस वर्तमान स्थिति में हमारे सामने भी है। लोक संग्रह और कला का समन्वय ही इस प्रश्न का समाधान है।[2]

(1) युग द्रष्टा प्रेमचन्द (सन् 1880–1936)

हिन्दी के उपन्यास साहित्य में 'प्रेमचन्द' (वास्तविक नाम धनपत राय) का शीर्ष स्थान है। महान साहित्यकार प्रेमचन्दजी ने समाज के सभी विभिन्न पहलुओं पर अपनी लेखनीय चलायी है। भारतीय कृषक–समाज, मध्यमवर्ग, उच्चवर्ग, नारी की समस्या, विधवा विवाह यानि कि "साहित्य तत्कालीन समाज का दर्पण है" कथन को चरितार्थ किया है। वह समाज में स्पष्टतया प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है।[3]

मुंशी प्रेमचन्द जी का जन्म बनारस के लमही ग्राम में सन् 1880 ई0 में काशी में हुई इनके पिता मुंशी अजायबराय, माता आनन्दा देवी थी। इन्होने सम्पादक कार्य मर्यादा, माधुरी, जागरण एवं हंस, पत्रों में किया। सम्पादक का कार्य ग्रहण कर साहित्य

---

1. हिन्दी उपन्यास : सुषमा धवन, पृष्ठ–284
2. राष्ट्रीयता और समाजवाद : डॉ0 नरेन्द्रदेव
3. राष्ट्रभाषा सन्देश : प्रकाशक – हिन्दी साहित्य सम्मेलन(पत्रिका प्रयाग), 15 अगस्त सन् 1998 ई0

के उच्च आदर्शों की स्थापना की । उर्द्ई में नबाबराय (जोधनपत राय नाम का एक प्रकार से अनुवाद ही है) के नाम से लिखते थे, कहा जाता है उन्हें प्रेमचन्द नाम ' जमाना' के सम्पादक दयानरायन निगम ने दिया था। अंग्रेज सरकार की धमकियों के बाद ही उन्होंने ' प्रेमचन्द' नाम से लिखना शुरू किया था सन् 1930 ई0 में उन्होनें 'हंस' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था । साहित्य और कला के क्षेत्र में उन्होंनें वणिक् वृत्ति को कभी प्रश्रय न दिया। उन्होनें स्वयम् कई मौलिक कहानियों भी उर्दू में लिखी, जो कानपुर के 'जमाना ' और 'इण्डियन प्रेस ' इलाहाबाद के 'अदीब' नामक पत्रों में प्रकाशित हुई। प्रेमचन्द की सबसे पहली मौलिक 'संसार का अनमोल रत्न' बताई जाती है, जो सन् 1907 ई0 में 'जमाना' में छपी थी सन् 1908 ई0 में उनका 'सोजे वतन' नामक उर्दू कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ, जो राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण था। उन्होंनें महावीर प्रसाद पोद्दार की प्रेरणा से 'सेवासदन' उपन्यास हिन्दी में लिखा । पत्र–पत्रिकाएं एवं उनकी रचनाएं आदरपूर्ण स्थान प्राप्त की । उनके उपन्यासों में सेवा सदन (सन् 1916ई0), प्रेमाश्रम (सन् 1922ई0), रंगभूमि(सन् 1924–25ई0) निर्मला (सन् 1927ई0), गबन (सन् 1931ई0), कर्मभूमि (सन् 1932ई0), गोदान (सन् 1936ई0) तथा उनका अंतिम उपन्यास मंगलसूत्र (सन् 1936ई0), अपूर्ण है। इन्होनें लगभग 300 कहानिंया लिखी। प्रेमचन्द के सभी कहानियों की संग्रह 'मानसरोवर' नामक आठ भागों में सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित है। इनके मुख्य कहानियों में 'नमक का दरोगा'(सन् 1923ई0 कलकत्ता), 'सप्तसरोज'(सन् 1916ई0 गोरखपुर), प्रेमपंचासी(सन् 1923ई0 इलाहाबाद), अग्निसमाधि(सन् 1929ई0), लखनऊ से प्रकाशित हुई। एक कहानी संग्रह 'ग्राम्य जीवन की कहाँनियां' का रचनाकाल अज्ञात है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यास लेखकों की परम्परा की एक जाज्वल्यमान कड़ी के रूप में थे, किन्तु ज्यों–ज्यों सामने आती गयी, प्रेमचन्द का दृष्टिकोण भी निरन्तर व्यापक होता गया। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी का समाज सुधारवादी दृष्टिकोण वे अपनी अन्य रचनाओं प्रेभाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, कर्मभूमि और यहां तक कि 'गोदान' में भी पूर्णतः नहीं छोड़पाये। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों की अपेक्षा प्रेमचन्द का दृष्टिकोण अधिक गहराई लिए हुए हैं। कहने का आशय यह हैकि हम उन्हें पूर्ववर्ती परम्परा से एकदम अलग नही कर सकते। हॉ उस परम्परा सूत्र का उन्होंने अपने युग के अनुसार विकास अवश्य किया, उन्होनें एकदम नयी स्लेट

पर लिखना प्रारम्भ नही किया। मुंशी प्रेमचन्द ने कथा संगठन, चरित्र–चित्रण, कथोपकथन आदि की दृष्टि से वे अपने पूर्ववर्ती लेखकों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गये। कहानियों में निःसंदेह उन्होनें अपनी पूर्णतः मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया।

प्रेमचन्द जीवन सत्य का अनुसरण करने वाले कलाकार थे। वे पूर्णतः देश की मिट्टी से बने हुए थे। उनके साहित्य की विशेषता यह है कि उसका आनन्द केवल भारतवासी ही नही, मानव मात्र उठा सकता है क्योंकि युग सत्य का अनुसरण करते हुए भी वे सार्वभौम मानवनता के कट्टर समर्थक थे। प्रेमचन्द ने परिवाद को, जो व्यक्तियों द्वारा निर्मित होता है, जीवन का केन्द्र बिन्दु मानकर चले है। उनके जीवन की परिधि इसी केन्द्र बिन्दु से निरन्तर प्रसार की ओर उन्मुख होती है।

प्रेमचन्द की दृष्टि में प्रत्येक परिवार और व्यक्तियों को अपनी–अपनी सामर्थ्य के अनुसार समाज और राष्ट्र की सेवा करनी चाहिए भारतीय संस्कृति के अनुसार माने गये सभी ऋण चुकाने चाहिए। उनका परिवार और व्यक्ति समाज और राष्ट्र सापेक्ष है। समष्टिगत जीवन को महत्व प्रदान करते हुए भी प्रेमचन्द ने व्यक्ति की सत्ता भूला नही दी।

प्रेमचन्द साहित्य में अपनी सारी आशाओं तथा निराशाओं और आकांक्षाओं सहित 1900ई0 और 1936 ई0 के बीच का भारतीय जीवन और स्वतंत्रता संग्राम के 'रव' एक पतित एवं पराधीन देश का भावुकतापूर्ण आदर्श व्यक्त हुआ है और कला की दृष्टि से उसमें नवीनता है। उन्होंने एक अत्यन्त उच्च धरातल पर आसीन होकर जीवन के मूलतत्वों और सत्य का सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण से अनुसंधान किया। विविध सामाजिक धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि समस्याएं, इसी सामंजस्यपूर्ण सत्यान्वेषण की प्रधान धारा की सहायक धाराओं के रूप में है। इन सब समस्याओं के बीच वे मानव की मानवता खोजते है। जो सेवा भाव, आत्म गौरव, प्रेम और अहिंसा पर आधारित है। इस मानवोचित मार्ग से विचलित अपने प्रिय से प्रिय पात्र की भी वे तबीह किये बिना नही रहे। अपने सभी पात्रों की दुर्बलताओं और सबलताओं के बीच उन्होंने उनमें छिपा हुआ मानव उभारकर रख दिया है। पतित से पतित और स्वार्थ साधना में लिप्त पात्र भी अन्त में कोई ठोकर खाकर अपना मानवरूप प्रकट करने लगता है, वे घूरा कुरेद कर सोना निकालने की तलाश में रहते है ! जहाँ ऐसा नही किया या हो सका, वहीं जीवन खोखला, सारहीन और विकासोन्मुख है। अन्याय, अत्याचार, दमन, शोषण, पर पीड़ा

आदि का विरोध करते हुए भी वे समन्वय के पक्षपाती थे। वर्ग संघर्ष अथवा किसी 'वाद' की दृष्टि से उन्हे देखना उनके साथ अन्याय करना और उन्हें संकीर्ण परिधि में बॉधना है, उनके व्यक्तित्व को कम करना है।[1]

भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना सन् 1936ई0 में मुल्कराज आनन्द, सज्जा जहीर के प्रयत्न से प्रेमचन्द के सभापतित्व में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ हुई। सर्वप्रथम सचेतक रूप में समाज को बदलने वाले साहित्य की दृष्टि की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। अर्थ उत्पादकता का स्वामी शोषक एवं शोषित वर्ग है। शोषक वर्ग अपनी स्वार्थ सिद्ध में तत्पर रहता है। और अर्थनीति से प्रभावित रहने के कारण तत्कालीन समाज भी उसी वर्ग का निर्मित हुआ करता है। वर्गहीन साहित्य की रचना केवल वर्गहीन समाज में ही सम्भव है।

मुंशी प्रेमचन्द का उपन्यास 'गोदान' सामाजिक उपन्यास का स्पष्ट उदाहरण है इसमें अनेक तरह की समस्याएं छेदी गयी है। इसमें स्त्रियों के समानधिकार स्त्रीशिक्षा, मुक्त प्रेम सम्बन्धी जितने भी विवाद आ गये है। नागरिक या ग्रामीण जीवन का जो चित्र खींचा गया है, वह भी लेखक की भावनाओं में रंगे रहने के कारण कुछ अधिक या कम हो गया है। आज हिन्दी उपन्यास में सब तरह की समस्याएं मिल जायेगी। मेहनतकश मजदूरों, गरीब किसानों और पूंजीपतियों, जमींदारें तथा मिल मालिकों के संघर्ष को लेकर इधर अनेक उपन्यास लिखे गये है। विधवा विवाह, वृद्धविवाह, अनमेल विवाह स्त्रियों की दृदर्शा, अछूतोधार (दलितोद्वार), तलाक पति–पत्नि का पारस्परिक सम्बन्ध इत्यादि सब प्रश्नों को उपन्यास में स्थान मिला है।

फकीर मोहन सेनापति के बाद भारतीय उपन्यास में किसान जीवन के यथार्थवादी जीवन की परम्परा और कला को प्रेमचंद ने विकसित किया । उन्होनें भारतीय उपन्यास और उसकी यथार्थवादी कला को अधिक उन्नत बनाया । उनके रचनात्मक प्रयत्न से भारतीय उपन्यास और स्वाधीनता आन्दोलन के बीच अधिक आत्मीय और गहरा सम्बन्ध स्थापित हुआ। उपन्यास राष्ट्रीय जागरण में सहायक बना और सामाजिक परिवर्तन का प्रेरक भी। मुंशी प्रेमचन्द भारतीय समाज के दलित जनों–किसानों, मजदूरों, हरिजनों और स्त्रियों के प्रति अपनी अडिग पक्षधरता और गहरी सहानुभूति को छिपाते नही है।[2]

---

1. सहायक ग्रथ प्रेमचन्द की उपन्यास कला : जनार्दन प्रसाद झांद्विज, सन् 1933 ई0 प्रेमचन्द घर में, श्रीमती शिवरानी देवी, सन् 1946 ई0 प्रेमचन्द एक अध्ययन, सन् 1944 ई0 प्रेमचन्द सन् 1948 ई0 कलाकार प्रेमचन्द, सन् 1951 ई0 राम रतन भटनागर, कलम का सिपाही – अमृत राय (हिन्दी साहित्य कोश भाग एक डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा , पृष्ठ–396)
2. साहित्य के समाज शास्त्र की भूमिका : डॉ0 मैनेजर पाण्डेय, पृष्ठ–396

प्रेमचन्द की रचनाशीलता का ऐतिहासिक संदर्भ स्वाधीनता आन्दोलन का था।प्रेमचन्द के कथा साहित्य में मध्यवर्ग भी है, लेकिन केन्द्रीय स्थिति किसान जनता की है। भारतीय किसान ही उनके उपन्यासों का नायक है और इस किसान के विभिन्न रूप, जीवनसंघर्ष और मुक्ति संघर्ष में लगे हुए किसान के विभिन्न रूप, अलग–अलग रचनाअें में दिखाई देते है।

कार्ल मार्क्स ने एक जगह लिखा है कि "मै जिससे सच्चा प्रेम करता हूँ उसके अस्तित्व की अनिवार्यता अनुभव करता हूँ। प्रेमचन्द किसानों से सच्चा प्रेम करते थे और वे किसानों के अस्तित्व की अनिवार्यता महसूस करते थे।

प्रेमचन्द के हाथों हिन्दी उपन्यास की कर्मभूमि ही नहीं बदली, उसका कायाकल्प भी हुआ। 'असरारे मुआबिद' से 'गोदन' तक के रचनात्मक संघर्ष और साधना से प्रेमचन्द ने हिंदी उई के उपन्यास कहानी के कलात्मक रूप को निखार कर जिस यथार्थवादी परम्परा का निर्माण किया, उसके आधार पर ही भारतीय अपन्यास का नया विकास हो सकता है।

मुंशी प्रेमचन्द, नागार्जुन, एवं फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों की रचनाशीलता का लक्ष्य किसानों, आदिवासियों, हरिजनों, स्त्रियों, मजदूरों और दूसरे शोषित दलित जनसमुदाओं का जीवन है।

पी0सी0जोशी ने आज की किसान समस्या और उससे जुड़े प्रश्नों में प्रेमचन्द का पुनर्मूल्यांकन किया है जिससे एक ओर प्रेमचन्द को रचनाशीलता का ऐतिहासिक महत्व सामने आया है और दूसरी ओर आज के संदर्भ में उनकी अर्थवत्ता भी स्पष्ट हुई है।

पूरनचन्द्र जोशी ने आज के सन्दर्भ में होरी की त्रासदी के ऐतिहासिक महत्व की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि " कल के होरी की पराजय और अपार निराशा ही आज होरी की संतानों के लिए ऐतिहासिक प्रश्न बनकर सामने आती है आज प्रश्न यह है कि क्या भारतीय किसान कल के होरी की तरह प्राकृतिक और सामाजिक शकियों का दास या असहाय ही बना रहेगा या वह अपने मित्रों और शत्रुओं को पहचानने का विवेक प्राप्त करेगा, मित्र वर्गो से संयुक्त होकर शत्रुओं से जुझने का ऐतिहासिक कदम उठाने की ओर भी बढ़ेगा? यह प्रश्न जितना आज की साहित्यिक प्रक्रिया से जुड़ा है उससे अधिक समाज की प्रक्रिया से जुड़ा है।

उपन्यास विधा के आलावा मुंशी प्रेमचन्द के प्रमुख कहानियों का वर्णन करना भी नितांत आवश्यक है उसके बिना उनका विचारधारा अपूर्ण समझा जा सकता है।

प्रेमचन्द की कहानी 'पूस की रात' :

प्रेमचन्द द्वारा लिखित कहानीः पूस की रात अन्य कहानियों की तरह इसकी शुरूआत भी परिवार से ही होती है। "हल्कू ने आकर स्त्री से कहा सहना आया है, लाओ जो रूपए रखे हैं, उसे दे दूँ, किसी तरह गला छूटे।" इस कहानी में न कोई भूमिका – भाग है और न स्थानीय रंग। सहसा कहानी आरम्भ हो जाती है, महाजनी सभ्यता का दानव रह–रह कर प्रायः दिखाई पड़ जाता है प्रेमचन्द्र को उससे गला कहाँ छूटता है ? गला छुड़ाने के प्रयास में गला फंसता जांता है। हर जगह कर्ज के मुद्दे पर पति–पत्नि में हल्की फुल्की लड़ाई का दृश्य दिखाई पड़ता है लेकिन हर जगह स्त्री की हार होती है । 'पूस की रात' में जबरू है। आत्मीयता, संग–साम, कर्तव्य – निर्वाह में आदमी कुत्ते की बराबरी क्या करेगा ? हल्कू की हंसी से कहानी का समापन होता है। यह हंसी से मजदूर होने की व्यथा–कथा है।

'पूस की रात' में प्रेमचन्द किसी मिथ्या आशावाद या आदर्शवाद के झमेले में नहीं है। कहानी को बिना वजह किसी उद्देश्य से जोड़ना भी उन्हें जरूरी नहीं लग रहा है। कहानी क्या है? एक रात का अनुभव। एक स्थिति का अनुभव, एक नकारात्मक निर्णय का अनुभव भी । रात की ठण्ड खेत की रखवाली कर रहे हल्कू किसान को हिला देती है। वह कुत्ते 'जबरा' के साथ ठण्ड को काँटने का बहुविध प्रयास करता है– फिर वे दोनों सो जाते हैं । नीलगायें सारा खेत चर जाती है। कहानी का अन्त यह है "दोनों फिर खेत के डाँड़ पर आए। देखा सारा खेत रौंदा पड़ा है। मुन्नी ने चिंतित होकर कहा– अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी। हल्कू ने प्रसन्न मुद्रा से कहा–"रात की ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।" जाहिर है कि कोई समाधान नहीं है । अण्डरटोन ही कहानी को एक अर्थपूर्ण संगठन दे सका है। समाज में सताएं हुए मुन्नी और हल्कू जैसे मुनष्यों के मन में जा भावनाएं, जो संघर्ष, जो कुंठाएं तैर रही हैं, उन्हीं की अभिव्यक्ति प्रस्तुत कहानी की आत्मा है।

'कफन' तो प्रेमचन्द के आर्दशों का कफन है, आदर्शवादिता का पूरा नकारा कुछ लोग इसमें अविश्वनीयता देखते हैं और कुछ लोग चेतना की स्तब्धता। दरअसल आदमी

यथार्थ को देखना नहीं चाहता, वह बड़ा कठोर और निर्मल होता है। इसलिए हम यथार्थ और अयथार्थ की खोल चढ़ा लेते है क्योंकि हमें भ्रम में जीना अच्छा लगता है। प्रेमचन्द ने अयथार्थ की खोल खींचकर यथार्थ को नंगा कर दिया है। यही इस कहानी का वैशिष्ट्य है। जो लोग विमानवीकरण के लूकाच का सूत्र पकड़ कर केवल पूँजीवादी समाज और मजदूरों में देखने के अभ्यस्त हैं उन्हें प्रेमचन्द ने बताया है कि यह प्रक्रिया खेतिहरों के बीच काम करने वालें मजदूरों में भी हो सकती है। धीसू माधव लोग बाग को अस्वीकार करते हैं, मानवीय संवदेना को अस्वीकार करते हैं । रोना –गाना छाती पीटना अस्वीकार के नाटकीय प्रकरण है।

एक समय है कि आलू के लिए बाप–बेटे एक दूसरे से कपट करते है और बुधिया की कराह अनसुनी रह जाती है। एक समय था कि क्रिया–कर्म में किसान उधार लेकर तबाह हो जाते थे। एक समय है कि क्रिया–कर्म के लिए प्राप्त रूपये की शराब उड़ाई जाती है। एक समय है कि घीसू – माधव न काम करेंगे न खाएंगे मेहनत करने पर भी बुधिया को दवा दारू की जगह मौत मिलेगी और मेहनत न करने पर भ इसका दायित्व उस महाजनी जमींदारी व्यवस्था पर है जो अपने फायदे में गरीब सर्वहारा वर्ग का दोहन करती है। आर्थिक व्यवस्था पर जब कुछ लोगों का एकाधिपत्य हो जाता है, तो नैतिकता, धार्मिकता, सामाजिक मान्यताओं की संरचना ढह जाता है। जिस संरचना पर प्रेमचन्द का प्रारम्भ में करना अधिक विश्वास था वह चरमरा कर टूट जाता है और कहानी की व्यंजना परिवर्तन की जोरदार मांग करती है।

यशपालः

प्रगतिशील कथाकर यशपाल का नाम सुप्रसिद्ध है जिन्होंने अपनी लेखनीय के माध्यम से यथार्थवाद का सम्पुष्ट विवेचन अपने उपन्यासों में किया है। इनकें उपन्यास झूठासच, मनुष्य के रूप, देशद्रोही एवं दादा कामरेड़ मुख्यतः मार्क्सवादी विचारधारा से ओत प्रोत है। प्रगतिशील साहित्य भारतीय सामाजिक चेतना के विकास में स्थान रखता हैं यशपाल का यथार्थवाद मार्क्सवाद विचारधारा पर निर्भर है। वह समाजिक स्तर पर भारतीय जन जीवन के उन पक्षों का विश्लेषण करता है जो तीब्र संघर्ष और सामाजिक द्वन्द्व के कारण पूँजीवादी सभ्यता और संस्कृति के परिणाम है। यशपाल का सम्पूर्ण साहित्य रूढ़िवादी परम्पराओं, पूँजीवादी सभ्यताओं तथा संस्कृति के विरूद्ध जनसामान्य

की विजय की घोषणा करता है तथा भारतीय समाज और जीवन को नई दिशा प्रदान करने का प्रयत्न करता है। वह सामाजिक जीवन के नये आयामों और क्षितिजों को भी रेखांकित करता है। आज की मुख्य समस्या अर्थ ही पूँजीवादी विषमता की जड़ है। समाज के एक छोर पर शोषक वर्ग है (जिन्हें पूँजीपति कहा जाता है, तो दूसरे छोर पर है शोषित वर्ग सर्वहारा), बीच में बेचारा मध्यवर्ग आर्फसता है। यशपाल ने इसी मध्यवर्ग को अपने साहित्य में केन्द्रित किया है। यशपाल ने मध्यवर्ग के समक्ष आने वाली विभिन्न समस्याओं पर विचार कर उनके अनुकूल कथानक चयन किये है।

यशपाल ऐसे ही उपन्यासकार है, जिनपर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पड़ा था। अपने उपन्यासों में यशपाल ने सामाजिक यथार्थवाद को अभिव्यक्ति दी । सामाजिक यथार्थवाद का मुख्य उद्देश्य पूँजीवाद के नाश और वर्गविहीन समाज की स्थापना में योग देना है।[1] पाठकों पर भी इस विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा और उपन्यासों में भी इसी विचारधारा को खोजने लगे। एक पाठक प्रकाश सक्सेना ने यशपाल के उपन्यासों पर टिप्पणी करते हुए लिखा था " यशपाल के उपन्यासों की मुख्य विशेषता उनका तीखा और चुभता हुआ व्यंग है। प्रेमचंद का व्यंग भी काफी जोड़दार होता था। अपने उपन्यासों और कहानियों में उन्होनें धर्मपर सामाजिक कुरीतियों पर मिथ्या विश्वासों पर निर्भर चोटें की है। परन्तु यशपाल का व्यंग उससे भी अधिक कटु और छिदता हुआ है। हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द से मिले व्यंग्यास्त्र को यशपाल ने अपने उपन्यासों में और भी अधिक तेज और नुकीला किया है। ऐसे उपन्यासकार यदि भविष्य में भी हिन्दी का मिलते रहें तो कोई शक नही कि हिन्दी सरलता से विश्व उपन्यास में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना सकेगी ।[2] इस सजग कलाकार ने हिन्दी कथा साहित्य को बहुत योग बढ़ाया है और अभी तक उसको अबोध गति में कोई विराम चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता।"[3]

यशपाल नारी स्वतंत्रता के पक्षधर हैं । वे नारी की समस्या के मूल में उसकी आर्थिक परतंत्रता को स्वीकारते है। उन्होनें विवाह और परिवार के सम्बन्ध में भी अपनी कृतियों के माध्यम से मार्क्सवादी विचार धाराओं को मूर्तरूप देने का प्रयत्न किया है। यशपाल का आग्रह प्रेम विवाह और परिवार के प्रति इतना प्रबल है कि उनके औपन्यासिक पात्र प्रवृत्ति से विवाह विरोधी है। बेजान बुझकर अथवा अनजाने में विवाह

---

1. हिन्दी उपन्यास : डॉ0 सुषमा धवन, पृष्ठ–284
2. मासिक वीणा, नवम्बर सन् 1945 ई0
3. वही, नवम्बर सन् 1945 ई0

से कतराते है और यदि वैवाहिक बन्धन में पड़जाते है तो उसे तोड़ फेकने के लिए छटपटाते है।

यशपाल के उपन्यास साहित्य में अनैतिक मूल्यों सामाजिक व्यवस्थाओं का विरोध मिलता है, जो स्वस्थ समाज के विकास में बाधक है। भारत में क्रांतिकारी स्वतंत्रता आन्दोलन का चित्रण किया है, जो एक दृष्टा और सहयोगी के चरित्र का अंकन भी करता है।

प्रगतिशील लेखकों ने अपनी कृतियों द्वारा समाज की जनवादी और उदारवादी परम्परा की सुरक्षित रखने का प्रयास किया है । इसमें साहित्यिक न्यूनता है, किन्तु भविष्य में हो सकता है कि जीवन के प्रगतिशील मानदण्ड और कलात्मक वैभव से समन्वय स्थापित हो सके । प्रत्येक युग में कला और सामाजिक उपयोगिता की इस वर्तमान स्थिति में हमारे सामने भी है। लोक संग्रह और कला का समन्वय ही इस प्रश्न का समाधान है।[1]

यशपाल जी के विचारों में राजनीतिक आवेश नहीं है, बल्कि है एक मर्म गहराई है, उनमें प्रगति के नाम पर एमोशनल एटैचमेंट नहीं है, आज जबकि इसी का बोलबाला है। यही कारण है कि हिन्दी उपन्यास पाठकों में वे अत्यन्त प्रिय है।[2]

"यशपाल में मार्क्सवादी विचारधारा फायड़ की कामशक्ति से मिलकर चलती है वे पूँजीवादी और गांधीवादी का विरोध करते हुए समाजवाद का समर्थन करते है।...... वे प्रेमको कामेच्छा मात्र मानते है इस सन्दर्भ में यशपाल के उपन्यास दादा कामरेड(1941), पार्टी कामरेड(1946),मनुष्य के रूप(1949) आदि उल्लेखनीय है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार नाश में ही सृजन होता है।"[3] इसका समर्थन राजेन्द्र यादव ने नाश को ही शिव मानकर किया है– हमें उसके साथ नाचना है वह शिव है हम प्रेत है[4]

यशपाल के सम्बन्ध में यह कहना निराधार नहीं है कि उन्हें सामाजिक यथार्थ में केवल आर्थिक विषमता को ही पहचाना है कटुता भरी अन्य समस्याओं को नहीं। उन्होंने अपनी समस्त शक्ति का उपयोग पूंजीवादी समाज पर प्रहार कर सामंती व्यवस्था के खोखलेपन को सिद्ध करने में ही लगाया है। इसके अतिरिक्त कुछ भी पहचानने या समझने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी।

यशपाल के उपन्यास लिखने का प्रयोजन है कि " मेरा अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि मनुष्य समाज परम्परागत विचारधाराओं का दास नहीं है, बल्कि अपनी

---

1. राष्टीयता और समाजवाद : डॉ0 नरेन्द्रदेव (सहयोग मंच)
2. मासिक वीणा, फरवरी सन् 1946 ई0
3. हिन्दी लेखिकाओं के स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में पुरूष कल्पना डॉ0 (श्रीमती) उर्मिला प्रकाश, पृष्ठ–49
4. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (27 मार्च 1977 ई0) : सुभा वर्मा

विचारधारा का स्रष्टा है। समाज के जीवन में प्रायः घटने वाली घटनाओं को उपन्यास केपरीक्षण पात्र में रखकर यह दिखाना चाहता है कि किस प्रकार इन घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है यह समाज के नये अनुभव कैसी नयी विचारधारा को जन्म दे देते है।" यशपाल के उपयुक्त विचारों से तो यह स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि उनके उपन्यासों का लक्ष्य एकं विशिष्ट चिन्तन धारा का प्रचार करना है। यही कारण है कि यशपाल के पारत्र नवीन चिन्तनधारा अथवा मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ही निर्मित किए गए है। मार्क्सवादी चिन्तनधारा से प्रभावित पाठक यशपाल के साहित्य को अत्यधिक पसंद करते थे। यशपाल पर प्रचार का जो आरोप लगाया जाता है उसके उत्तर में एक स्थानपर उन्होंने लिखा है–"साहित्य और कला के प्रेमियों को एक शिकायत मेरे प्रति है कि कला को गौण और प्रचार को प्रमुख स्थान देता हूँ। मेरे प्रति दिए गए इस फैसले के विरूद्ध मुझे अपील नहीं करनी है, संतोष है, अपना अभिप्राय स्पष्ट कर पाता हूँ।[1]

'श्री श्याम परमार' के शब्दों में " यशपाल की रचनाएं सारगर्भित होती है। उनका गाभीर्य एकाएक पाठक को आकर्षित नहीं करता। विचारों की श्रृंखला कोठीक से न पकड़ सकने के कारण लेखक की मान्यताएं समझ लेने पर भी सामान्य पाठक के लिए वह अग्राहय बन जाती है। अनुभूति का निचोड़ रखकर अपने मत को यशपाल जबर्दस्ती पाठक पर थोपना नहीं चाहते । यशपाल की लेखनी में आत्मविश्वास है।[2]

इस प्रकार भारतीय साहित्यकारों में सशक्त साहित्यकारों के एक वर्ग ने सर्वहारा और उनकी समस्याओं को तथा परिवर्तित परिस्थितियों को बहुत गहराई के साथ उठाया है।

चारित्रिक प्रधान उपन्यास 'मनुष्य के रूप में सोमा न जानें क्या से क्या हो जाती है पर उन सब रूपों में एक आन्तरिक साम्य है कह सकते है कि परिस्थितियों के साथ संगति बैठा देना उसके चरित्र की विशेषता है।

नागार्जुन :

हिन्दी कथा साहित्य के सुविख्यात प्रगतिशील व यथार्थवादी धारा के प्रमुख कवि–कथाकार नागार्जुन। वस्तुतः अपने कथा–परिवेश को कहकर नहीं, रच कर उजागर करते हुए मैथली भाषा का प्रयोग किया है। कथा एक पूरी धरती, एक पूरा

---

1. दादा कामरेड (भूमिका) : यशपाल
2. हिन्दी उपन्यास युग चेतना और पाठकीय संवेदना : डॉ0 मुकुन्द तिवारी, पृष्ठ–134

परिवेश और फिर शब्दांकुरो की शक्ल में विकसित होती है। उपन्यास एक अप्रितम स्थान रखता है। इनकी प्रसिद्ध कथा–कृतियां उल्लेखनीय है।

नागार्जुन का सुप्रसिद्ध उपन्यास 'बलचनमा' यथार्थवादी आंचलिक उपन्यास माना जाता है आंचलिक उपन्यासों का विकास उत्तरी बिहार व पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांवों का प्रतिनिधित्व करता है इसमें ग्राम जीवन को लेकर केवल ग्रामीण समस्याओं तक ही लेखक सीमित नहीं रहा है। उसने गांव की अन्तरात्मा को भी पूरी तरह स्पष्ट किया है प्रेमचन्द्र के अधिकांश उपन्यास भी ग्रामीण–समस्या को लेकर ही लिखे गये है, लेकिन उनकी बहुत बड़ी सीमा थी कि उन्होंने व्यक्तियों का उतना ध्यान नहीं दिया जितना समस्याओं की ओर। लेकिन नागार्जुन ने समस्याओं के साथ–साथ व्यक्ति का भी अद्भूत समन्वय करने की चेष्टा की है और यही कारण है कि इस उपन्यास बलचनमा में स्थूलता नहीं बल्कि सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति अत्यन्त कलात्मक ढंग से हुई है। जो इसे प्रेमचन्द्र के ग्राम चित्रण से अलग करती है। तथा उन्होंने अनमेल विवाह, विधवा विवाह जीमींदारी का अत्याचार, कर्ज, किसानों और मजदूरों की कठिनाइयां आदि बातों को नागार्जुन ने अपने कृतित्व का आधार बनाया है। साम्यवाद की ओर उन्हें विशेष झुकाव है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों को उन्होंने आत्मसात् किया है। और देहाती जीवन से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

'बलचनमा' नागार्जुन का धरती और किसान से सम्बंधित उपन्यास है तथा ग्रामीण पात्रों को इतनी मानवीयता, सहृदयता तथा काव्यममता से संजोया गया है। बलचनमा एक भूमिजीवी श्रमिक का पुत्र है वह बाल्यावस्था में ही जमींदार के यहां नौकरी करता है। उसका बाप अपने मालिक के बाग से किसान भोग चुरा ले जाता है। मालिक को जब इस तथ्य का ज्ञान होता है तो उसे बुरी तरह पीटा जाता है और अन्त में अपना दम ही तोड़ देता है। गृहस्थी का सारा भार अब बलचनमा पर आ पड़ता है जिस धरती पर उसकी झोपड़ी है वह अपने मालिक की ही है बलचनमा परिश्रमी है ईमानदार है किन्तु मालिक के यहां उसका मूल्य नहीं आंका जाता है। उसे दिन भर उलाहने सहने और मारखानी पड़ती है। अन्त में बलचनमा धरती, खेत ओर किसान के हितों की रक्षा का भार वहन करते हुए अपने वर्ग को जगाता है।

भारत की पीड़ित, गरीब और शोषित जनता के भावों और विचारों को इस उपन्यास मे वाणी मिली है। उपन्यासकार का उद्देश्य किसानों और मजदूरों को

संघटित करने और संघर्ष के लिए आह्वान करने का रहा है। जमींदारों के शोषण, अत्याचार, अमानवीयता, दुराचार आदि के ह्रदयविदारक चित्रण इसमें बहुलता से मिलते हैं। जमींदारी शोषण का विरोध करने के लिए बलचनमा किसानों का संघटन करता है और निरंतर संघर्ष करता है। उसे आत्मबोध होता है कि शोषित बने रहना जिन्दगी नहीं है। एक प्रसंग में उसका ओजपूर्ण आह्वान है–' और जिन्दगी अनमोल चीज है भैया........ धरती किसकी ? जोते बोये उसकी! किसान की आजादी आसमान से उतरकर नहीं आयेगी। वह परगट होगी नीचे–जुती धरती के भुरे–भुरे ढ़ेलों को फोड़कर..........।[1] जमींदारी शोषण के खिलाफ कृषक मजदूरों की जागृति का चित्रण इस उपन्यास का आधार है। मार्क्स ने मजदूर वर्ग को जगाने का उद्‌बोधन किया था नागार्जुन के ध्येय की ओर इंगित करते हुए एक समीक्षक ने ने लिखा है"उसके उद्‌देश्य को एक पंक्ति में कहां जाये तो कहना होगा–उठो अपने को पहचानो और विरोधी परिस्थितियों को परिवर्तित कर नया समाज बनाओ।"[2] वर्ग वैषम्य, शोषण एवं बुर्जुआ मनोवृत्ति पर लेखक नेकठोर व्यंग्य किये हैं शोषकों के प्रति रोष और शोषितों के प्रति सहानुभूति प्रकट की गयी है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों के समावेश में कृत्रितमा जगह–जगह पर अवश्य खटकती है।

उषा प्रियम्वदा :

हिन्दी की विशिष्ट कथाकार उषा प्रियंवदा का बहुचर्चित उपन्यास "रूकोगी नहीं राधिका" एक ऐसे संभ्रान्त परिवार की कहानी है जिसके प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तित्व को लेकर निज में केन्द्रित, अन्य से अलग–अलग होकर जी रहा है, जीना चाहता है इस परिवार की एक लड़की राधिका शिकागो विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर करके स्वदेश लौटी है।

राधिका अपने बाप या परिवार के अंकुश को मानने वाली लड़की नहीं है। स्वेच्छा और आत्मनिर्णय के हकों को वह किसी भी परिस्थिति में नहीं छोड़ती। मध्यवर्गीय नायिका अपने अस्तित्व एवं स्वतंत्रता की खोज में भटकती रहती है। पिता की दूसरी शादी होने पर अपने अस्तित्व को घर में निरर्थक समझती है। विमाता का अस्तित्व अपने घर में वह सह नहीं पाती और वहां न रह सकने का विचार करती है। चिन्ता के आकांक्षा व्यक्त करने पर वह उसके साथ चले राधिका ईर्ष्यावश अपनी स्वतंत्रता और अस्तित्व का बोध कराती हुई कहती है " जो आप चाहते है वही हमेशा

---

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–20
2. नागार्जुन, जीवन और साहित्य : डॉ0 प्रकाश चन्द भट्ट, पृष्ठ–178

क्यों हो? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नहीं है? मैं आपकी बेटी हूँ यह ठीक है पर अब मैं बड़ी हो चुकी हूँ और मैं जो चाहूंगी वही करूंगी''।[1]

राधिका डानियल पीटरसन के साथ विदेश जाती है, परन्तु उसके साथ तादाम्य स्थापित करने में समर्थ रहती है डेन यह कहकर उसे मुक्त करने का निश्चय करता है कि ''राधिका तुम मुझमें अपना पिता ढूँढ़ रही थी, वही पिता जिसे त्रास देने के लिए तुम मेरे साथ चली आयी थी पर मैंने तुमारे पिता की जगह स्थापित न होना चाहा, मैं तो स्वतंत्र व्यक्ति हूँ''।[2] अपनी इस मानसिक स्थिति पर राधिका भी विचार करती है कि उसे कोई पुरूष क्यों अच्छा नहीं लगता और वह विदेश से घर लौट आती है। एयरपोर्ट पर किसी आत्मीय सम्बन्धी को न देखकर उसने अपने अस्तित्व की निरर्थकता का भान होता है वह बार–बार अनुभव करती है कि तीन वर्ष बाद घर लौट आयी है और उससे मिलनें कोई नहीं आया है ''घर यदि घर है। पापा का घर? बड़े भाई का घर? दोनों में से किसी ने यह जरूरत अनुभव न की कि राधिका से कोई मिलकर उसे साथ लें आये''।[3] पापा से मिलने पर वह आशा करती है कि वे उसे रोकेंगे, परन्तु उनके यह कहने पर कि ''जैसा तुम ठीक समझो। अब तो तुम समझदार हो गयी हो।''[4] राधिका अलग रहने का प्रबन्ध कर अपने अस्तित्व को बचाये रखती है।

राधिका मित्रों में, प्रेमी में प्रेमी नहीं पिता को ढूढ़ती है जो संरक्षण प्रदान करता है अक्षय राधिका को उसके मूड्स, समस्याओं और विगत सहित स्वीकार करने का निर्णय करता है राधिका विमाता की मृत्यु के पश्चात यह आशंका व्यक्त करने पर भी कि वहां पहले की भांति रहे, इन्कार कर अपने अस्तित्व का तीव्र बोध कराती है–'' नहीं पापा, मैं जाना चाहती हूँ। मनीष.........मेरे एक बन्धु है''[5] वह बातचीत में छोड़कर रूक गयी।

अजनबीपन और अकेलेपन से यह रिक्तता निःसृत थी। डा० इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है–''राधिका ने अकेलेपन अपनाया है और सुषमा का अकेलापन उस पर थोपा गया है। राधिका के अजनबीपन में आधुनिकता का बोध उजागार होता है। उपन्यासकार का यह विचार है कि विदेशी वातावरण ने इसे अकेलेपन और अजनबीपन को मुखर किया है।''[6]

---

1. रूकोगी नहीं राधिका : उषा प्रियम्वदा, पृष्ठ–61
2. वही, पृष्ठ–61
3. वही, पृष्ठ–15
4. वही, पृष्ठ–68
5. वही, पृष्ठ–167
6. हिन्दी उपन्यास एक नई दृष्टि : डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, पृष्ठ–15

अमृतराय एक प्रगतिवादी उपन्यासकार है, उनका उपन्यास.'बीज' साम्यवाद से प्रभावित है, इसमें नायक सत्यावान स्नातकोत्तर की पढ़ाई कर रहा है उसी दौरान सन् 1942 ई0 का स्वतंत्रता संग्राम छिड़ जाता है सत्यवान उसमें भाग लेकर जेल चला जाता है जेल में वीरेन्द्र नामक व्यक्ति से परिचय होता है जो साम्यवाद का समर्थक है। सत्यावान को सत्यवादी बनाकर लेखक ने उपन्यास में मार्क्सवादी बातों के प्रतिपादन के लिए अवसर ढूंढ़ निकाला है। आजादी मिलते वक्त किसानों और मजदूरों की अनेक मनोकामनाएं थीं सन् 1947 ई0 में प्राप्त स्वाधीनता से किसान मजदूरों के जीवन का स्तर वही बना रहा जो पहले था। यह कैसी सुबह हुई जिसमें रात का अन्धेरा नहीं कटा, सुबह का नूर नहीं फैला, वही भूख; वही जहालत, वही चीथड़, वही गूदड़, वही लड़ाई वही झगड़े सब कुछ वहीं[1] सत्यवान पहले कांग्रसी था, वीरेन्द्र के सम्पर्क में आकर वह मार्क्सवाद से प्रभावित होता है। गांधी जी की अहिंसा नीति की तीखी आलोचना करते हुए सत्यवान कहता है "गांधीजी ने देश को डंडा गोली खाने को ही शिक्षा दी, डंडा गोली चलाने की नहीं जिसके बिना कभी कोई देश आजाद नहीं हुआ करता'[2]

मार्क्स और एंगेल्स का कम्युनिष्ट घोषणा–पत्र का प्रभाव सत्यवान के विचारों में मिलता है। संघर्ष में समाज का विकास होता है। वह सोचता है " समाज में यह जो अमीरी गरीब का भेद है, उसी में उस संघर्ष का बीज छिपा हुआ है, जिससे समाज आगे बढ़ता है.........अमीर का संघर्ष अपने मालिकाने को बनाये रखने के लिए और गरीबी का संघर्र्ष गरीबी के घेरे से बाहर आने के लिए। यही वह कोयला पानी है जिससेसमाज के इंजन में हरकत आती है।[3]

बीज, उपन्यास में युवा वर्ग शांति की अपेक्षा क्रांति में विश्वास प्रकट करता दिखलाया गया है। वीरेन्द्र, अमूल्य, ज्योति, एवं सत्यवान मार्क्स के विचारों के समर्थक है। युवा वर्ग में वर्ग संघर्ष की भावना तीव्र रूप से मिलती है गांव में सर्वहारा वर्ग की भावना का विकास हो दिखलायी दे रहा है। जमींदारों और किसानों में वर्ग–संघर्ष का सूत्रपात हो चुका है। इस उपन्यास में पूँजीवादियों पर प्रहार। किसान मजदूर वर्ग का आवेग, गांधीवाद की आलोचना आदि तत्वों का समावेश है।

राजनैतिक दृष्टि से 'हाथी के दाँत' उपन्यास में आर्थिक असमानता, कांग्रेसी दुर्नीति आदि बातें इसमें समाकलित है। ठाकुर पदम सिंह स्वाधीनता के बाद कांग्रेस का

---

1. बीज अमृत राय, पृष्ठ–262
2. बीज अमृत राय, पृष्ठ–26
3. बीज अमृत राय, पृष्ठ–55

सक्रिय सदस्य और बाद में सत्ताधारी भी बनता है। उसका सारा आदर्शवाद खोखला है स्त्रियों को अपनी विलास लालसा का शिकार बनाता है। उसकी कथनी करनी में बहुत अन्तर है डा0 ब्रजभूषण सिंह का मन्तव्य है –खद्दर, गांधी टोपी और देश भक्ति का ढ़ोग केवल दिखावे के दाँत है सभी जानते है कि इस कांग्रेस रूपी हाथों के खाने के दांत और ही है।[1] इस उपन्यास में खान का मालिक हीराजी आज के महंगाई के युग में आदमी के जीवन को सबसे सस्ता माना है। समाज में असमानता व्याप्त है इसमें शोषण की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण किया गया है पर दमन सिंह (सामन्तवादी) के जुल्मों के विरूद्ध रामसिंह (शोषित) सर्वहारा वर्ग का प्रतीक जनता को संगठित कर सामन्तवाद का अन्त करके ही चैन लेता है। सामाजिक असमानताओं और आर्थिक शोषण की परिस्थितियों का चित्रण इस उपन्यास में प्राप्त है।

****

1. हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन : डॉ0 ब्रजभूषन सिंह, पृष्ठ–363

दूसरा अध्याय

सर्वहारा वर्ग से जुड़े विशिष्ट उपन्यासों का अनुशीलन :

(क) स्वातंत्र्योत्तरकाल क्रमागत उपन्यास :

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यद्यपि परम्परा के प्रति विद्रोह की प्रवृत्ति को लेकर विकसित हुआ फिर भी ऐसा नहीं कि उसमें परम्परा की कड़ी पूर्णतः उर्ध्वरत हो गयी है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द की परम्परा को लिया जाय। नये उपन्यासों में इनके अन्तर्गत जिन ग्राम कथाओं को सम्मान मिला है। उनमें नये गांवो को बहुत सम्वेदनीयता के साथ चित्रांकित किया गया है बल्कि यह कथन उचित होगा कि दीन–दुखी अथवा पीड़ित–शोषित लोगों को नये उपन्यासों में बहुत सशक्त वाणी दी गयी हैं। आंचलिक कृतियां हो या अनांचलिक ग्रामकथा हो वास्तविकता यह है कि बिना सर्वहारा वर्ग के चित्रण के वह पूर्णतया को नहीं पहुंच सकती है। प्रेमचन्द तथा राजनीतिक दबाव आज सा सघन नहीं था। इसके फलस्वरूप राजनीतिक वादो से, विशेषकर साम्यवाद से प्रभावित अथवा जनवादी–वामपंथी आदि उपन्यासों की रचना इधर स्पष्ट रेखांकित की जा सकती है। इसका अर्थ यह नहीं कि राजनीतिक प्रतिबद्धतावश उठाये जाने वाले ग्राम गंधी या आंचलिक उपन्यासों में ही सर्वहारा का चित्रण है। यह वर्ग वर्तमान विकासशील भारत की एक पहचान बन गया है। अतः समाज के चित्रों से पूर्ण किसी भी स्तरीय कृति में इनका चित्र मिल जायेगा। प्रस्तुत प्रबन्ध के इस अध्याय में कुछ ऐसे विशिष्ट उपन्यासों की रूपरेखा प्रस्तुत की जायेगी जिसमें सर्वहारा वर्ग का स्पष्ट और प्रभावशाली चित्र प्रमाणिकता के साथ उभारा गया है।

पानी के प्राचीर :

लब्धप्रतिष्ठ जागरूक कथाकार रामदरश मिश्र ने प्राक स्वतंत्रता सर्वहारा जीवन के व्यापक यथार्थ का चित्रण अपनी प्रख्यात कृति "पानी के प्राचीर" में किया है। राप्ती के अभिशप्त अंचल का दरिद्र, अशिक्षा, अज्ञान, बेकारी, वैमनस्य और जीर्ण–शीर्ण

मान्यताओं को ढ़ोते, जनजीवन का सफल चित्रांकन अपनी समस्त संगतियों के साथ उपन्यस्त है।

गोरखपुर जनपद के कछार अंचल के समस्याग्रस्त जीवन की झलक कृति के प्रारम्भ में ही मिल जाती है। होली के रंगारंग और उल्लास के मध्य पाण्डे पुरवा की दरिद्रता का प्रतिनिधित्व करने वाले केवल निम्नवर्गीय रामदीन और निरबल तेली ही नहीं है वरन सम्भ्रान्त सुशिक्षित सुमेश का उच्चवर्गीय परिवार भी इन्हीं के समकक्ष सर्वहारा की श्रेणी में खड़ा है। सुमेश के निम्न मध्यवर्गीय परिवार की आन्तरिकता, आर्थिक अभाव में निरंतर टूट रही है। महापर्व के अवसर पर जहाँ सही सलामत कुर्ते की आकांक्षा व्यक्त करने पर अबोध बालक को चट्ट–चट्ट थप्पड़ों से पीटा जाता है। भूख से कुलबुलाती अतड़ियो को सरसों के साग पर ही संतोष करना पड़ता और गांव के सवर्ण और उच्च कहें जाने वाले समाज की अर्थहीन नियति को पग–पग पर आहत और अपमानित होना पड़ता है, वहां इनकी सर्वहारा से बिलग स्थिति कहां है? कथाकार जीवन की टूटने, घुटने और पीड़ा को आर्थिक अभाव के परिपेक्ष्य में मूल्यांकित कर मर्मस्पर्शी वास्तविकता को बड़ी गहराई से उभरता है सामूहिक जीवन की समस्याओं का इतना पारदर्शी प्रत्यंकन शायद ही किसी और कथाकार ने किया हो।

कृति में समाज को यौन समस्या को स्वाभाविकता और प्रमाणिकता के साथ उद्घटित किया गया है। पाण्डें पुरवाँ का समाज यदि एक और आर्थिक अभाव में विश्रृंखलित हो रहा है, तो दूसरी ओर बैजू और बिंदिया के संदर्भ भी उसे कम नहीं तोड़ते? बैजू अपने आर्थिक अभावों की पूर्ति दूसरों के हनन द्वारा कर लेता है तो अस्पृश्या बिंदिया अपने अनेकमुखी समस्याओं को चाहे वह आर्थिक हो या यौनपरक बैजू के सहारे सुलझाने का प्रयास करती है तो सवर्ण समुदाय में हलचल मच जाती है। निम्न वर्ग और उच्चवर्गीय यौन सम्बन्धों के प्रति समाजिक दृष्टिकोण के चित्रांकन में कथाकार तटस्थता से सब कुछ अंकित करता है।

परतंत्रावस्था में भी अस्पृश्यों में अन्याय के प्रतिकार की भावना उदित हो रही है। विरेदर जैसे मालिकों के प्रहार से पुनिया की अंगुली से टपकते रक्तकण लवंगी को आक्रोश और प्रतिशोधमयी भावनाओं से भर देते है। वह हंसुवा तानकर खड़ी हो जाती है 'क्या रे दहिजरा तेरे बाप की कमाई खाते हैं, मेरी बहन को तून काहें मारा। इसी हंसुवे से कलेजा चीर दूंगी, परान खींच लूंगी' कथाकार दलितोन्मेष की प्रभावकारी मुद्राओं का

उभार प्रस्तुत करता है। भले ही विपरीत स्थितियों में वह दमित हो जाती है। कथाकार अपनी कृति के संदर्भ में अपने इस अभिमत को स्पष्ट करता है कि स्थानीय जीवन के समस्त सत्यों और पक्षों को चित्रित कर इस भूभाग के संश्लिष्ट व्यक्तित्व को उभारना ही इसका लक्ष्य है किन्तु इस भूभाग के संश्लिष्ट व्यक्तित्व के माध्यम से राष्ट्र और युग चेतना ध्वनित है।

निश्चय ही कथाकार कृति के संश्लिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से चाहे वे किसी भी वर्ग के हो युगधर्मी संश्लिष्ट यथार्थ और नवचेतना का प्रभाव प्रस्तुत करता है। परिवर्तित युग के संदर्भ में सर्वहारा समाज की गतिशीलता का प्रामाणिक चित्रण कृतिकार सवर्णों–असवर्णों के मध्य पाने वाले यौनाचार में रूपायित करता है जिसे संस्कारशील समाज सहन करने में असमर्थ है। फलतः विद्रोह की पृष्ठिभूमि निर्मित हो रही है। यौनाचार की टूटती श्रृंखलाओं के मूल में सर्वहारा जीवन के अभाव, भौतिक चकाचौंध के प्रति आकर्षण और समर्थो की अनौचारिता का बहुत बड़ा हाथ हैं। यौन विकृतियों के विकास में सहायक अनेक समस्यायें बैजू को भटकाव धर्मी आयतता प्रदान करती हैं। तो बिंदिया की अवृप्ति केवल यौनाचार तब ही केन्द्रित नहीं हैं वरन् उसकी जड़ें बहुत गहरी है। जमीनदारों के चंगुल में फंसे सर्वहारा समाज की दयनीय स्थिति को कथाकार झिंगुरिया चमार की अन्तर्कथा में रूपायित करता है। लगान न देने के कारण डेहरी में छिपे झिंगुरिया को सिपाही ने केवल निर्दयतापूर्वक घसीट ले जाता है वरन उसकी युवा सुन्दरी पत्नी को भी अपमानित करते हैं। कथाकार न केवल निम्नवर्गीय समाज का, आर्थिक, समाजिक और नैतिक अधोगति का रेखांकन करता है वरन् टीशुन, अन्नू पाण्डे और रग्घू बाबा के भिक्षाटन संदर्भ में सर्वहारा की स्थिति तक पहुंचते उच्चवर्गी समाज का भी प्रभावशाली अंकन करता है।

परतंत्रता की अवस्था में दुर्दशा ग्रस्त सर्वहारा समाज के सम्मेख स्वराज्य प्राप्ति की आशावादिता का सहज चित्रण उपस्थित है। हरिजन नेता फेंकू के कर्त्तव्यों ने इनके हृदय में आशा की नई किरण जगा दी है। स्वतन्त्रता पूर्वक सवर्ण समाज इन्हें कुत्ते की तरह दुत्कारता है, मुखिया कहते हैं कि चमार सियार सभी चले हैं सुराज लेने। नेता बनेगें सभी लोग। सभी कुत्ते गंगा नहायेगे तो पता नहीं पत्तल कौन चाटेगा? इनके गांधी जी कहते हैं कि ये लोग राजा होगें। आज शाम तक जगह खाली नहीं कर दी तो झोपड़ी में आग लगवा दूंगा'।[1] तो इस प्रताड़ना के प्रत्युत्तर में विवश दलित वर्ग का

1. पानी के प्राचीर : डॉ0 राम दरश मिश्र, पृष्ठ–305

नेता फेंकू दीन भाव से कहता है कि मैं तो अभी जिन्दा हूं खुद काम करूंगा, आपका किन्तु कुछ क्षण उपरान्त ही स्वतन्त्रता की लहर में बहता फेंकू अवमानना ओर घृणा की नजरों से उन्हें घूरता रह जाता है। कथान्त में कथाकार इस बदलाव को प्रभावशाली ढंग से चित्रित करता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति से सर्वाधिक आश्वस्त हैं ये युगों के पीड़ित, दलित और उपेक्षित, परिवर्तित परिस्थितियों में ये शोषक समाज को प्रतिकार की भंगिमा से देखने लगते है। "पानी के प्राचीर" में पूर्वी उत्तर प्रदेश का ग्राम गंधी परिवेश अपनी समग्र जटिलताओं के साथ उपन्यस्त है। कृतिकार आंचलिक जीवन की अंतरंगता को उद्‌भाषित करने के लिए विविध स्तरीय भाषा का प्रयोग करता है। साहित्यिक हिन्दी के साथ स्थानीय बोलचाल की भाषा, मुहावरे, लोकोक्तियों की सार्थकता अभिव्यक्ति हुई है। ग्रामीण निम्नवर्गीय समाज के लोकाचार, अंधविश्वास और रूढ़ियों का पारदर्शी प्रत्यांकन हुआ है। लोकगीतो की भावनात्मक सम्प्रेषणीयता अत्यन्त प्रभावशाली है। प्राकृतिक सौंदर्य चित्रण हो या लोक जीवन का आलेखन भोजपुरी शब्दों का सहज माधुर्य समाविष्ट है। सहजगामिनी भाषा का प्रवाह निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है। "फाग की मस्ती उतरी नहीं कि चैत्र की मादक गंध प्राणों से फूट पड़ी। पाकड़ में टूसे आ गये हैं जो कहीं–कहीं लाल–लाल कोमल हथेलियों की तरह पसर गये है। आम्रमंजरियों की गंध झकाझक उड़ रही है।'

कब तक पुकारू :

रांगेय राघव की प्रतिनिधि कृति "कब तक पुकारूं" में राजस्थान के जयराम कर नटों के जीवन यथार्थ का संश्लिष्ट तथा पारदर्शी चित्रण प्रस्तुत है। चार–चार पीड़ियों के जीवनवृत्त को कथानक का आधार बनाने वाली कृति के संदर्भ में डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है कि "इसके कथानक की संरचना चार पीढ़ियों के आधार पर की गयी हैं ताकि समाजशास्त्रीय दृष्टि से इतिहासिकता का बोध कराया जा सके"।[1] स्वतः लेखक ने भूमिका में अपना अभिमत प्रस्तुत किया है कि उसने नटों के माध्यम से गांव में बसे असली भारत का चित्र खींचा है जो अब भी मध्यकालीन विश्वासों तथा आर्थिक व्यवस्था से नियंत्रित है। डॉ० आदर्श सक्सेना की मान्यतानुसार "सामाजिक एवं यौन शोषण के एक पहलू को भी चतुरसेन ने 'गोली' में उद्‌घाटित किया है उसी के एक [2]

---

1. आज का हिन्दी उपन्यास : डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, पृष्ठ–77
2. कब तक पुकारूं : रांगेय राघव, पृष्ठ–119

अन्य पहलू का रांगेय राघव ने "कब तक पुकारूं" में स्थापित किया है"।[1] किन्तु इन सब विवेचनाओं के अतिरिक्त मूलतः कृति के परिप्रेक्ष्य में अस्पर्शित जाति विशेष की समस्याएँ, शोषण के विविध आयाम, चोरी, झूठ, जुआ और शराब के दायरें में घूमते सामूहिक जीवन की अन्तर्विरोधी मनः स्थितियाँ व जटिल सम्बेदनाओं की ब्यापक अभिव्यक्ति की सीमाएँ उभारती हैं।

"गोली" में उभरने वाला सामाजिक एवं यौन शोषण बहुत कुछ "कब तक पुकारूं" के समकक्ष है किन्तु रांगेय राघव अपनी प्रगतिशील जनवादी दृष्टि से सामन्ती शोषण व्यवस्था के मुक्ति संघर्ष में मानवीयता को प्रश्रय देकर बहुत आगे निकल जाते हैं। कृति के अन्त में कथाकार सुदूर भविष्य में इन निरोहों के भाग्योदय का सम्भावित सत्य निरूपित कर अपने आस्थावादी दर्शन को प्रतिष्ठित करता है।

आत्मकथा शैली में कथा की मध्यस्थता करता कथाकार मूलकथा को सुखराम के संदर्भ में विशेष से जोड़कर प्रारम्भ करताहै। तीन पीढ़ियों के अतीत की घटनाओं को सुखराम के व्यतीत जीवन से अनुस्यूतकर कृति का चित्रपट निर्मित हुआ है। सुखराम का पिता पूर्णिमा की एक रात को उसे सूखड़ियों की वास्तविकता दिखाने ले जाता है। और तीन पीढ़ियों का इतिहास खोल देता है कि वे बेवजह गिरफ्तार होने वाले जयराम पेशा नट नहीं वरन् अधूरे किले से असली मालिक है, जिन्हें तीन पीढ़ियों पूर्व राजरानी ने राजलिप्सा में अन्धी हुई सामन्तशाही से निकलकर नटकुल में आश्रय में जन्म दिया था। नट जाति के हीनत्व तथा अभिजात्य मोह से ग्रसित पति और पुत्र की अवज्ञा से सुखराम की नटिनी माँ बेला, वघेरो में कूद कर प्राण दे देती है। पिता भी उसे बचाने मे समाप्त हो जाता है।

अनाथ सुखराम का इसी परिवार से तादात्म्य हो जाता है और उसक समक्ष उभरता है नट जीवन का स्वच्छन्द यौनाचार। गांव गांव मे खेल तमाशे दिखाकर तथा स्त्रियों के रूप व्यापार से जीवन–यापन के नये–नये उपक्रमों से परिचित सुखराम को उसका अभिजात दर्प आहत कर जाता हैए जब प्यारी दरोगा की भोग्या बनना स्वीकार लेती है। कथाकार यौन शोषण के परिदृष्य में शतियो के घोर उत्पीड़न के फलस्वरूप अपराधों से जुड़े नटों की वास्तविकता उद्घाटित करता है। जहां पुत्री को दरोगा के पास भेजकर इसीला बोहरे के घर सेंध मारकर प्रचुर धनराशि चुरा लेता है। पिता के मर

1. . कब तक पुकारूं : रांगेय राघव, पृष्ठ–119

जाने पर माँ कहीं पति को फांस न लें इस भय से भयभीत प्यारी के समथ सोनो जो यथार्थ व्यक्त करती है उसमें इस समाज के स्वच्छन्द विवाह की स्पष्ट झलक हैं तूने क्या बनिया वामन समझा है कि जीते जनम बैठी रहूंगी? नटिनी क्या चाहे जिसके बैठ जाय। और सचमुच पैंतीस की सोनोबाइस के गबरू नट के साथ बैठ जाती है।

प्यारी नटिनी है उसकी भाषा और भावना सभी में उन्मुक्त जीवन का लास्म झलकता है। आधुनिक सभ्य समाज की घुटन पीड़ा और संत्रास से भिन्न सम पर आधारित अकृत्रिम जीवन व्यवस्था में प्रेम, घृणा, ईर्ष्या और पारस्परिक टकराव से अनेक बिन्दु उभरते हैं। कृति की उपलब्धि में प्रस्तुत है। मानव मनकी निष्कपट अभिव्यक्ति? सुखराम तथा अपने शोषिंत समाज के उद्धार की कामना से रूस्तम खाँ के समक्ष समर्पण करने वाली प्यारी की सम्वेदना इतनी मार्मिक और गहरी है कि वह मन को छू लेती है।

मांटी के लोग सोने की नैया :

बिहार अंचल के कोसी तटानुवर्ती निषादों के जीवन संघर्ष पर आघृत मायानन्द मिश्र की श्रेष्ठ आंचलिक कृति है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की परिवर्तनशील स्थितियों को नदी जीवन की विभिन्न विसंगतियों और समस्याओं के परिपेक्ष्य उभारा गया है। भूमिहीन की पाड़ी तथा उनके समस्याग्रस्त जीवन की सम्वेदनशील स्थितियों का स्वर कृति के पूर्वाद्ध में मुखर है। बाढ़ की विनाशकारी रूपलीला के परिणामस्वरूप रोग व्याधि और आजीविका के संघर्ष से जूझते जाति विशेष वर्ग के लेखक को अपूर्व सफलता मिला है। अनेक कथाकारों ने विकास की सफलता असफलता का चित्र उरेहा है। मायानन्द मिश्र की प्रस्तुत कृति में भी योजना विकास के प्रति आशावादी दृष्टिकोण विकसित होता है। कथाकार विकास प्रविधियों की आशंका से आहत की समस्या का इस कोण से उठाता है कि इनके अर्थहीन जीवन की मार्मिकता समग्र रूप से उभर आये। हीतलाल की दूसरी पत्नी अनूपी मपटिया ही के नथुनी पाने वाले के साथ भाग जाती है। तो बाबू देवराम सिंह की कृपा से रातोंरात उदहा घाट पर सपरिवार बता दिये जाने वाले रमेसर की घरवाली उसके दूर भागने लगती है। आधुनिक सुख सुविधाओं के आकर्षण से धराशायी नैतिकता को कथाकार आड़ी तिरछी रेखाओं में व्यक्त करता है। इस तट पर आकर सर्वाधिक लाभ भोला मांझी का होता हैं जो रंगलाल व्यापारी की चावल से भरी नाव को हड़प कर अपने टोले का सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति बन जाता है कोसी के दो कोस

पश्चिम चले आने परए उदहा घाट की ही भांति इन निषादों का जीवन भी वीरान हो जाता है। जीविकार्जन के साधन कोसी कीन लेती है और उदहा के मुंह पर बंधा बांध तो इन्हें पूर्णतया निरस्त ही कर देता है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत की अफसरशाही का दृश्य कोसी योजनाधिकारी के संदर्भ में रूपायित है जो इन निरीह जनों की विवशता पर कोई ध्यान नहीं देता। जातिवाद के दुष्चक्र में पूँजीपति मोहन मांझी द्वारा शोषित हीतलाल, मीचन, हुलाय, मंगल, रमेसर इत्यादि की व्यथा बड़ी गहराई से उभरती है। नवटोलिया वासियों के सम्मुख विकास कार्यक्रम विपत्ति बन कर आता है। गांव में सरकारी अनुदान पर आने वाले ट्रैक्टर का विरोध से सामूहिक रूप से करते हैं। क्योकि उदहातट की बालुका राशि में उत्पन्न कारा, पटेर और झोआ की झाड़ियों पर आश्रित जीवन को एक झटका और लगता है। यदि राक्षस की तरह कार्य करने वाला ट्रैक्टर इन्हें दो ही दिन में उखाड़ देगा तो भूमिहीन भूखों मरने लगेगें।

कथाकार इनकी मौलिक समस्या पर दृष्टिपात करता है और रोजी–रोटी के निमित्त संघर्षशील निषाद समाज की जागृति में युगीन चेतना की झलक प्रस्तुत करता है। हीतलाल के माध्यम से उभरी विकास संदर्भों की अनिवार्यता में इस अंचल की दुरंत समस्याओं के समाधान की आकांक्षा निहित है। कृति के पूर्वार्द्ध में उभरी समस्याओं का निदान उत्तरार्द्ध के गत्यात्मक विकास संदर्भों से जुड़ जाता है। भूदान तथा सरकारी खेती के द्वारा न केवल सहानुभूति और विश्वास के बल पर भूमि सम्बन्धी समस्या का निदान उपस्थित किया जाता है वरन् सूरज नारायण बाबू तथा बी0 डी0 ओ0 साहब की सहायता से अतिशीघ्र पूर्व स्थापित रूढ़िंया और दुराग्रहों की मानसिकता विच्छिन्न होकर युगानुकूल मान्यताओं में समायोजित हो जाती है। भोला मांझी तीयर कन्या सिलिया से अपने पुत्र जोगिन्दर का परिणय स्वीकार कर लेता है तो हीतलाल गांधीवादी आदर्शवादिता से अपनी पत्नी अनूपी का ह्रदय परिवर्तन कर उसे घेर ले आता है, निषाद समाज की सम्पूर्ण दुरूहता समाप्त हो जाती है। सम्पूर्ण कृति में वर्ग और जाति विशेष की समस्यायें यथार्थ रूप में उभरी हैं किन्तु इनके आदर्शात्मक समाधान की त्वरित युक्ति कहीं–कहीं अप्रमाणिक लगने के कारण खटकने लगती है। सूरज नारायण बाबू और बी0डी0ओ0 की तत्परता बहुत कुछ वर्मा जी के उदय किरण के प्रगतिशील पात्रों की ही भांति अनूठी और आरोपित सी प्रतीत होती है।

भारतीय ग्रामांचल की उपेक्षितावस्था वर्तमान का निर्विवाद सत्य है, आज भी सरकारी योजनाओं के चक्र में विघटित होता ग्रामजीवन, निरक्षरता, निर्धनता, असहयोग की पीड़ा से त्रस्त विभिन्न विसंगतियों का दास बना है। ऐसी स्थिति में कथाकार का मोहक लेखकीय इन्द्रजाल भले प्रभाव रूपों को उपन्यस्त कर कृति को नई रूपामा प्रदान कर दे किन्तु यह सब कृति को यथार्थ से अधिक आदर्शोन्मुखी बना देते हैं।

सोनभद्र की राधा :

समान्तर कथाकार मधुकर सिंह की चर्चित कृति "सोनभद्र की राधा" में युगान्तरकारी वर्ण निरपेक्ष समाजवादी व्यवस्था का व्यापक उल्लेख किया गया है। कथाकार क्रांतिकारी भावनाओ से अनुस्यूत होकर नयी सामाजिक व्यवस्था को पृष्ठांकित अवश्य करता है किन्तु उसका यथार्थ स्वरूप भारतीय समाज में कही परिलक्षित नहीं होती।

उपन्यास का नायक गोविन असवर्ण जाति का छात्र है, जो अपने स्वामी की पुत्री अनुराधा से सहज स्नेह करने लगता है। तरल रागात्मक अनुभूतियां अभी मुखर भी नही हो पाती कि सवर्ण समाज की उपेक्षा से यह बालक मिसिर बाबा का हल पकड़ लेता है। गोबिन की ओर ललकती अनुराधा उससे स्नेह की याचना करते समय सदैव यह विश्वास दिलाना चाहती है कि गोबिन उसे मिसिर जी के संस्कारों के साथ न परखें।

यहां तक तो कृति से सामान्यतया रहती है किन्तु असवर्ण समाज की परम्परागत रूढ़ियों में जकड़ी गोबिन की माँ की यह भावनात्मक आधुनिकता आरोपित होने के कारण खटकने लगती है कि कैसी सुन्दर और मूरत जैसी लड़की है क्या चमरौटी में बहु बनकर आयेंगी?

मृत्यु के मुख से दो बार जीवनदान पाने वाली अनुराधा गोबिन को अपना भगवान मान लेती किन्तु मिसिर जी का अभिजात्य उन्हें कृतज्ञ बनाने के स्थान पर उन पर अधिकार बांध की छाया ही अधिक डालता हैं वे यही कहतें हैं कि, "................. गोबिना चमार हो गया है । नहीं तो उसे गोद में उठा लेता।[1] कथाकार असवर्णो की सामाजिक यथार्थता को अवश्य उजागर करता है किन्तु भावनाओं के प्रसार में यथार्थ आरोपित सा प्रतीत होने लगता हैं।

---

1. सोनभद्र की राधा : मधुकर सिंह, पृष्ठ–17

अभिनव समाज की संरचना का स्वप्न द्रष्टा कथाकार गोबिन के माध्यम से सिरीपुर में वर्णविहीन व वर्गविहीन समाज की स्थापना का उद्‌घोष करता है । जहां हजारों गोबिन अपने श्रम और सहयोग से अपने स्वप्न को साकार करते है। सोनभद्र की छाती पर पैर रखकर तूफानों को पैरों में बांधकर नाचने वाली अनुराधा को सिरीपुर में समता और सहकारिता का नया दृश्य दिखाई पड़ता है।

भूमिहीन और छोटे खेतिहरों ने अपनी जमीने एक में मिलाकर सहकारी खेती को कार्यान्वित किया है। जमनापुर और बनगांव में इस सामाजिक बदलाव की आकांक्षा रखने वाला गोबिन आदमी को आदमी समझने की व्याख्या और संदेश अपनी कविता के माध्यम से देता है कि इस लाल और इंसान सूरज के लिए संघर्ष करते रहना होगा......।

डॉ0 विमल ने कृति को समीक्षित करते हुए अपना उचित अभिमत ही प्रस्तुत किया है कि लेखकीय दृष्टि जहां आरोपित होती है वहां भूल सम्बेदना क्षारित हो जाती है। उपन्यास में समस्या चित्रित होती है और दृष्टिकोण व्यक्त, पर जहां दोनों बातें कहीं जायें और कथात्मक स्थितियां परमपरागत अर्न्तान्त वर्णित हो, वहां दृष्टि की स्पष्टता और वैचारिक दृढ़ता तो मिलती है पर सौंदर्य की क्षति भी होती है, मधुकर के इस उपन्यास के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है।[1]

घुन लगी बस्तियाँ :

"घुन लगी बस्तियाँ" मराठी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ साहित्य कार जयवन्त दलवी की यथार्थवादी कृति है जिसमें आधुनिक महानगरीय सभ्यता और संस्कृत के समानान्तर अनन्त दुरति क्रमों के साथ चलने वाली सर्वहारा संस्कृति का तल्खियों भरा मूल यथार्थ चित्रांकित है। विजयवापट की रूपान्तर क्षमता ने कृति की मौलिकता और सम्बेदनीयता को अक्षुण्य रखा है।

महानगरीय जीवन के मध्य घेबन्द की भांति जुड़ी ये बिरूप बस्तिया स्वातंत्र्योत्तर सर्वहारा जीवन की उस विद्रूपता को उभारती है जिसे न तो सरकार सहन कर पाती है न पुलिस और न ये नगरपालिकायें ही। आवास, भोजन, वस्त्र और औषाधियों की मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं से हीन समाज के अन्तः वाह्य संघर्षों की पीड़ा का साक्षात्कार और उसका प्रस्तुतीकरण सर्जनात्मकता की अनिवार्यता के रूप में कृति में

1. धर्मयुग (20 मार्च, 1977) : डॉ0 विनय, पृष्ठ–18

उभार है। कृति के सभी पात्र अभाववादी संस्कृति के वाहक है। आभावों के कारण आपराधिक श्रृंखला से जुड़े जीवन की तलस्पर्शी व्यथा कितनी गहरी है। इसे सुधाकार अम्मा के मनोविश्लेषण में प्रस्तुत करता है। पति सुनका की पुलिस द्वारा हुई मृत्यु ने उसे इतना भयभीत बना दिया है कि वह अपने पुत्र बेन्वा को अनैतिक अवैध कार्य व्यापारों और पुलिस के लफड़ों से बचने की चेतावनी देती रहती है। अम्मा से सर्वथा विपरीत मनोभावों वाला दूसरा वर्ग भी चित्रित है जो सामाजिक उत्पीड़न, प्रशासनिक दमन और आर्थिक अभावग्रस्तता के कारण दुस्साहसों और अपराधों को ही अपनी सीमा मान बैठा है।

शराब की भट्ठियों पर कम मेहनत और अधिक पारिश्रमिक का लालच इनके जीवन को सामूहिक रूप से अनेकों विसंगतियों से जोड़ देता है। कफन के लिये पैसे न रहने पर भी शराब की व्यवस्था ये कर्ज लेकर करते हैं, पेट की खन्दक भरने के लिए अवैध यौनाचार करते हैं। और जेल जाते हैं। कथाकार इन सभी स्थितियों की तीखी अभिव्यक्ति बेलाग स्वरों में करता है। शराब के झोंके में झूलते संज्ञाहीनों की दशा का फोटो ग्राफिक चित्र उपस्थित है। कुछ नीचे लोटने लगते हैं। कुछ ने उल्टी कर दी तो अंत्या कामोन्माद में पैंट की बटन खोलने लगता हैं। मदहोसी में चमन्या खाट से गिर कर सो जाता है और कुटिया खाट पर सोई रहती हैं, ये निम्न समस्याओं के दुर्वह बोझ तले दबे जीवन के यथार्थोद्घाटन के साथ इनके जीवन में लगे घुन और परिणाम में मिले खोखलेपन को मूर्तित करते हैं।

अवैध कार्य व्यापार, शराब, चोरी और छूरेबाजी जैसे अमानवीय स्थितियों के मध्य पलने वाली कोमलता, भावुकता और सहृदयता की संवेदनशील स्थितियों को कथाकार बड़ी निकटता से अभिव्यक्त करता हैं, सहजीवियों के प्रति ही नहीं प्राणी मात्र के प्रति गहरी मानवीय संवेदनाओं से भरे ये पात्र कथाकार के मानवतावादी दृष्टिकोण को मुखरित करते है। इका की चोरी की मुर्गी से नागू और रघुरामा के लिये कोबड़ी बनाने वाला बेन्ता स्वतः थाली को हाथ भी नहीं लगा पाता और फफक–फफक कर बिलख उठता है और मातृहीन चूजों की हृदयद्रावी चीखों से पश्चाताप की अग्नि में जलनें लगता है। कृतिकार की मनोवैज्ञानिक पकड़ की सूक्ष्मता व्यंजित करता है।

कथाकार इन्हीं के शब्दों में इनके जीवन का सहज प्रवाह चित्रित करता हैं कहीं अपशब्दों के प्रयोग में बहता इनका उल्लास व्यक्त हैं, तो कहीं करूण स्थितियों की प्रति जागृत अन्तर्वेदना का यथार्थ ध्वनित है। गहरी जीवनी संहासक स्थितियों में लूका जैसे अपराधी पात्र भी कथाकारी कौशल से निरपराधों जैसी सम्बेदनाएँ अर्जित कर लेते हैं।

नदी फिर बह चली :

प्रगतिशील उपन्यासकार हिमांशु श्रीवास्तव की प्रख्यात आंचलिक कृति "नदी फिर बह चली" यथार्थ और आदर्श की अपरूप समन्विति से सम्पृक्त रचना है। ग्रामीण परिवेश की निम्न कुलोत्पन्न परबतिया के माध्यम से कृतिकार सर्वहारा वर्ग के मार्मिक जीवन यथार्थ की प्रस्तुति करता है। ग्रामीण और नगर परिवेशीय बिडम्बनाओं को झेलने वाली इस पात्रा में अपूर्वनिष्ठा, धैर्य और आदर्शों के प्रति व्यापक मोह उपस्थित है, तो दूसरी ओर सामयिक संचेतना, अन्याय, शोषण और दमन का प्रबल प्रतिकार करने की अपूर्व क्षमता भी।

लोकजीवन की सरस सघन छवियों की अन्वितियों कथानक को आंचलिक यथार्थ की सुरभि से सम्पृक्त करती चलती है, वहीं कथाकार आंचलिक जीवन यथार्थ की सूक्ष्मतातिसूक्ष्म अभिव्यक्तियों का प्रस्तुतीकरण करके अपनी बहुज्ञता का भी प्रमाण प्रस्तुत कर देता हैं। उपन्यास का कथानक अंधविश्वास, लोककथाओं, मान्यताओं और लोकगीतों की तलस्पर्शी जीवंतता के मध्य प्रवाहित होता है।

शैशव में ही मातृविहीना परवतिया को मामा की दुर्बह यातनायें सहनी पड़ती है। सुनिया के साथ पिता का पुनर्विवाह तो उस पर दुखों का कहर ही ढ़ा देता है। पेटुली औरत फुलझड़िया मरकर चुड़ैल के रूप में विख्यात हो जाती हैं और कथाकार इन प्रसंगो के माध्यम से लोकमानस में व्याप्त भूत, पिचाश और ब्रह्मों के अंधविश्वास की विश्वसनीयता के साथ मुकुन्द मांझी और सुगिया के संदर्भ में चित्रांकित कर देता है। साधु महतो और सुगिया के दाम्पत्य कलह में निम्नवर्गीय परिवेश साकार हो उठा हैं। शैशव की परिधि से निकलकर तारूण्य वेला में उपस्थित परवतिया घर की चाहरदीवारी से निकलकर हवेलियों में जाती है तो उसका साक्षात्कार महावीर लाल की रखैल नइकी से होता है, जो युवा और सुन्दरी है। कथाकार नइकी के माध्यम से ग्रामीण स्तर पर नैतिक सम्बन्धों की संक्रमणशीलता का रूपायन करता है।

कथाकार कृति के मध्य सर्वहारा वर्गीय लोकाचारों की विशद् संयोजना के द्वारा पूर्वी उत्तर प्रदेश और उससे सटे विहार के आरा अंचल के जनजीवन का समग्र सांस्कृतिक आकलन कुशलता के साथ प्रस्तुत करता है। अल्पशिक्षित निम्नवर्ग में पढ़े, गाये जाने वाले ननदी भउजिया, आल्हा उदल, लोरिक संबरू, के गीत और मेला घुमनी के साहित्य किस्से, कहानियाँ, मुहावरे बोल पद्यबद्ध नित्यप्रति की बोल–चाल के दोहों के अति आग्रही उल्लेख में कथाकार की सर्वग्राहिणी शक्ति का तथा अभिव्यक्ति कौशल की झलक मिलती है। साथ ही जन अभिरूचि की इतनी व्यापक समाविष्टि भी जिससे कृति को अपूर्व माधुर्य सहज ही प्राप्त हो जाता है। पाठक जब इस कृति को पढ़ता है तो पूर्वान्चलीय जीवन की प्रत्येक गतिविधियां उसके आक्षि पटल पर मूर्तमान हो जाती है।

समग्र कथा एक विवश सर्वहारा नारी पर आघृत है विषम परिस्थितियों में भी परवतिया के शील सौजन्य समन्वित व्यक्तित्व की अवतरण में लेखक की संयोजना शक्ति का परिचय मिलता है। जगलाल की परिणीता के रूप में चुरामनपुर जाने वाली इस नारी को अपने दुर्वह दायित्व का बोध हो जाता है। परम्परागत संस्कारों से बंधी परबतिया को ऐसे व्यक्तित्व से समायोजित होना पड़ता है जो उसके समस्त आदर्शों और आकांक्षों के विपरीत आचरण करने वाला है। कथाकार परवतिया के माध्यम से न केवल नारी मन के अन्तर्द्वन्दों को अनावरित करता है वरन् आधुनिकता और नैतिकता के दौर में भारतीय जीवनादर्शों, झिलमिलाती रूपरेखा भी प्रस्तुत करता है। परित्यका के रूप में एक पुत्र की माँ बनकर यह सोचकर कि "फटा भी है तो पीताम्बर है" वह पुनः पटना लौट आती है। कथाकार वेश्यालयों और शराब की बोतलों में भटकते अभावग्रस्त सर्वहारा की मानसिकता को जगलाल के माध्यम से रेखांकित करता हैं

परवतिया की विपन्नावस्था, स्वातत्र्योत्तर भारतीय शासन व्यवस्था पर भी कुछ कम चोट नहीं करती। काम के अभाव और शोषण प्रक्रिया में पिसती हतभागिनी नारी माटी की कोठरियों की माया में रमण करते अपने सुहाग पर पूर्णतया पराश्रिता है। जिस शराबी और व्यभिचारी पति को वह समाज के सम्मुख लुलुआना नहीं चाहती उन लपटों को खुद पी जाना चाहती है, वही पति दुर्व्यसनों के कारण स्वयं जेल के सींखचों में बन्द होकर उसे ठोकरें खाने के लिए छोड़ जाता है। कथाकार नारी मन के मनोविश्लेषण का चरम निखार परवतिया के चरित्र–चित्रण में प्रस्तुत करता है जो

जनकिया की माई द्वारा अपने पति को गुंडा कहने पर सब कुछ जानकर भी इस कथन में मुखर हो उठता है कि मेरे मरद को गुंडा कहोगी तो दांत रंग दूंगी ? मैं यार नहीं रखती.........।" जगलाल को दुनिया की नजरों में ऊपर उठाने का यत्न ही उसके लिये सबसे बड़ा अभिशाप बन जाता है। जलकुंभी की बाजी में पति के जेल चले जाने पर अथक श्रम के उपरान्त भी भारत माँ की बेटी नगर में नहीं खप पाती है।

धरती धन न अपना :

"जगदीश चन्द्र" की पंजाब अंचल के होशियारपुर जिले के घोड़े वाही ग्राम के कथा फलक पर सर्वहारा अस्पृश्य हरिजन जाति की दारूण दशा का चित्रांकन करने वाली प्रभावशाली रचना है। कथाकार जमींदारी शिकंजे में जकड़े वर्ग विशेष के शोषण और दमन को सामूहिक रूप से चौधरी हरनाम सिंह द्वारा सन्तू और जीतू के प्रसंग में उद्घाटित करता है। बिना किसी प्रमाण के निरपराध हरिजनों की पिटाई पूर्वांचलीय सर्वहारा के उत्पीड़न के ही समकक्ष चित्रित है हरनाम सिंह की चमादड़ी को दी गयी इस धमकी में अगर किसी ने फसल का इस तरह नुकसान किया तो सारी चमादड़ी को जमीन पर उल्टा बिछाकर पिटवाऊंगा।[1] में बहुत कुछ "अलग–अलग वैतरणी" का सा दृश्य साकार है। जहाँ झिंनकू जगतीत और घुरविन सवर्ण समाज के तीव्र उत्पीड़न का शिकार होते हैं।

कथावस्तु संक्षिप्त होने के उपरान्त भी अस्पृश्य जाति के जीवन का सर्वांगीण चित्रण प्रस्तुत करती है। सामाजिक, आर्थिक और नैतिक शोषण के समानान्तर शोषितों की मानसिकता में पलने वाले सहजोद्भुत द्वन्द्व नवजागृत चेतना के आयाम प्रस्तुत करता है। काली और ज्ञानो का आक्रोश वर्गीय चेतना का प्रतीक है। कृति का प्रमुख पात्र काली गांव की ओर सर्वथा नई आस्था और स्वतंत्र जीवन की सुखद कामनाओं के साथ प्रत्यावर्तित होता है तो विषमता मूलक समाज की क्रूर गतिविधि और स्वजनों की पीड़ा से मर्माहत हो उठता है। गांव के चौधरी से लेकर मिस्त्री मजदूर और तो और उसकी ही जाति और घर के लोग जातीयता के आधार पर व्यक्तित्व का अवमूल्यन करते हैं, जन्म से ही चमार की संज्ञा से जुड़ने वाले काली के अर्न्तमन में विक्षोभ की आग सुलगती रहती है।

---

1. धरती धन न अपना : जगदीश चन्द्र, पृष्ठ–28

कथाकार इन मानसिक द्वन्द्वों के परम्परागत और परम्परा मुक्त दृष्टिबोधों की सापेक्षिकता को कुशलतापूर्वक काली और उसकी चाची के संदर्भ में अंकित करता है। अपनी धार्मिक सामाजिक और आर्थिक रूढ़ियों में जकड़ी प्रतापी कहती है कि पुत्तरा तू ऐसी बातें न सोचा कर। रब जी ने जिसको चमार पैदा किया है वह चमार ही रहेगा, चौधरी नहीं बनेगा। सब कर्मो का फल है।" किन्तु इसी पीढ़ी के सचेत मानस में युगधर्मी चेतना करवटें ले रहीं है। सवर्णो–असवर्णो के मध्य टूटती यौन श्रृंखलाओं के परिप्रेक्ष्य में बाबा फत्तू का मार्मिक कथन अभिजातिय दर्प पर तीक्ष्ण प्रहार करने से नही चूकता कि 'जब आप लोगों ने हमारी इज्जत को अपनी इज्जत समझना छोड़ दिया जब जाट और चमार का रक्त मिलने लगा तो यह गड़बड़ होने लगी। अगर आज आपके ही खून में आपके बच्चे को मारा है तो आपको दुख क्यों हुआ ? विघटन के इन कोणों को कथाकार निष्पक्षतापूर्वक उभारता है। कृति में वर्ग–संघर्ष का मूलाधार आर्थिक ही नहीं है वरन् किसी सीमा तक नैतिकता के अन्तिम छोरों तक फैला हुआ है।

धड्डम चौधरी तो यहां तक कहते हैं कि जिन चमारों के घर जाटों के बच्चे पैदा हुए हैं उन्हें जायदाद में हिस्सा मांगना चाहिए। कामरेड विशनदास और टहल सिंह के वर्ग–संघर्ष की अधूरी दार्शनिकता इन दलितों में अधिकार बोध की नई चेतना जगाती है। किन्तु सवर्ण समाज की दुरभिसन्धि तथा अपनी विवशताओं के कारण ये परास्त हो जाते है । इनके उन्मेष की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप "परती परिकथा" के सवर्णो की भाँति यहां भी राह बाट लेने की घोषणा जमींदारी द्वारा होती है। दलित वर्ग की नाकेबन्दी के लिये कहीं इनकी बहू–बेटियों को पास खोदते समय दौड़ा दिया जाता है तो कहीं सबेरे जंगल पानी के लिये खेतों में आई तो लड़कों को देखकर वे नाले हाथों में पकड़ कर भाग गई। अन्ततः आर्थिक मोर्चे पर परास्त सर्वहारा वर्ग का टूटा मनोबल चौधरी मुंशी की जरा सी टिटकारी पर समझौता की आड़ में अपने आत्म सम्मान को किसी तरह बचा पाता है।

कथाकार मानवीय सम्वेदनाओं के धरातल पर इन दलितों की संघर्षशील स्थितियों को चित्रित करता है। चमादंड़ी सब कुछ अपने मौलिक रूप में उभरा है। कथाकार ज्ञानों और लच्छों जैसी शोषित नारियों के माध्यम से प्रस्तुत समाज की अन्तर्मुखी वेदना को वाणी देता है। मार्मिक स्थलों की मर्मस्पर्शी बड़ी गहरी है। कथाकार लोकजीवन का समीपी द्रष्टा बनकर अंचल विशेष की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं

आर्थिक स्थितियों का आनुमूल्यात्मक सत्य रूपायित करता है, अन्धविश्वास, धार्मिक रूढ़िया, भूत, प्रेत, खेलकूद इत्यादि में लोक चेतना का मुखर रूप अंकित है। स्थानीय भाषा में लोक गीतों की कड़िया इनकी आन्तरिक रागात्मकता को झंकृत करती है।

अन्ततः कृति की उपलब्धियों के रूप में उभरता है, एक नग्न यथार्थ जो अनन्त सम्भावनाओं से भरे पात्र का गला घोंट देता है। धरती और धन की ललक में क्रूर समाज को अपना सर्वस्व समर्पित कर एक सौम्य व्यक्तित्व सर्वदा के लिये प्रेयसी की अन्तिम चीखों की गूंजती ध्वनियों के साथ अन्तर्ध्यान हो जाता है।

सागर लहरें और मनुष्य :

"सागर लहरें और मनुष्य" उदयशंकर भट्ट की यथार्थवादी भूमिका पर आधारित सागर तटानुवर्ती वर्ग विशेष की जीवन छवि को रेखांकित करने वाली विशिष्ट आंचलिक रचना है। महानगर के पूर्व पश्चिम में स्थिर उपनगर वरसोवा के कोली जातीय जीवन का बहुविध चित्रांकन समग्रता के साथ कृति के कथाफलक पर उभरा है।

प्रस्तुत कृति में अस्पार्शित आंचलिक जीवन कवि को उभारने का मौलिक प्रयास स्तुल्य है। भट्ट जी ने सागर, सहचर, भोले, सहज श्रमिक मछुवारें की संघर्षशील नियति, अर्थहीन जीवन व्यवस्था, दैवीय प्रकोपों के मध्य आस्था और विश्वास से दीप्त जीवन को खुले पृष्ठ की भांति चित्रित किया है। उपन्यास के कलेवर में यौन सम्बन्धों की अनुगूंज, प्रेम, आकर्षण, वर्जित यौन सम्बन्धों की टूटती–जुड़ती श्रृंखलाओं और सांस्कृतिक निष्ठाओं की विविध रंगी छटा को समेटने का प्रयास किया गया है। प्रकाश वाजपेयी ने भट्ट जी को मूलतः नागरिक जीवन का लेखक मानकर प्रस्तुत कृति को आंशिक रूप से ही उपनगर का चित्रण करने वाला उपन्यास माना है।[1] किन्तु महानगर के परिपार्श्व में स्थित अंचलीय जीवन पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को कृतिकार झुठला नहीं सका है। वस्तुतः कथाकार अतिसमृद्ध सभ्यता से पराभूत होती जाती की युगधर्मी यथार्थता का सूक्ष्म और प्रभावशाली चित्रण करने के लिए ही महानगरीय सीमा तक आता है।

कृति का प्रारम्भ समुद्र के सजीव जन चित्रोंपम वर्णन के साथ प्रारम्भ होता है। सांस्कृतिक अनुष्ठानों के मध्य बरसोवा के विट्ठल और वंशी के धनाढ़य परिवार की झलक मिलती है। जहां पुरूष की सत्ता गौण और बात–बात में कोली नारी वंशी के

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : प्रकाश वाजपेयी, पृष्ठ–25

दम्भ और पुरूषत्व प्रधान व्यक्तित्व की मुखरता झलकती है। वैवाहिक सम्बन्धों के उपरान्त भी यौनाचार की नैतिक अनैतिक सीमाओं में कोई भेद नहीं रह जाता है। अकर्मण्य पति के स्थान पर कर्मठ जागला के पौरूष ने वंशी को अभिभूत कर लिया है। पति की उपस्थिति में भी वंशी के मनः द्वार पर जागला की स्मृति की थपकियों में कृतिकार ने नारी जीवन की दो प्रमुख समस्याओं का उभार अंकित किया है। पहली है आर्थिक विवशता, दूसरी है यौन सुख की आन्तरिक उद्वेलनशीलता। वंशी की आर्थिक स्थिति को संभालने में अहर्निश सेवाभाव से समर्पित जागला जैसे सेवक ही समर्थ है। दूसरी ओर कामातुरा नारी के लिए जागला की अनिवार्यता छुपी नही रह सकती जिसे वह आवश्यकतानुकूल, स्वामी, सेवक और प्रणयी सभी कुछ निर्धारित कर सकती है।

ऐश्वर्य और अभिलाषाओं के प्रवाह में बहती रत्ना और वंशी की नगरोन्मुखता निराधार नहीं है। नित–नूतन एषणाओं के प्रति आकर्षित इन नारियों का कल्पित सुख परिवेशीय असुविधाओं से टकराकर चूर–चूर होने लगता है। तो ये वैभव और विकास के केन्द्र महानगरों की ओर सहज ही उन्मुख हो जाती है। कथाकार अन्य निर्धन परिवारों की यथार्थता का स्वाभाविक चित्रण कर स्वातंत्र्योत्तर भारत की अर्थव्यवस्था का प्रच्छन्न विवरण प्रस्तुत करता है जहां इट्ठा जैसी नारियां क्षुधा तृप्ति के लिए बरसोवा छोड़कर जहां सींग समायेगाए दो बात मिलेगा। वहां जाने का संकल्प कर लेती है। ऐसी शोषित नारी के माध्यम से परम्परागत नैतिकता की रक्षा उपन्यासकार को मान्य नहीं। यौनाचार के भटकते टूटते सम्बन्धों का यथार्थ चित्रण उपन्यासकार ने ही युगधर्मिता के परिप्रेक्ष्य में किया है। सम्भवतः इसीलिये डॉ0 इन्द्रनाथ मदान ने कृति को आलोचित करते हुए लिखा है कि "सागर लहरें और मनुष्य" का कथाकार आधुनिकता की चुनौती को इस उपन्यास में नव स्वच्छन्दतावाद के धरातल पर स्वीकारता है।[1] यशवन्त के शारीरिक सौष्ठव के प्रति आकर्षित सोभा और पार्वती की भावामिव्यक्ति में फ्रायड और युग की प्रभाववादिता की स्पष्ट झलक कथाकार प्रस्तुत करता है। 'सोभा कहने को यशवन्त से छोकरा कह गयी, पर मन में उसके एक रूकावट पड़ गयी, जैसे झूठ बोल रही थी। निश्चय ही उसके अगर कोई बच्चा होता तो आज यशवन्त के बराबर होता। पर जैसे उसका अतृप्त मन भीतर से कुरेद उठा.......यशवन्त को देख उसके मन में एक प्यास जाग उठी। उसका सुगठित शरीर उसी आलिंगन में कस लेने वाली मछलीदार भुजाओं

1. आज का हिन्दी उपन्यास : डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ–69

स्त्री को पी जाने वाली बड़ी–बड़ी आँखे, चिरन्तन शांति देने वाली चौड़ी और शिल छाती देखकर सोभा भीतर ही भीतर गमगमां उठी।

नैतिकता के शिथिल बंधनों में आधुनिकता अर्थलिप्सा का दायित्व भी अल्प नहीं है। मालिक और रत्ना के संदर्भ में लेखक विघटन के कारण को तटस्थता से चित्रित करता है। रूपये पाने की उग्र चाह में वह रत्ना के स्त्री होने का भी फायदा उठाना चाहता था। फलतः दोनों के मध्य का संघर्ष रत्ना को परम्परागत पति नामधारी जीवका परित्याग कर जीवन की नयी दिशा ढूढ़ने का आमंत्रण देता है। रत्ना के माध्यम से कथाकार ने अभिनव युगान्तरकारी नारी दीप्ति की प्रतिकात्मक अभिव्यक्ति की है। पुराने मूल्यों की अस्वीकृति और नये मूल्यों की स्वीकृति में युगानुरूप स्वच्छन्दता वादी मूल्यों का व्यापक प्रयोग पात्रों के चरित्र चित्रण में हुआ है। रत्ना, वंशी, माणिक इट्‌ठा के अन्तर्द्वन्द्वों की पृष्ठभूमि में स्वच्छन्दावादी जीवन धारा प्रवाहित है।

कथाकार बिम्बों, प्रतीकों,, काव्यात्मक और आलंकारिक प्रसंगों द्वारा सागर तटवासियों के अंचल की विविध समस्याओं उनुद्‌घाटित मार्मिक जीवन सत्यों का संवेदनिक चित्रण उन्हीं की भाषा में प्रस्तुत करता है। विकराल तुफानी रातों में मछलियों के धार कऊं (दूर तक) जाना, यातायात की समुचित व्यवस्था के अभाव में सड़ती मछलियों की आर्थिक क्षति को चुपचाप सहन करना आदि समस्याओं का चित्रण हुआ है। मूलतः नगर जीवन का कथाकार होने पर भट्‌ट जी ने वरसोवा अंचल तथा उसके वासियों का जितना हृदयग्राही और प्रभावपूर्ण प्रत्यांकन किया है, प्रामाणिकता के अभाव में उपन्यस्त नगर परिवेशीय चित्रण और पात्र अतिनाटकीय तथा आरोपित होने के कारण अपनी सहजता खोकर कृति में खटकते रहते हैं।

बलचनमा :

"बलचनमा" नागार्जुन की लब्धप्रतिष्ठ औपन्यासिक कृति है जिस पर उनकी ख्याति अवलम्बित है। नागार्जुन ने आंचलिक जनजीवन समाजवादी चेतना सर्वहारा क्रान्ति और जनवादी मोर्चा को अपनी रचना में अभिव्यक्ति दी है। प्रेमचन्द के उपरान्त भारतीय सर्वहारा समाज के यथार्थ को उद्‌घाटित करने वाले नागार्जुन ने मिथिलांचल के दलितए उपेक्षित, दीन–हीन, व्यक्तियों को चित्रांकित किया है।

स्वतंत्रतापूर्व और पश्चात की सर्वहारा स्थितियों में भी अन्तर आया है वह नागार्जुन के उपन्यासों में बहुत स्पष्टता के साथ उभरा है। न्याय धर्म की कठोर श्रृंखलाओं से विरत उच्च समाज की निष्ठुरता से सर्वहारा समाज की अन्तर्दशा तथा मानवीय मूल्यों के विघटन के संदर्भ अनेक कोणों से प्रस्तुत हैं। दुधमुहें दांतों वाले पितृहीन बालक को मां और दादी मालकिन के घर सम्भवतः पेट पालने का विवशता से ही छोड़ आती हैं। वहां बचे खुचे उच्छिष्ट जन्य और कोढ़िया, गदहा, सुअर, कलमुंहा आदि अपशब्दों के मध्य परिवर्धित बलचनमा के शोषण में विद्रोह धर्मिता का अंकुर फूटने लगता है। मालिक को स्टेशन तक पहुंचाने पर मिले अल्प पारिश्रमिक का प्रतिकार करने वाले बलचनमा के व्यक्तित्व में उदित संघर्ष का संकल्प उठता है वह बहुत ही मार्मिक है और वाह्य स्थितियों का आंतरिक विस्फोट है।

फूलबाबू के आमंत्रण पर नगर पृष्ठिभूमि में आकर बलचनमा का मनोजगत पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है। स्वराज्य प्राप्ति के राजनीतिक संघर्ष संदर्भों ने उसे नयी जारूकता प्रदान की तथा अन्याय के प्रतिकार की प्रबल आकांक्षा ने ही उसे गांव आने पर माँ और बहन का शीलभंग करने वाले जमींदार के प्रति आक्रोश से भर दिया। बड़े लोगों द्वारा उपेक्षित बलचनमा का मोहभंग उसके अन्तश्चक्षुओं को खोल देता है। अन्याय और उत्पीड़न की इस प्रक्रिया में वर्ग वादी भावधारा के उन्मूलनार्थ संघे शक्ति कलयुगे का रहस्य वह समझ जाता है। उसके समक्ष बाबू भैया लोगों से लोहा लेने के लिए संघबद्धता की अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है।

नागार्जुन ने सामन्ती अत्याचारों से त्रस्त शोषित समाज में स्वत्व संरक्षण के लिए जागृत संघर्ष को बड़े प्रभावशाली रूप में चित्रित किया है। अधिकार बोध होते ही आंतरिक स्तर पर वर्ग संघर्ष का सूत्रपात हो जाता है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्तर पर उत्पीड़न और उपेक्षित समुदाय में अभ्युक्ति चेतना को वाणी देने के कारण ही प्रकाश वाजपेयी ने नागार्जुन के विषय में लिखा है कि बलचनमा में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का आलेखन है। सामन्तवादी व्यवस्था का सजीव आकलन है। और बलचनमा के माध्यम से खेतिहर मजदूर का प्रतिनिधित्व उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। जीवन का संघर्ष है और नये आलोक की तरफ लेखक का संकेत है।[1] विभिन्न राजनीतिक दलों की वास्तविकता से परिचित बलचनमा कांग्रेस से सोशलिस्ट और साम्यवादी विचारों की

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : प्रकाश वाजपेयी, पृष्ठ–41

परिधि तक आता हुआ किसी वाद से अधिक अपने वर्ग के भविष्य की सुरक्षा के प्रति प्रतिबद्ध होता दिखाई पड़ता है।

आर्थिक असमानता को तोड़ने वाली यह घोषणा कि कमाने वाला खायेगा.......... इसके चलते जो कुछ हो उसे अभिभूत कर लेती है संघनिष्ठा का भाव स्वयमेव उदित हो जाता है। कृति के उत्तरार्द्ध में स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त राजनैतिक स्तर पर आयी विपुल विघटनशीलता बलचनमा को अत्यधिक व्यथित करती है। रिलीफ फण्ड की ओर से मिली अनुदान राशि को ये बड़े लोग ही डकार जाते हैं। तो बलचनमा की कांग्रेस जनों के प्रति अश्रद्धा स्वाभाविक रूप में जाग उठती है। राधाबाबू और सोशलिस्ट पार्टी के प्रति उसके आकर्षक के भूल में समता का सिद्धान्त ही है। किसान सभा द्वारा संगठित मजदूर किसानों के मनोबल को तोड़ने के कुचक्र में वह घायल अवश्य होता है। किन्तु उसके अंतिम शब्दों में गूजता यह यथार्थ कि किसान की आजादी आसमान से उतर कर नहीं आयेगी वह परगट होगी नीचे जुती धरती के भुरभुर ढ़ेलों को फोड़कर....[1] संघर्ष में आहत बलचनमा अपने प्रयास में संलग्न है। डॉ0 आदर्श सक्सेना ने नागार्जुन की इस अभिव्यक्ति को केन्द्रित करके उचित ही लिखा है कि नागार्जुन ने दिखाया है कि प्रेमचन्द का होरी, आज न केवल सामाजिक विकृतियों और निशानों का शिकार होकर मर जाता है। बल्कि उससे मुक्ति पाने के लिए संघर्ष भी करता है। वह जाग रहा है और उसमें दृढ़ता आ गयी है।

सामूहिक रूप से विषमता, पीड़ा, अभाव और अवमानना से ग्रस्त सर्वहारा जीवन को व्यक्ति विशेष के माध्यम से रूपायित करने वाली नागार्जुन की अभिव्यक्ति क्षमता अनंय है। भूपति और भूमिहीनों यथार्थ और असमर्थों के मध्यपनपने वाले अन्तराल और समस्याग्रस्त जीवन की विद्रुपता को सीधा समाट शैली में कथाकार उदृत करता है।

बाबा बटेसर नाथ :

'बाबा बटेसर नाथ' प्रगतिशील मानवतावादी कथाकार नागार्जुन की नूतन भाव शिल्प समान्वित रचना है। सर्वसाधारण के जीवन सत्यों का रहस्योद्घाटन करने वाली प्रस्तुत कृति में मानवीय पीड़ा और दु:खभोग का सामाजिकए आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर पारदशा चित्राकन हुआ ह।

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधिः डॉ0 आदर्श सक्सेना, पृष्ठ--207

कथाकार भारतीय जमानस की आस्था, विश्वास और रागात्मक के प्रतीक बटवृक्ष केन्द्र बिन्दु बनाकर कृति को विस्तार देता है। डॉ0 त्रिभुवन सिंह में कृति के संदर्भ में अपना अभिमत प्रस्तुत किया है कि कला की दृष्टि से वटवृक्ष जो असंख्य भारतीयों के विश्वास और शांति एवं शरण का प्रतीक है, इसका चुनाव उपन्यासकार की मार्मिकता की परख का द्योतक है।[1] क्योंकि विगत संदर्भो का सजीवन आकलन जितनी कुशलता के साथ मानवीकृत वटवृक्ष कर सकता था उतना और किसी भी पात्र में सम्भव नही हो पाता । पात्रों के चयन के विषय में डॉ0 ज्ञानचन्द गुप्त की यह आलोचना कि दरअसल नागार्जुन फार्मूला चरित्र निर्माण करते हैं । आंचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प वटवृक्ष के नायकत्व में धूँधली पड़ जाती है।

कथाकार एक ओर स्वकेन्द्रित स्वार्थ और अभिलाषाओं के वाहक अभिजात समाज का रूपायन करता है। जो इस संक्रमण कालीन राष्ट्रीय बेला में समाज विरोधी कार्यों द्वारा अहर्निश शोषण प्रक्रिया में संलग्न है तथा दूसरी और इनसे शोषित समाज का अकिंचनता और विवशता को भी तीक्ष्णता के साथ उद्घाटित करता है। सामूहिक संस्थानों पर सुविधा और सामर्थ्य के बल पर कब्जा किया जा रहा है। चरागाहों परती जमीन, गढ़ पोखरों ताल तलैयों को पाटकर अपनी अनाधिकृति मुहर लगाने के लिये होड़ लगी हुई है। सीमा विस्तार की इस प्रक्रिया में सम्भावित रक्त पात और नरमेव की आशंका से मानवता की सुरक्षा प्रतिपल संकटापन्न होती जा रही है।

कथाकार युग और समाज सापेक्ष यथार्थ को कुशलतापूर्वक उद्घाटित करता है। परदादा, दादा व पिता के स्वेद कणों से सिंचित वृक्ष राज की काया में जैकिशुन को सच्छावषुधारी दिब्य पुरूष से साक्षात्कार होता है अपनी आत्मकथा द्वारा ये विगत और वर्तमान का इतिहास प्रस्तुत कर जैकिशुन को विश्वजनीन हिताकांक्षा की प्रेरणा के साथ ही बहुजन हिताय बहुजन सुखाय और लोकानु कम्पाय की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं ।

रूपउली ग्राम के जैनरायन और पाठक उच्च समाज के ऐसे प्रतिनिधि है जिसके कारण रूपउली से लेकर धमिया पट्टी तक का मार्ग मेड़ की शक्ल का हो गया है जो कभी राजमार्ग था। सौ वर्ष के इतिहास में जमींदारों की तानाशाही की रोमांचकारी घटनाओं की लोमहर्षक गाथा को कृतिकार शोषक राजबहादुर और शोषित शत्रुमर्दन राम

1. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ0 त्रिभुवन सिंह, पृष्ठ–248

के प्रतीक प्रसंगों में उभारता है। राजमाता के रास पंचाध्यायी के परायण के समानान्तर चलने वाली विषम, विभत्स व अमानुषिक व्यवस्था की झलक प्रस्तुत करता है। इस नारकीय प्रक्रिया के प्रतिरोध में उठ खड़ी होने वाली विद्रोहात्मकता का सांगोपांग उल्लेख कर नागार्जुन जड़मृत परिवेश है। समूलोन्मूलन तथा इसके स्थान पर उदास मानवीय मूल्यों के प्रति स्थापना का संदेश प्रसारित करते हैं।

पूर्वाद्ध में उभरनें वाली ज्वलंत समस्याओं की सीधी अभिव्यक्ति उत्तरार्द्ध में राजनैतिक उन्मेष से जुड़ कर कहीं–कहीं प्रचारात्मकता का अवलम्ब लेती प्रतीत होती है। सम्भवतः इंन्ही कारणों से डॉ0 विवेकी राय ने कृति का राजनैतिक उपन्यासों की कोटि में परिगणित किया है। राजनैतिक भावधारा का अति प्रवाह उत्तरार्द्ध को नीरस और शुष्क बनाने के साथ लेखकीय मन्तब्यों को भी रूपाथित करता है। डॉ0 आदर्श सक्सेना ने इसे लक्ष्य कर उचित ही लिख है कि कथाकार का मानता है कि राज्य शक्ति भी शोषण में सहायक होती है। इसलिए उसके बनाये हुए कानून भी भूस्वामियों के लिए लाभदायक सिद्ध होते हैं। यही समस्या श्री नागार्जुन के उपन्यासों में भी उठाई गई है।[1]

इस दृष्टि बोध के कारण नागार्जुन की कृतियों पर राजनैतिक प्रभाव छाया हुआ है। प्रशासनिक स्तर पर संत्रस्त तो यहीं सर्वहारा वर्ग है। समस्या न केवल बरगद वाली भूमि की है वरन् सत और असत् के संघर्ष की है। स्वातंत्रय संग्राम में लाठी बूढ़ों की चोट खाते हुए गिलफदार होने वाला यह जन समाज स्वतंत्रतोपरान्त भी वास्तविक अधिकारों से हीन है। जैनरायन व टुनाई पाठक तथा सर्वसाधारण के मध्य होनें वाला संघर्ष स्थानीय समस्या नहीं वरन राष्ट्रव्यापी समस्या के रूप में उभर आयी है। वर्ग संघर्ष का प्रच्छन्न रूप नागार्जुन की कृतियों में स्पष्ट है।

कलावे :

जयसिंह की आंचलिक कृति 'कलावे' मालवा के दक्षिण पठार पर रहने वाले भील कलावों के जीवनवृत पर आधारित श्रेष्ठ रचना है। सन् 1947 ई0 के उपरान्त स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में अस्पर्शित लोक जीवन के उभार की भावनातरंगित होने लगी थी फलतः हिन्दी के सक्षम कथाकार उपेक्षित, अदेख और अबोल मानव को साहित्य जगत

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि : डॉ0 आदर्श सक्सेना

में प्रतिष्ठित करने के लिये प्रयत्नशील हुए। प्रस्तुत कृति इसी सहज प्रयास का प्रतिफल है।

कृति के चित्रपट पर भोले, निरीह, सहजश्रमी भीलो के जीवन का आडम्बरहीन प्रकृति जीवन पाल और उसके वासियों के संदर्भ में अंकित है। स्वायंत्र्योत्तर युगपत् जीवन प्रणाली को विभिन्न विसंगतियों के मध्य इनका अकथनीय दुख दर्द बिना किसी अरोपित मतवाद प्रचार धार्मिता के संदर्भ में उद्घाटित हुआ है।

आरक्षित वासवलों में आजीविका के लिये भटकते भीलों में प्रशासन के प्रति गहरा क्षोभ उभरता है और वे चोरी–चोरी जंगल काटने के लिए सामूहिक रूप से उतर पड़ते हैं। समय सापेक्ष परिवर्तन को कथाकार कानिया के प्रस्तुत कथन में रूपायित करता है। शोषित कानिया कहता है कि बैगार का क्या मुझे चंस्का है? अब बूढ़े जो करते आये उसे तो निभाना पड़ेगा न करें तो चमार पर हाथ कौन नहीं उठाता मेरी हड्डी पसली एक कर दें।[1]'

अशिक्षा अज्ञान, दुर्व्यसन और अव्यवहारिकता के कारण इन आदिवासियों ने अनेको विसंगतियों को स्वतः स्वीकार कर लिया है जिनके कारण इनका जीवन अभिशापग्रस्त हो गया है। निर्बुद्धि भील लेन–देन का झमेला मान लेते है। आपत्तिकाल में किये गये दुष्कर्मो का परिणाम झेलने के लिये ये सामूहिक रूप से संहर्ष प्रस्तुत हो जाते है। कथाकार अन्याय और शोषण के विरोध में उभरने वाली वर्गगत चेतना का उभार भीलो और सिपाहियों के संघर्ष में अंकित करता है। ये स्त्रियों का सतीत्व लूटने वाले सिपाहियों को मार कर लाद लाते है। भीलनियां भी इन वंचको पर थूकती हुई कहती है कि 'इन्हें इस तरह घसीटो जैसे गधी अपनी रस्सी के साथ उखड़ी हुई खूटी को बगैर किसी दयाभाव के घसीटती है।' किन्तु इतना यह कथन आवेग मात्र ही सिद्ध होता है। सिपाहियों द्वारा सवा सौ रुपयों में सौदा तय हो जाने पर युवा पीढ़ी के दौलता की असहमति और विरोध युगधर्मी चेतना को मुखर करते हैं।

पूर्व पीढ़ी का नीति चतुर वीरजा इस स्थिति से पार पाने के लिये ठाकुर दौलत सिंह की शरण में जाता है जिसकी सामन्ती मनोवृत्ति भील कलावों के श्रम और श्रद्धा का निर्वाध उपभोग करके भी इनके प्रति अत्यन्त घृणित और निर्मम बनी रहती है। उपन्यासकार जमींदार और भीलों के सन्दर्भ में शोषण के विरूद्ध भीलों के आन्तरिक विद्रोह के सहज विस्फोट को कुशलतापूर्वक संक्षेपित करता है। दौलता के स्वर में उभरा

---

1. कलावे : जयसिंह, पृष्ठ–40

यह यथार्थ की 'न मिले न देगें। जो होगा भुगतेगें[1]।' में संघर्ष का विकल आह्नवान ध्वनित है। न केवल दौलता में वरन् वीरजा की मानसिकता भी जौने से तीस रूपयों की शराब खोरी के उपरान्त पौने दो रूपयों को सिपाहियों को देते हुए झूठी अकड़ और शान के साथ उसका यह कहना कि 'पौन दो रुपये बच ही गये आखिर। इसे ले लो और यहां से लम्बे वनो' में उसका अब्यक्त विद्रोह बड़े प्रभावशाली ढ़ंग से चिहिंत हुआ है।

जीवन में पग–पग पर शोषित भीलों की वास्तविकता काकरूण चित्र' आदिवासी सम्मेलन, की आड़ में उभरता है। भूखे नंगे भील सिपाहियों द्वारा दोरों की भांति ले जाये जाते हैं। भीलों का सांस्कृतिक समारोह स्वयं में अबूझों और अज्ञानों का जमघट होते हुए भी मंत्री महोदय के लिये आह्लादक है क्योंकि देश की पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से उनकी, फूलचन्द और दौलत सिंह जैसे घाघ समाजसेवियो की देशभक्ति लाल सुर्खियों में कपने के लिये अवसर पा चुकी है।

भीलो के हाथ तो इस अवसर के उपरान्त पाल का सूना–सूना परिवेश ही आता है जहां से ठाकुर साहब उनकी भैसों को ले जा चुके है। फरियाद ले कर जाने वाला बुढ़ा ठाकुर को सरपंच बनाकर·उनके कूर पद प्रहार से सर्वदा के लिये इस संसार से चला जाता हैं कचरू के पुनः पाल में लौटने के साथ ही जमींदार और भीलो के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। कानियां और वीरजा शहर जाकर न्यायिक स्तर पर अपने संरक्षणे की व्यवस्था करने में तत्पर होते हैं किन्तु कचहरियों का खुला भ्रष्टाचार शोषण की कड़ियों मे एक और कड़ी जोड़ देता है। जमींदार की सम्मिलित शक्ति से पराभूत भील समुदाय अन्यत्र पहाड़ी पर शरण लेकर अपनी अनन्त जिजीविषा का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

तटस्थ भाव से भील कलावों के जीवन का मार्मिक यथार्थ और प्रामाणिक चित्रण करने वाली कृति में इनकी आर्थिक स्थिति का खोखलापन, सामाजिक परिवेश की हृदयद्रावी विवशता तथा सांस्कृतिक पक्ष की विद्रूपता और राजनीतिक परिवेश की प्रवंचना का सहज रेखांकन कथाकारीय समग्रबोध को चित्रांकित करता है।

---

1. कलावे : जयसिंह, पृष्ठ–63

अलग–अलग वैतरणी :

प्रमुख उपन्यासकार शिव प्रसादसिंह की बहुचर्चित अनांचलिक कृति "अलग–अलग वैतरणी" के बृहतकार्य कलेवर में समग्र राष्ट्र की स्वातंत्र्येत्तर गतिविधियां नये मूल्यों के सन्दर्भ क्रम में उद्घाटित हुई हैं। कथाकार परम्परागत सामंतशाही की भरभरा कर टूटती दीवारों के परिपेक्ष्य में उभरती सर्वहारा चेतना को व्यापक यथार्थरूप से चित्रांकित करता है।

जमींदारी उन्मूलन की पृष्ठभूमिं में दस गुना लगान जमाकर कल का सेवक समुदाय भूमिधरी के पर्चे पर स्वामित्व ग्रहण करने लगा है। फलस्वरूप एक बात जरूर हुई कि काम के हलवाहे और बनिहार मिलना मुश्किल हो गया[1]।' कृतिकार गांव के दक्षिण तरफखांई नुमा तलैया के पार बसे चमटोल के प्रसंग में अभिनय ग्राम संस्कृति का उद्घाटन करवाया है तो इस संदर्भ में लिखा है कि अलग–अलग वैतरणी में ग्राम संस्कृति का नया रूप बहुत स्पष्टता से अंकित हुआ है और यह निखार पाताहै बाबुओं के गांव से लगी चमटोल में जहां तल के लोग सामाजिक, नैतिक जीवन के संघर्ष संक्रमण को जी रहे है[2]।'

लगभग दो दर्जन ग्राम परिवारों की संश्लिष्ट कथा द्वारा पारस्परिक वैमनस्य, छिद्रान्वेषण, तनावकुंठा, आस्था, अनास्था की विभिन्न विसंगतियों से जकड़े करैता ग्राम के रूपायन में कथाकार जीनवीय मूल्यों के अवमूल्यन क्रम का समकालिक चित्र उपस्थित करता है। स्वतंत्रता परवर्ती जीवनीथ मूल्यों का विघटन ग्राम पंचायत के प्रसंग में उभर कर आता है। जैपाल सिंह हार करभी नहीं हारते और वर्गवाद के आधार पर निर्वाचित सुखदेव राम जमींदार और पुलिस से अनैतिक सांठ गांठ कर गांधीवाद का मखोल उड़ाते चित्रित है। सांस्थानिक परिवर्तनों का यह विद्रूप गांव को ले डूबता है।

परिजन के रूप में स्वामी वर्ग के सभी दुष्कृत्यों को शिरसा स्वीकार करने वाले श्रमिक वर्ग को अकाल में सहायता के स्थान पर जब उपेक्षा ताड़ना और बेकारी का उपहार मिलता है जो उनका आक्रोश फूट पड़ता है। वंशी का हलवाहा कातिक में अपने परिवार के उपवास से त्रस्त होकर बन्नी पर काम करने का आग्रह करता हैं तो काम से ही हाथ धो बैठता है। झिनकू जैसे श्रमिक कोधनेसरी, भगत और दुलारी द्वारा नयी

---

1. अलग–अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ–274
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–157

सचेतना प्राप्त होती है। तो ये गांव घर से दूर के आजीविका के तलास में निकल पड़ते हैं। खेतिहर मजदूरों में उचित पारिश्रमिक के अभाव में विद्रोह वृति पनप रही है।

कल का उपेक्षित समुदाय आज पूरी तरह से जागृत हो उठा है। पारिश्रमिक को लेकर पूर्वतः हुए संघर्ष में जहां ये पूरी तरह पराजित हुए थे और चमार और चमारिनों पर बेहद मार पड़ी थी। तालाब में नहाती औरतों को झोंटा पकड़ कर खींचा गया खेत से घास–पात, साथ सालन लाती चमार की लड़कियों को दौड़ा–दौड़ा कर बेइज्जत किया गया। डांड़ पर चलते चमारों के बदन लहुलुहान हो गये। आज ये ही सरेआम वदफेली में पकड़े गये सूरजू सिंह से प्रतिशोध लेने के लिए बारहों गांव की वटोर द्वारा अपना लक्ष्य निश्चित कर चुके हैं। डोमन द्वारा वस्तुस्थिति से मुंह मोड़ लेने पर भी भीतर की लड़ाई को भुलाकर पूरा चमटोला सुगनी को आगे लिये हुए सूरज सिंह के बइठके के सामने गली के मोड़ पर आया तो वर्ग संघर्ष का भीषण सूत्रपात हो जाता है। निहत्थी भीड़ में उनका सत्यान्वेषी मार्ग दर्शक भगत इस संघर्ष की बलि चढ़ जाता है। कथाकार ने वर्ग चेतना के भूल में स्थित विभिन्न कारणों, उपकारणों की यथार्थता को अनावृत किया है।

प्रजातांत्रिक विघटनशील से लेकर शिक्षा जगत तक की विद्रूपता को कथाकार चित्रित करता है। सामाजिक यौन विकृतियों और विसंगतियों की पृष्ठभूमि करैता का हर पात्र अपनी टूटी हुई मनःस्थिति लेकर उभरता है। अर्न्तहीन नारकीय घुटन, पीड़ा और संत्रास इतना गहरा है कि नये सपनों के साथ लौटने वाले विपिन देवनाथ और शशिकान्त सभी पलायित हो जाते हैं। कथाकार विभिन्न पात्रों की अंतरंगता को उनकी पीड़ा के साथ निस्संग भाव से आलेखित करता है आन्तरिक द्वन्द्व और पीड़ा बोधने ने केवल निम्नवर्ग को शहरों की ओर ढ़केला है वरन सारी पढ़ी लिखी पीढ़ी ही नगरों की ओर संतरण कर रही है गांव से सभी अच्छी वस्तुओं का निर्यात होते देखकर जगन मिसिर का मानसिक क्षोभ बहुत कुछ कथाकार की मानसिकतां का प्रतिनिधित्व करता प्रस्तुत है। स्पष्ट है कि ग्राम कथाकार के रूप में शिवप्रसाद सिंह आस्थावादी कथाकार हैं परन्तु आलोच्य कृति में आधुनिक दृष्टि है। टूटते गांव के प्रतिभावुकता कम यथार्थ और वैज्ञानिक विचार दृष्टि अधिक है। व्यक्ति समस्याओं को नये मनोविश्लेषण और समाज समस्याओं को नवचिन्तन के संदर्भ में आंका है।

. मैला आंचल :

मैला आंचल प्रख्यात उपन्यासकार फणीश्वर नाथ रेणु की बहुचर्चित आंचलिक कृति है प्रेमचन्द की औपन्यासिक कृतियों में उभरी आचंलिकता की प्रवृति कतिपय संदर्भो में नागार्जुन के बलचनमा से होती है, युगान्तरकारी शिल्पगत नव्यता के साथ मैला आंचल में प्रतिष्ठित हुई है। कृति से लेकर आकृति की या चित्र से लेकर फोटो चित्र तक की संज्ञा प्राप्त करने वाली रूह रचना मतभेदों और अतिवादों के मध्य भी अपनी वैशिष्ट्य उद्‌घाटित करती रही है।

डॉ0 इन्द्रनाथ मदान ने इस आक्षेपों और आलोचनाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इसका मूल कारण उपन्यास से गुजरते की बजाय इस पर अपनी दृष्टि को आरोपित करना है।[1] कृति के उचित मूल्यांकन में प्रतिबद्धता निश्चित की बाँधक हैं, सर्जक और आलोचक के दृष्टि के कारणों ही प्रस्तुत कृति के संदर्भ में यह अतिवाद उभरे है। रेणु की वस्तुन्मुखी दृष्टि ने मेरीगंज जैसे पिछड़े गांव की पृष्ठभूमि में बिहार के पूर्णिया अंचल के संश्लिष्ट जीवन यर्थाथ को परिवर्तित युग संदर्भ में निरपेक्ष भाव से चित्रित किया है। स्वतन्त्रतापूर्वक और पश्चात की संक्रमण वेला में अंचल विशेष के जीवन के विविध जीवन सत्यों का, सघन और तटस्थ आकलन रेणु की किसी वर्ग विशेष से प्रतिबद्ध न होने पर भी उनकी स्थितियों की मार्मिकता को उद्‌घाटित करने में अपूर्व सफलता मिली है। समाज के हर वर्ग को दुख–दैन्य, हर्ष–अमर्ष, राग–विराग, समता–विषमता, उत्कर्ष–अपकर्ष, सन्तुलन–असंतुलन, को सम्वेदनशील दृष्टि से परखने की क्षमता कथाकार की मानवीय दृष्टि को उद्‌घाटित करती है। गांव की आन्तरिक विसंगतियों से समस्त भारतीय ग्रामीण श्रमिक और छोटे किसानो की दुरावस्था को उपन्यासकार के समीप से देखा है। बारहो बरन वाले इस गांव में पिछड़ापन, दलबन्दी, जातिवाद, वर्गवाद, मूल्यहीन अर्थव्यवस्था और विघटित नैतिकता की टूटती परम्पराएँ उपस्थित हैं। स्वतंत्रतोपरान्त राजनीतिक छलछदम की अधिकार वादी मनोभावनाओं से ग्रसित समाज में विपन्न शोषित और दलित सर्वहारा के दोहन के अनेक चित्र उभरे है।

गांव में डिस्ट्रिक बोर्ड की ओर से मलेरिया सेंटर खोलने की रूपवद्ध योजना में पूरे गांव का सहयोग अपेक्षित है। किन्तु लोकहित के भावना से विरत सवर्ण तथा कुलीन वर्ग जहां संकुचित मनोवृत्ति के कारण यह कहता है कि अस्पताल से सिर्फ मालिक लोगों की भलाई होगी क्या? सर्वहारा समाज का विपन्न वर्ग आये दिन के पारिश्रमिक

---

1. आज का हिन्दी उपन्यास : डॉ0 मदान, पृष्ठ–60

पर ही अपना सहयोग समर्पित करने की आकांक्षा व्यक्त करता है। कथाकार मठ, महंथ और लक्ष्मी दासिन के संदर्भ में अवैध यौनाचार का घृणित यथार्थ चित्रित करता है।

रेणु ने इन संदर्भों में मिथिलांचल की परिवर्तनशीलता को बड़ी गहराई से अंकित किया है नेमिचन्द्र जैन ने मेरी गंज की यथार्थता को लक्षित कर उचित ही लिखा है, कि इसमें मिथिला के निरन्तर बदलते हुए, आज के एक गांव की आत्मा की गाथा है, जो सोते–सोते अब जागकर अगड़ाई ले रहा है[1]।' न केवल मिथिलांचल वरन् समग्र भारत की सन् 1946–47 ई0 की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक चेतना का जागरण कृति के परिपेक्ष्य में साकार हो उठा है। रेणु की सूक्ष्म आछिणी दृष्टि से मलेरिया सेन्टर हो या चर्खा सेंटर सभी के केन्द्र में शोषित उत्पीड़ित दीन–हीन समाज को प्रवंचित होते चित्रित किया है। शोषक और शोषितों की व्यथा कथा को निरन्न और निर्वस्त्रों की जीवनी विद्रूपता को वृद्धि के फलक पर अपनी व्यंग विद्यार्थिनी क्षमता से अनावृत करने का श्रेय रेणु को ही है।

अभावों की पीड़ा से आहत समाज का वस्तुन्मुखी यथार्थ जीवन के हर मोड़ पर चित्रित है। फटे चिथड़े पेवन्द भरे वस्त्रों की भांति कर्ज की अनोखी दीपों की बिन्दियां इनके व्यक्तित्व पर चिपकी हुई हैं। और ये महापर्व के उत्सव पर एक टीप और बढ़ाने की याचना करते है तो मालिकान समाज हाथ खींच लेता है। जमींदारी प्रथा के शोषण चक्र में जूतों की कीलों से शरीर विंधवाने वाले वर्ग की आंतरिकता की मार्मिकता तो उस समय उभरती है, जब वे इस दानवी शोषण से मुक्ति पाने के लिए स्वराज्य का सुख स्वप्न संजोये हुए अपने भूखे बच्चों का पेट काट कर गांधी जी के नाम पर मुठिया निकालते है। न केवल यह राजनैतिक उन्मेष है वरन् भारतीय सर्वहारा समाज की स्वतंत्रता की बलिवेदी पर उदात्तभाव से समर्पण का अप्रतिम उदाहरण है।

जमीन की वेदखली और संस्थालों को भूमिहीन बनाने के कुचक्र में एक नये यथार्थ का अंकन होता है। डॉ0 प्रशान्त और कालीचरण के वक्तव्यों से अधिकार हीन समाज ने चेतना का अंकुरण इस सीमा तक होता है कि वे शोषक समाज से लोहा लेने के लिये एक जुट हो जाते हैं। गांव की नई दलबन्दी में छोटी जाति वालों ने अपना काम बन्द कर दिया है और स्वार्थवश बड़े लोग एक दल में मिल गये हैं। इस विषाक्त राजनीतिक परिवेश में भोले–भाले आदिवासी संस्थालों को वर्ग संघर्ष में जैसी अपूरणीय क्षति उठानी पड़ती है। वह बड़ी कारूणिक है। प्रशासन की क्षेत्र में घृणित हथकण्डो के

---

1. विवेक के रंग : नेमिचन्द जैन, पृष्ठ–207,208

बल पर विजय तो उच्चवर्ग को ही मिलती है किन्तु काले पानी की सजा पाकर तो संस्थालों का समूह की उच्छिन्न हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में अपना अभिमत स्पष्ट करते हुए डॉ0 परमानन्द ने लिखा है कि 'वर्ग-संघर्ष का चित्र तो है पर सहज और स्पष्ट उस पर अलग से आग्रह आरोपित करने की आवश्यकता नहीं है।[1]'कृति का मूलस्वर जीवन की जटिलता को समग्र रूप से उद्धत करने का है बिना किसी दुराव छिपाव के। डॉ0 प्रशान्त और कमला के सम्बन्ध को लेकर कतिपय आलोचकों के रेणु के अभिजात्य व्यामोह पर भी आक्षेप किया है जो कृति में अनावश्यक रूप से जुड़कर कुछ दरारे डालता है।

निश्चित ही रेणु को सामान्य वर्ग की उर्ध्व और अधोगामी मनोवृतियों के चित्रांकन में जितनी सफलता मिली है, इससे विलग कुछ पात्रों की अतिमानवीयता निरूपित करने में यथार्थ पर आदर्श का आरोपण असहज हो गया है। गांव की पृष्ठि भूमि में स्वच्छन्ता की ये सीमायें वास्तविक दृष्टि से तत्कालीन समाज में उभर नहीं पायी थी। सम्भवतः इन्हीं कारणों से डॉ0 मदान ने कृति को विश्लेषित करते हुए लिखा है कि 'मैला आंचल' मे आधुनिकता की चुनौती को विभिन्न धरातलों को स्वीकारा गया है[2]।' कृति का उत्तरार्द्ध मुख्यतः राजनीतिक संदर्भो से जुड़ गया है। रेणु ने सर्वहारा जीवन की समवेत आकांक्षाओ को राजनीतिक परिपेक्ष्य में अंकित किया है। बालदेव से अधिक कहीं कालीचरन की उद्वेलनशील स्वर लहरी शोषितों के मध्य चेतना का संचार करती है। रेणु ने राजनीतिक संदर्भो की चित्रात्मक व्यंजना, अपने विभिन्न सुराजी और क्रांतिगीतों में की है। निम्नवर्गीय सुनरा, सनीचरा आदि मांग और ताड़ी के नशे में भी शोषणकत्ताओं की हड्डी-हड्डी से प्रतिशोध लेने की घोषणा करते है। यथार्थ की इन्हीं भंगिमाओ का निर्देश देने के कारण 'मैला आंचल' की महत्ता द्विगुणित हो गयी है। संश्लिष्ट जीवन का इतना व्यापक और भाग्यशाली चित्रण अब तक नहीं हो सकता था। यथार्थवाद के नये क्षितिज खोजने के प्रयत्न के रूप में रेणु लिखित 'मैला आंचल' का बहुत बड़ा महत्व है।[3]'

भारत के सम्पूर्ण गांवो का प्रतिनिधित्व करता 'मेरीगंज' जिस रूप में 'मैला आंचल' में व्यक्त हुआ है। स्वाधीनता संग्राम की लहर से प्रभावित और स्वाधीनता वाद की राजनीतिक चेतना से जुड़ा यह गांव जिस पतन और नैतिक ह्यास का शिकार हुआ

---

1. आंचलिक सम्वेदना का शिल्प, उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा : डॉ0 परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ-46
2. आज का हिन्दी उपन्यास : डा0 इन्द्रनाथ मदान
3. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : गोविन्द त्रिगुणायत, पृष्ठ-441

है, यह द्रष्टव्य है रेणु के गांव में फूल भी है, शूल भी, धूल भी है, गुलाल भी, कीचड़ भी है चन्दन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी, मै किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया[1]।" यह कहकर रेणु अपने अनुभव की प्रामाणिकता को स्पष्ट करते है; लेकिन आलोचकों ने इस वक्तव्य के आधार पर उन्हें आंचलिक उपन्यास की धारा का प्रर्वतक मानकर प्रेमचन्द को यथार्थ धारा से काटने का प्रयास किया। जबकि रेणु प्रेमचन्द की परम्परा के सशक्त रचनाकार हैं।

आंचलिक उपन्यास 'मैला आंचल' में भूमिपतियों के शोषण के विरूद्ध जो स्वर मिलता है वह हमारी समाज व्यवस्था पर तीव्र व्यंग है, भूमिहीनों की समस्या ये थी कि हजार मेहनत करने के बाद भी उनका अपना कहने को कुछ भी नहीं था 'सोने के आवाज से भरे हुए धरती के भण्डार का उद्घाटन करने वालों पर धरती माता का कोप होना स्वाभाविक है। यह कारण है कि आज जमीन के मालिकों ने जमीन व्यवस्थापकों ने और धरती के न्याय ने धरती पर इनका अधिकार नहीं जमने दिया. है, जिस जमीन पर इनके झोपड़े है, वह भी उनकी नहीं, हल में जुता हुआ बैल दिन भर खेत चास करता है, इसलिए बैलो का हकदार कबूल किया जाय? यह कैसी बात है;[2] लेकिन इस अन्याय के विरूद्ध भी किसानों में चेतना विकसित होने लगी थी, ऐसे अनेक प्रगतिशील विचार वाले किसान थे जो यह मानते थे कि "जमीन का मालिक वही है, जो इस पर हल चलाता है। जमीन किसकी? जोतने वालों की। जो जोतेगा, वह बोयेगा, वह काटेगा। कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो"[3] किसानों में इस नवीन चेतना को विकसित करने में अनेक ऐसे राजनैतिक दलों का भी योगदान था जो मूलतः प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित थे। पर शोषण के जो अप्रत्यक्ष तरीके थे, साधारण किसान उनसे भी परिचित हो गए थे, वह मलिकाइन बड़ी चालाक थी। भादो आसिन में वह अपने वखार खोलती और चढ़े दाम पर सारा धान बेच लेती। डेढ़ सो मन ड्योढ़ सवाये पर लगाती। देते समय का बटखरा लेते समय गायब बतलाया जाता।[4]" तत्कालीन व्यवस्था से न ही लेखक ही संतुष्ट था न ही जनमानस उनका असंतोष इस शब्दों मे व्यक्त होता है। "साधारण जनता स्वर्ण युग तो अभी आने वाला है बेटा"[5] निष्कर्षतः रेणु के आंचलिक उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग के हीन–दीन दशा का निरूपण साहित्य में प्रक्षेपित होता है।

---

1. मैला आँचल पुनर्पाठ / पुनर्मूल्यांकन : परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ–131
2. मैला आँचल : फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ–131
3. वही, पृष्ठ–129
4. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–22
5. मैला आँचल : फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ–64

परती परिकथा :

'परती परिकथा' मूर्धन्य कथाकार रेणु की स्तम्भ कोटि की रचना है, जो उपन्यास क्षितिज पर नवीनता का संमार लिए हुए उदित हुई। डॉ0 विवेकी राय ने इसे नयी कल्पनाओं ओर नये सपनों का उपन्यास मानते हुए मुख्यतः भूमिहीनों की समस्याओं का उपन्यास कहा है। प्रकाश वाजपेयी ने कृति को मूल्यांकित करते हुए लिखा है कि परती की यह समग्र कथा है। उसके भूत, वर्तमान और भविष्य की कथा यहां संयोजित है।[1]

निश्चय ही रेणु ही प्रस्तुत कृति दुलारीदाय के अंचल मे फैलघूसर, वीरान, अन्तहीन, प्रान्तर परती जमीन, वन्धया धरती और धरती से जुड़े लोगों की प्रतिहत नियत का पारदर्शी चित्रांकन करने वाली रचना है। ग्रामीण जीवन के जटील परिवेश के मध्य निम्न वर्ग की अधोगति और स्वतंत्रता परवर्ती उनकी सामाजिक, आर्थिक, नैतिक ओर सांस्कृतिक विच्छिन्नता तथा अन्यान्य अभावों को कथाकार ने 'परती परिकथा' के विशाल फलक पर चित्रवत अंकित किया है।

कृति का प्रारम्भ विहार प्रान्त के पूर्णिमा अंचल के लैण्ड सर्वेसेटलमेंट के संदर्भ में होता है। सात–आठ हजार की आबादियों वाले उन्नत गांव परानपुर में वर्गवाद के आधार पर प्रत्येक राजनीतिक पार्टी की शाखा कार्यरत है। सारे जिले में गत तीन वर्षो की विशाल आंधी चल रही है सर्वेवेहमीन का कहना है कि यदि किसी प्लाट पर कौआ भी आकर कह दे कि जमीन मैंने जोती बोयी है, तो उसका नाम लिखने को मजबूर है। ऐसी स्थिति में जिले भर के किसानों और भूमिहीनों में महाभारत मचा हुआ है। सिर्फ भूमिहीन ही नहीं, डेढ़ सौ विघे के मालिकों ने भी दूसरे बड़े किसानो की जमीन पर दावे किये है।.........हजार बीघे वाला भी एक इंच जमीन छोड़ने को राजी नहीं[2]।' भूमि व्यामोह की इस आपाधापी में सरकारी तंत्र के करिश्मों से निम्नवर्ग की विघटनशील स्थिति को रेणु ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक उद्घाटित किया है। राजनीतिक धुरन्धरों की पेंतरेबाजी, जिनके पास हर समस्या की ओर चाबी उपलब्ध है, ।और जो व्यक्तित्व स्वार्थसिद्धिके लिये समाज के हर वर्ग में घृणा विशेष और वैमनस्य का बीज बोकर निरन्तर तोड़ने की प्रक्रिया में संलग्न हैं कथाकार ने उनका मुखौटा उतार दिया है। निम्नवर्गी ग्रामीणों की सुप्त अन्तश्चेताना राजनीतिक संस्पर्श से जागृत होने लगती है। और, लंगीबाज कुत्तों के नेतृत्व में सर्वे में जमीन हासिल करने के लिए ये संगठित होने लगते हैं।

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : प्रकाश वाजपेयी, पृष्ठ–94
2. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–27

रेणु की सर्जनात्मक क्षमता ने समाज के हर वर्ग को पूरी ईमानदारी के साथ उभारा है। कथाकार की दृष्टि से सर्वथा प्रगतिशील है। नटिन टोले की वीरांगनाओं की वस्तुस्थिति चित्रांकन के साथ रेणु की प्रगतिशील प्रतिभा ने उनके बीच ताजमनी के रूप में अभिनव सुसंस्कृत सुरूचिपूर्ण दिव्य नारी व्यक्तित्व का अंकन किया है। रेणु की दलित वर्ग की नारी पात्र अपने समाज की विकास का रूपायन ही कथाकार का अभिप्रेत रहा है। दीनहीन रूढ़िग्रस्त समाज को उतारने का कृतसंकल्पी पात्र जितेन्द्र रेणु की आधुनिक मनोवृत्तियों से विलग इसके लोक हितकारी व्यक्तित्व के माध्यम से रेणु ने विश्रृंखलित समाज को मानवीय सूत्रों में बांधने का प्रयास किया हैं।

सर्वेसेटलमेन्ट की आंधी में बिखरे तथा सूत्रों के मध्य हरिजन टोले और नटिन टोल के पात्रों की विविध स्थितियों का प्रामाणिक अंकन इनकी मान स्थितियों के सन्दर्भ में कथाकार अंकित करता है। नटिन कन्या ताजमनी और असवर्णा मलारी की सर्जना द्वारा कथाकार ने कृति में काव्यात्मकता की वृद्धि के साथ वर्णभेद की टूटती श्रृंखलाओं को भी चित्रित किया है, ताजमनी में अभिजातीय सनातन हिन्दू नारी का शील सौंदर्य और सुचिता सुरक्षित है। जन्म से हरिजन परन्तु शिक्षा और संस्कारों से अभिजात वर्ग की मलारी का परम्परामंजक व्यक्तित्व सचमुच ही दुलारी दाय का प्रतीक कर उभरा है। मलारी पुराने संस्कारों का नया विकल्प बनकर प्रस्तुत हुई है। रेणु ने अस्पृश्यता, अंधविश्वास, रूढ़ि और अज्ञानता में भटकते सर्वहारा समाज की विद्रूपता को व्यंग विधायिनी क्षमता से उपन्यस्त किया है। हरिजन और नटिन टोले को अपनी इसी क्षमता से चित्रांकित किया है। गांवों में व्याप्त अंधविश्वास के कारण ही हमारे बहुत से गांव प्रगति नहीं कर सके है और उन अंधविश्वासों के प्रति उनके मन में विश्वास और आस्था का भाव है पर अपनी रूढ़िवादिता के कारण वे आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति का लाभ उठानेसे वंचित रह जाते है। 'स्त्री के मृत्यु के बाद से जोत खीजी बहुत गुमसुम रहते है........डाक्टर को कितना कहा जाय कि कोई दवा दारू देकर रामनारायण की मां को उबारिए लेकिन कौन सुनता है? बस एक ही जवाब। बच्चा को पेट काटकर निकालना होगा। शिव हो! शिव हो! पराई स्त्रियों को बेपर्द करने की बात कैसे उसके मुंह से निकली?''[1] वस्तुतः इन उपन्यासकारों का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना रहा कि एक ओर तो युग चेतना का विकास कहां से कहा हो गया और दूसरी तरफ गांवों में प्राचीन

---

1. परती परिकथा : फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ–20

संस्कार ने लोगों को मोहाच्छादित कर रखा है, अतः गांवों की प्रगति के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि सबसे पहले ऐसे तत्वों को समाप्त किया जाये।

जटिल जीवन यथार्थ का सम्यक चित्रण करने वाले कथाकार ने ग्राम जीवन के परिपेक्ष्य में इसकी रागात्मक चित्रवृति के इतने मोहक चित्र खीचे हैं कि एक–एक चित्र मूर्तमान हो उठा है। ग्राम जीवन के सौंदर्य द्रष्टा कलाकार ने मानवीय सम्भवनाओं के धरातल पर आधुनिकता का साक्षात्कार किया है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्तर पर विघटित समाज को रेणु ने सांस्कृतिक रागात्मकता के सेतू से जोड़ा है। यही पर रेणु का कवि उभर आया है। आलोचकों ने तो कृति की घटनायें, पात्र और विवरणों को काव्यम् मानते हुए इसके सम्पूर्ण कलेवर को ही काब्यमय माना है। रेणु में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में राग द्वेषो से विरत मानवीय सम्बेदनाओं को कोमल उभार दिया है। एक सहज राक्षस धरती परदांत मारते हैं। स्नेह विह्वल दंता की मनोव्यथा को शब्दों के माध्यम से सकार करने वाली रेणु की कला अप्रितम है।

ढाक ढक्कर ढाक ढक्कर

कोड़–भैर्रा–रांआ–आहे। कोड़ भैर्रा आ–ह।

कृति में संश्लिष्ट बिम्ब उभरता है। दूध भरे पोखर में चांद। अदृश्य अंचल से दूध झरते देखा। मां की मृदु गंध से उसका आंगन महंक उठा[1]।' आलंकारित शैली में प्रकृति और परिवेश को मूर्तमान करने की अनन्य क्षमता है रेणु के पास। बिम्ब गति और रंग की उद्भुत समन्विष्टि द्रष्टव्य है। कोसी बांध के निर्माण में श्रमशील मानवों की स्वरलहरी में तैरते हृदय के आद्रमनोभाव और अनन्त जिजीविषाक स्वर अत्यन्त मुखर है।

बबूल :

जिन स्वाधीनोत्तर उपन्यासकारों ने शदियो के दलित उपेक्षित और अस्पृश्य मानवों को उपन्यस्त कर मानवता के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है। इनमें डॉ0 विवेकी राय का स्थान उल्लेखनीय है प्रस्तुत कृति बबूल अस्पृश्य हरिजन जाति के जीवन अन्तर्वाह्य पराभव की समुचित व्याख्या करने वाली चित्रोपम गाथा है।

सामाजिक, आर्थिक और नैतिक पृष्ठभूमि में निरन्तर शोषित, उत्पीड़ित और निर्मम प्रहारों से जर्जर समाज की अधोगति को व्यस्त करने प्रबुद्धशील जैसे तरल आत्मा वाले लेखक को अन्तवृष्टि ही सक्षम हो सकती है। आनुभूत्यात्मक स्तर पर भोगे बिना

---

1. परती परिकथा : फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ–275

जीवन की मार्मिकता का प्रामाणिकता चित्रण असम्भव है। पारिवारिक कथावस्तु, डायरी शैली में रचित उपन्यास और सर्वहारा जीवन के ही आनुंषतिक चित्रण, कृति की आंचलिकता को प्रत्यक्षतः उजगार नहीं करते किन्तु क्याइस कृति की आत्मा में जो प्रतिबिम्ब उभरा है, वह समग्र पूर्वांचलीय सर्वहारा का बिम्ब प्रस्तुत नहीं करता।

घुरविन की अंधेरी जीर्णशीर्ण कुटिया में पुत्र का जन्म होता है तो सघः प्रसूता के लिए कोड़ी भर गुड़ का जुगाड़ भी नहीं रहता? चांद, सूरज, धरती पर उतर नहीं आए तो धरती की सीमा वहां तक पहुंच गयी।[1]' किन्तु स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ? अभावों के संसार में जन्म लेने वाले महेश राम के साथ अपभ्रष्ट महेसवा की संज्ञा स्वतः जुड़ गयी। इस बालक की मां दरपनी कड़कड़ाती दोपहरी में तालताल सरेहि–2 मेंड़ लुगार में ऊपर से जलते आकाश और नीचे तपती धरती परगोबरो की खांची लिए घूम रही है। पांच छः वर्ष के बालक को अरहर की खूटियां बीतने देखकर कथाकार की भावनात्मक आर्द्रता शब्दों के माध्यम से फूट पड़ती है। पूर्व परम्परा से प्राप्त गरीबी के अक्षय उपहार को अपने अपराजेय पौरूष से इन धर्म भीरूओं ने संतोष की सीमा में बांध लिया है तभी तो कथाकार ने कहा है कि 'यह धर्म खाता है कर्म पीता है[2]।' किन्तु इनकी विवशताओं का अंत कहां? दुख, दैन्य, रोग व्याधि, गंदगी बुभुक्षा के साम्राज्य में पलने वाले जीवों का जीवन साधन सम्पन्नों से सर्वथा विलोम पथ पर अग्रसर है। धूल में जीना, खरपात में सोना और सागपात पर दिन काटना[3] है। निरंतर अभावों के संसार मे जीने वाले इन प्राणियों के मन में धर्म के प्रतीति भी धुंधली पड़ जाती है। क्योंकि निष्फल कामनाओं ने इन्हें विश्वास विरत बना दिया है, फटी साड़ी के तार–तार से झांकती नारी की लज्जा स्वयं लज्जित होने लगती है, तो उनकी मर्मान्तक वेदना फूट पड़ती है। 'बाबू लोग आज भी चैन की वंशी बजाते हैं। यह तो हम है कि यहा कुत्ते की मौत मरने जा रहे हैं।[4] तन की लज्जा की रक्षा के लिये कुयें में कूद कर आत्महत्या करने वाली दरपनी को कफन भी मिलता है तो चोरी का।

जीवन के कठोर संघर्ष मे पलने वाले इन अंकिचनों की अंतरंगी मधुरिमा को कथाकार अत्यन्त निकटता से परखता है। गौने में तरूण महेसवा और उसकी पत्नी की पवित्रयुगल जोड़ी की नैसर्गिक छवि के समक्ष कथाकार को वैभवशाली समाज का समस्त परिवेश मिथ्या आडम्बरपूर्ण और विकृतियों का आगार प्रतीत होता है। एक ओर उच्चवर्गीय राय साहब की बरात का दृश्य अंकित है जहां संस्कृति व्यवसाय का पर्याय

1. बबूल : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–36,37
2. बबूल : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–47
3. वही, पृष्ठ–23
4. वही, पृष्ठ–57

बन चुकी है दूसरी ओर है सहज सरल जीवन का अनिर्वचनीय आह्लाद। इस पुण्य बेला में भी श्रम का सहज माधुर्य विढारा हुआ है, चिलचिलाती धूप मे भूभूर की दहकती आंच को कमलदल प्रतीत करने वाली वधू है। तो सास की पकाई पकवानों की गठरी को स्वर्ण मुकुट से भी महत्व देने वाला पर है।

उपन्यासकार के परिवशगत् अन्तराल को दो विपरीत दिशागामी जीवनधाराओं और उनके जीवनादर्शी की समानान्तर समीक्षा में प्रस्तुत करता है। जहां एक और अनन्त लालसा का विपुल अर्थपूर्व साम्राज्य है साधनों और उपकरणों के मध्य एकरस की कृत्रिमता है; वहीं दूसरी ओर प्रकृत्यांचल में पलने वाले निरीहों का निर्द्वन्द्व उन्मुक्त विहार जीवन को पल–पल को नवरसानुभूति से सराबोर कर रहा है। जीवन की सहजता के आग्रही कथाकार ने भौतिकता से रीत ईीन प्राणियों के जीवन को उन्हीं के परिवेश में देखा, परखा और चितिंत किया है।

युगचेता कथाकार समाज के सम्मुख इनकी उपादेयता को इस शब्दों में स्वीकार करता है कि ये सहिष्णु हैं तो धरती के समान, उपकारी हैं तो इस पाकड़ के पेड़ के समान, निश्चिन्त हैं तो उस बबूल पर बैठी चिड़िया के समान, और गरीब है तो दूर तक खिंचती चली गयी इस पगडंडी के समान विधुर नरेश दरपनी पर स्निग्ध आसक्त मन की कोमल भावनाओं को उड़लने के लिये जिन ग्राम परक मधुर सम्बोधनों का प्रयोग करता है सम्भवतः उसके स्थानापन्न शब्द का साहित्य में अभाव ही है, भावानुगामिनी भाषा सहज द्रष्टत्य हैं देख रहे हैं न? घीव देत घोड़ नरियाय।......फिर उसकी ओर घूमकर बोला' अरे बम्मड़ि। बिना पतवार के नाव कैसे चल सकती है।?[1] यह दरपनी कपड़े का प्रसंग आते ही अभाव और आक्रोश में भरकर फुलही थाली की भांति झनक उठती है[2]।'

पूर्वांचल के गामीण प्रदेशों मे हवात् उगआने वाले वृक्ष विशेष के नाम पर कृति का नामकरण भी साभिप्राय और सांकेतिक है। महेसवा भी ग्राम तरू बबूल की ही भांति समाज द्वारा नितान्त उपेक्षित और अभावों के कॅटको से जीर्णशीर्ण और निर्गन्य है। 'बबूल' का प्रतिरूप महेसवा समाज द्वारा निरन्तर अवहेलित और उपेक्षित अवश्य है किन्तु आंतरिक दृष्टि से समाज के लिए उसका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

---

1. बबूल : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–45
2. वही, पृष्ठ–56

कुंभीपाक :

उपन्यास में नागार्जुन ने एक नारी की कहानी है का वर्णन किया है जो उन्नीस वर्ष की आयुमें विधवा हो चुकी है। हिन्दुओं के माने हुए नर्को में से एक 'कुंभीपाक' भी हैं, जहां पापी मृत्यु के बाद जाता है। समाज के भ्रष्ट भेड़ियों ने अपने मनोरंजन के लिए जिन युवतियों को जीतेजी कुम्भीपाक में डाल रखा, है उसकी चर्चा इस उपन्यास में है। यदि विधवा या निराश्रित महिलाओं का विवाह हो जाये तो वे कुंभीपाक में न घसीटी जा सकेंगी। चंपा और भुवन जैसी महिलाएँ समाज में सम्मानपूर्वक जी सकें। ऐसे समाधान के लिए नागार्जुन का ध्येय नारियों में आत्मविश्वास जाग्रत करना रहा है। श्रम, प्रज्ञा, सहयोग, विवेक और सुरूचि से जीवन को सफल बनाने का सन्देश उपन्यास से मिलता है। नारी चेतना का प्रमुख उद्‌घोषक बनकर कुंभीपाक हमारे सामने आया है इसके चित्रण, अनैतिकता का पर्दाफाश, देश के नेताओं का विदेशों में हाथ फैलाया अवसरवादी राजनीति की स्वार्थपरकता आदि।

'वरुण के बेटे' उपन्यास में सुविख्यात प्रगतिशील उपन्यासकार ने एक शोषित समाज के मछुआरे वर्ग के प्रति कठिन जीवन–स्थितियों को अनेकानेक अन्तरंग विवरणों सहित उकेरता है। जो गांव के पास के 'गढ़ों पोखरों से मछलियाँ पकड़कर अपना जीवन यापन करते हैं। जमींदारी उन्मूलन के बाद इसी गढ़ों–पोखरों का बन्दोवस्त करना चाहा। परन्तु नहीं कर पाया। इसमें नायक की भूमिका मोहन मांझी निभाता है जो मछुआरों का संगठन करता है। उसके सम्बन्ध में बताया गया हैं–" वह हँसिया हथौड़ा मार्कालाल झण्डा वाली किसान सभा का थाना सभापति रह चुका है। तथा मैथिल, राजपूत, यादव, दुसाध महासभा का वायकाट करता है। तथा अपने हकों पर उन्हें सचेत बनाने का स्तुत्य प्रयास उपन्यासकार ने किया हैं।

नयी पौध :

में नागार्जुन ने बेमेल विवाह की समस्या को उठाकर उसका समाधान समाज के युवक वर्ग के माध्यम से गांव के बड़े–बूढ़ों की जिद तोड़कर एक लड़की के जीवन को चौपट होने से बचा लिया[1]......तथा अनमेल विवाह की यह समस्या हमारे ग्रामीण समाज में आज भी विकराल रूप में मौजूद है इसका विप्लवी समाधान तरूणों द्वारा ही की जा सकती है। उपन्यासकार ने युवक वर्ग के हृदय में उठते हुए उफान को समझकर क्रांति और विद्रोह की भावना को सही दिशा दी है। युवकों को प्रारम्भ से ही

---

1. नागार्जुन : जीवन और साहित्य, डॉ0 प्रकाश चन्द भट्ट, पृष्ठ–178

अन्याय का प्रतिकार करते हुए दिखाया गया है गांव में व्याप्त रूढ़ियों और परम्पराओं का मखौल उड़ाकर उन्हें बेअसर करना लेखक का ध्येम मालूम पड़ता है। और विशिष्ट आलोचको ने इस कथाकृति की भूरि–भूरि सराहना की है।

सूरज का सातवाँ घोड़ा :

'सूरज का सांतवाँ' में शोषित वर्ग शोषण से मुक्ति पाने हेतु संघर्ष की आवश्यकता अनुभव करता है। वर्तमान मध्यवर्ग में 'प्रेम से कही' ज्यादा महतवपूर्ण हो गया है, आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विश्रृंखलता, इसलिए इतना बनाकर,, निराशा, कटुता और अंधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। पर कोई–न–कोई ऐसी चीज है जिसने हमेशा हमें अंधेराचीर कर आगे बढ़ने, समाज व्यवस्था को बदलने और मानवता के सूक्ष्म मूल्यों को पुनः स्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी है।[1] 'सुखदा' का लाल अर्थ के महत्व को प्रतिपादित करता है–'हम असंख्य लोगोंकी जान पैसा है.......उन अनगिनत लोगों के आपसी नाना व्यापारों द्वारा बने हुए इस बड़े समान शरीर का वह लहू है। वह जीवन को जगाए रखता है। वह जहां सूखता है,वहां आदमी सूख जाता है। इसलिए आत्मनीति और धर्मनीति को बाद में देखा जायेगा। अर्थनीति को पहले देखना होगा।[2] बीजे का सत्यवान भी पैसे के महत्व का स्वीकार करता है–पैसा! पैसा ही तो कोयला–पानी है। जिससे समाज का इंजिन आगे बढ़ता है। पैसा ने हो तो सब चीज जहां की तहां ठप।[3]

भूले बिसरे चित्र :

भूले बिसरे चित्र के ज्वाला प्रसाद यह मानते हैं– सत्ताइस युग में भुजबल से नहीं, सत्ता अब रुपये में है।[4] वह रुपये पैसे को ही जीवन की सभी बुराइयों की जड़ स्वीकार करते हैं। यही मीर साहब की यह मान्यता है–धन–दौलत से मुहब्बत हर एक इंसान को होती है और होता यह है कि यह धन दौलत का देवता हमारे काली देवता को खा जाता है।[5] इसी उपन्यास का लाला प्रभुदयाल पूर्णरूप से महाजन वृद्धि का प्रतीक है। 'सामर्थ्य और सीमा' के प्रसिद्ध उद्योगपति रतनचन्द्र मकोला रुपये की ही शक्ति, देवता और सब कुछ मानते हैं।[6] अलग–अलग वैतरणी उपन्यास में भूलेसरा के नवचा(नौजवान) चौधरी लच्छीराम के कथन से वर्ग संघर्ष की भावना अभिव्यक्त होती

---

1. सूरज का सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती, पृष्ठ–330
2. सूखदा : जनेन्द्र, पृष्ठ–155
3. बीज : अमृतराय, पृष्ठ–255
4. भूले विसरे चित्र : भगवती चरण वर्मा, पृष्ठ–44
5. वही, पृष्ठ–43
6. सामर्थ्य और सीमा : भगवती चरण वर्मा, पृष्ठ–13

है—भाइयों, रामकिसुन जी की अरज गरज आप लोगों ने सुन ली। यह कोई इनका अकेला का मामला नहीं है। यह सारी कौम की इज्जत का सवाल है।"[1]

बूंद और समुद्र :

बूंद और समुद्र का महीपाल इस तथ्य को स्वीकार करता है कि मार्क्स के सिद्धान्त.....से दुनियां के हर आमौखास के विचार में क्रांतिकारी परिवर्तन अवश्य हुआ है। जितने मजलूम हैं, जितने सर्वहारा है; वह अब चोट खाये नाग की तरह फन उठा रहे हैं इस बार उन्हें कोई रोक न सकेगा।[2] 'परती परिकथा' में किसान आन्दोलन का पूर्ण आभास मिलता है। जमींदार के विरोध में बेदखल किये गये किसान दल बांधकर रोज नारा लगाते है। गरियाते हैं—जालिम, मनकार, गिरगिट, शराबी, जुवाड़ी इत्यादि।[3] इस आन्दोलन में लड़के भी पीछे नहीं हैं। वे नारे लगाते हैं—जमींदार का विष दांत तोड़ेंगे—तोड़ेंगे। जमींदार का साथ—साथ छोड़ेंगे,छोड़ेंगे।[4] जमींदार स्वयं किसान बन गये हैं। परती परिकथा का ही गुरूवंशी बाबू अब जमींदार नहीं किसान है। दस हजार बीघे जमीन है। दो—दो हवाई जहाज रखते हैं। काश कि भारतीय किसान ऐसे होते। वर्तमान स्थिति में गुरूवंशी बाबू कम से कम भारतीय किसानों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। निम्न वर्ग का नवयुवक जयमंगल ताँती जमींदार को ब्रह्मपिशाच की संज्ञा देता है।

सूनी घाटी का सूरज :

सूनी घाटी का सूरज में किसान—मजदूर की स्थिति का चित्रण है। न लोगों में प्रत्येक परिवार के साथ यदि भूमि थी तो वह बीघा—डेढ़ बीघा पथरीली भूमि से अधिक न थी। केवल अपने गौरव की प्रतिष्ठा में वे अपने आप को किसान कहते थे। वस्तुतः वे सभी मजदूर थे।[5] इस प्रकार किसान मजदूरों की श्रेणी में आते जा रहे हैं। लोक परलोक का निम्न वर्ग संगठित होकर अब उच्चवर्ग का दबदबा अस्वीकार करने लगा है।

चौथा रास्ता :

चौथा रास्तों के मजदूरों में इतना साहस आ गया है कि वे मालिकों को चुनौती दे सकते हैं। झम्पन मजदूर चौधरी रूप सिंह से कहता है—चौधरी जी हम मजदूर है। जहां शरीर हिलायेंगे, पेट भर लेंगे। म्हारा आपके बिना काम चल जायेगा पर आपकी सफेदी, तुम्हारे बिना कायम नाय रहे।[6]

---

1. अलग—अलग वैतरणी : डॉ0 शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ—167
2. बूंद और समुद्र : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ—50—51
3. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ—24
4. वही, पृष्ठ—61
5. सूनी घाटी का सूरज : श्रीलाल शुक्ल, पृष्ठ—64
6. चौथा रास्ता : यज्ञदत्त शर्मा, पृष्ठ—42

झूठा सच :

प्रगतिशील उपन्यासकार यशपाल जी का शीर्षस्थ उपन्यास माना जाता है। यह उपन्यास दो भागों 'देश ओर वतन' तथा 'देश का भविष्य' में पूर्ण हुआ है। यह उपन्यास राजनीतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक तीनों ही दृष्टियों से विशेष महत्व रखता है। पहला भाग में 'देश और वतन' का आधार सन् 1947 ई0 की क्रांति है जिसके परिणामस्वरूप लाखों हिन्दुओं तथा मुसलमानों को दुख सहना पड़ता है और वे बेघर हो गये दूसरा भाग में 'देश का भविष्य' देश के विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान से आये हिन्दुओं की दशा, उनका रहन–सहन, सम्पूर्ण देश का निर्माण और उन्नति, जनता की आशाओं तथा विचारों की आधार–शिला पर निर्मित स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचायक है।

विवेच्यकाल राजनीतिक गतिविधियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यशपाल ने भारत विभाजन का दृश्य अपनी आंखों से देखा था–चाहे हिन्दू हो या मुसलमान दोनों ही अपनी अपनी साम्प्रदायिक भावनाओं से प्रेरित होकर किस प्रकार जहर उगलते थे–'झूठा सच' में इसकाबड़ा ही सजीव वर्णन है ''तास्सुब की इंतहा''.......। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कानकून परलीगी प्रोफेसर का कहर। मौत बिर जरिए से मालुम हुआ है कि सनातन धर्म कालेज के तालिबइल्म सोमराज साहनी पर अरसे से लोगी प्रोफेसर दीन मुहम्मद की नाराजगी चली आ रही थी। वह तास्सुब का शिकार होने से बच नहीं सका। लीग की सल्तनत क्या रंग लावेगी?[1]

मूलरूप से बात कुछ और ही थी। लेकिन प्रतिक्रियावादी शक्तियां बात का बतंगड़ बना साम्प्रदायिकता को और भी उभारती थी। परिणामस्वरूप साधारण जनता के विचार भी उसी तरह हो जाते है'' क्या तुम्हें नहीं मालूम, कलकत्ते के मुसलमानों ने हजारों हिन्दू भाइयों को कत्ल कर डाला, हमारी सैकड़ों बहू–बेटियों को बेइज्जत कर डाला है। अफसोस है, तुम्हारी गली में यह लोग अब भी सौदा बेच रहे है''[2] यशपाल ने तत्कालीन कई राजनीतिक नेताओं का नामोल्लेख करते हुए सीधे इनके कार्यों की आलोचना की है–''लीग का पाकिस्तान की मांग का आन्दोलन बढ़ता ही जा रहा था। मास्टर तारा सिंह के अधिनायकत्व मे एण्टी पाकिस्तान लीग की हुंकार भी कम नहीं थी।[3] भारत का विरोध तो सभी करते थे, पर कुछ ऐसी शक्तियां थीं जो साम्प्रदायिकता

---

1. झूठा सच (प्रथम भाग) : यशपाल, पृष्ठ–58
2. झूठा सच : यशपाल, पृष्ठ–70
3. वही, पृष्ठ–148

के आधार पर इसका विरोध करती थीं।'' पंजाब हमारा है.......जब तक हमारी नसों में खून है, हम लीग की वजारत कायम नहीं होने देंगे। जिसमें ताकत हो सामने आ जाये....[1].या खुलकर विरोध किया था, अन्ततोगत्वा हजारों भारतवासियों का अकारण ही प्राणों की आहुति देनी पडी—''मामा किसका दुश्मन था? मामा न युनियनिस्ट मंत्रिमण्डल से मतलब रखता था न लीग की वजारत से , वह तो मानव था, केवल निरीह मानव। उसका खून मानवता का जून है। मानवता के जून की इस प्यास को कौन भड़का रहा है? क्या खुदा नहीं जानता कि तुम्हारे कत्ल के लिए उत्तेजना दिलाने की जिम्मेदारी उन नेताओं पर है जो तुम्हारे जैसे इंसानों को [2] शासन के सिंहासन पर पहुंच सकने का जीना बनाने के लिए जनता का ईट—गारे की तरह प्रयोग करना चाहते हैं।..........क्या अपने स्वार्थी के लिए सर्वसाधारण को अंधा बना देना ही धर्म की रक्षा, प्रजातंत्र और जनवाद.........''[3] अंग्रेज तो 'फूट डालो और शासन करो' की नीति से कार्य चलाते थे, जिसे लोग समझ गये थे —''हिन्दू मुसलमानों का झगड़ा तो व्यर्थ की मूर्खता है, झगड़कर जायें कहां? यहीं तो दोनों का घर है। हमारी असली लड़ाई तो अंग्रेज से है जिससे मुल्क पर कब्जा किया हुआ है''।[4] लेकिन प्रबुद्ध लोगों की आवाज सुनता कौन है? दोनों धर्मों के अनुयायी पागल हो रहे थे। परिणाम सन् 1947 ई0 में भारत को बंटवारे को लेकर सामने आया [5]

नारी की मुक्ति चेतना, जांति—पांति एवं धार्मिक भेदभाव, लोकतंत्र की दुर्गति, गांधीवादी सिद्धान्तों का खोखलापन आदि बातों का सांगोपांग चित्रण इस उपन्यास की विशेषता है। इस उपन्यास के मुख्य उद्देश्य के सम्बन्ध में डॉ0 सुरेश सिन्हा ने लिखा है—''शोषण, अन्याय एवं सामंती व्यवस्था के हथकण्डे चित्रित चित्रित करने एवं राजनीतिक नेताओं के स्वांर्थ को चित्रित करने, समाज में प्रगतिशीलता एवं समानता, आर्थिक शोषण की समाप्ति एवं उत्पादन पर समानाधिकार, वर्ग वैषम्य का समूल नाश तथा विकास करने, सबको समान अवसर, विवाह सम्बन्धी स्वतंत्रता एवं सामाजिक क्रांति का प्रसार जिससे वर्तमान की रूढ़ियां विच्छिन्न हो सकें तथा प्रगतिशील मानवता का प्रसार हो सके, इस उपन्यास का मूल उद्देश्य है।''[6]

झूठा सच उपचास का पुरूषप्रधान नायक जयदेवपुरी है। वह आज की विषम परिस्थितियों में राजनीतिक नेताओं द्वारा अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए विभ्रांत किये जाने

---

1. झूठा सच : यशपाल, पृष्ठ—312
2. झूठा सच : यशपाल, पृष्ठ—137
3. वही, पृष्ठ—137
4. वही, पृष्ठ—78
5. हिन्दी उपन्यास युगचेतना और पाठनीय संवेदना : डॉ0 मुकुन्द द्विवेदी, पृष्ठ—100

का प्रतीक है। अस्थिर विचारों के आदर्शवादी युवक के रूप में उपन्यास में उसका प्रस्तुतीकरण हुआ है। लोकतंत्र की समस्या पर भी 'झूठा' सच उपन्यास के लेखक ने ध्यान दिया है। भारत में लोकतंत्र दलतंत्र का पर्याय बन गया है। उपन्यास के एक मार्मिक प्रसंग में मर्सी इसके सम्बन्ध में खुला विचार प्रकट करती है। अस्पताल में जिस देखों मंत्रियों और संसद सदस्यों की चिट्ठी लिए चला आ रहा है। जुकाम हो जाये तो वार्ड में जा लेटते हैं और सब कुछ मुक्त मुक्त करवा लेते हैं।जो गरीब है उसके लिए जगह नहीं है। जनतंत्र की अवनति का दिग्दर्शन यहां होता है। यहां शोषण का नूतन स्वरूप है जो लोकतंत्र के नाम पर स्वतंत्र देश में है। इस व्यवस्था के विरुद्ध जनता ही क्रांति कर सकती है। शोषण की समस्याओं पर सजग होने और उसके सत्यानाश के लिए कर्मरत होने का आह्वान भी उपन्यास में मिलता है।

अहिंसा, सत्याग्रह, उपवास आदि गांधीजी के सर्वमान्य सिद्धान्तों पर उपन्यासकार ने प्रहार किया है। डॉ0 प्राण मार्क्सवादी विचारधारा के पात्र है। प्रजातंत्रीय प्रणाली और समाजवादी व्यवस्था में उन्हें अटूट विश्वास है तथा प्रगतिशील भी है। उनमे शोषण के खिलाफ वर्ग–संघर्ष की भावना सदैव बनी रहती हैं तारा के साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध अनुभूति के स्तर पर आदान–प्रदान का सम्बन्ध है। तारा में वे उस व्यक्तित्व के दर्शन करते हैं जो उनके स्वयं के व्यक्तित्व का साथी होने के योग्य है अर्थात विचारों के स्तर पर डॉ0 प्राण तारा को अपने समानन्तर पाते है।

'झूठा सच' में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। दूसरी रचनाओं की भांति इसमें मार्क्सवादी विचार में कृत्रिमता नहीं दिखायी पड़ती । कला और विचार घुल मिल गये हैं। डॉ0 स्वर्णलता के शब्दों में,''लेखक ने मार्क्सवाद के वैज्ञानिक विचार दर्शन को उपन्यास कला में ढालने का सफल प्रयास किया है।[1] समाज की दुनीतिंयों पर यशपाल असन्तुष्ट हैं। कांग्रेस के बुरे शासन और रीति–रिवाजों का सागोपांग वर्णन उपन्यास में मिलता है। यशपाल के ही वैचारिक प्रतिनिधि डॉ0 प्राण के मंगलमय वाक्य से उपन्यास का अन्त होता है ''गिल, अब तो विश्वास करोगे, जनता निर्जीव नहीं है। जनता सदा मूक भी नहीं रहती । देश का भविष्य नेताओं और मंत्रियों की मुट्ठी में नहीं है।''[2] मार्क्सवादी सिद्धान्तों का सफल और सुण्ठुसमावेश 'झूठा सच' उपन्यास में दर्शनीय है।

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास की समाज शास्त्रीय पृष्ठभूमि : डॉ0 स्वर्ण लता, पृष्ठ–272
2. झूठा सच : यशपाल, पृष्ठ–709

झूठा सच यशपाल का वृहदाकार उपन्यास है। जिसका प्रकाशन सन् 1958–60 ई0 में हुआ। पुस्तकार प्रकाशित होने से पूर्व धारावाहिक रूप में यह 'धर्मयुग' साप्ताहिक में प्रकाशित होता रहा है। झूठा सच का कथानक सन् 1947 ई0 के पूर्व भारत की परिस्थितियों, पंजाबी जन मानस की मनःस्थितियों से आरंभ होकर विभाजन के बाद की स्थिति पर आधारित है। उपन्यास के दोनों भाग तेरह सौ पृष्ठों में है फिर भी यह उपन्यास पाठकों में लोकप्रिय हुआ। यशपाल इस उपन्यास में भी राजनीति मार्क्सवादी विचारधारा से युक्त नहीं है।..........'झूठा सच' के दोनों भाग मिलकर इतिहास की एक बड़ी युग–परिर्वतनकारी घटना और उसकी कल्पनातीत परिणति को बड़े विस्तृत ढंग से प्रस्तुत किया है।

प्रसिद्ध समीक्षक प्रकाशचन्द गुप्त की यह समीक्षा 'झूठा सच' यशपालजी का अब तक लिखा सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है और निश्चय ही हिन्दी की अमर कलाकृतियों में इसकी गणना होगी। आधुनिक भारतीय जीवन की अभूतपूर्व झांकी यह उपन्यास प्रस्तुत करता है।

यशपाल जी का पहला उपन्यास "दादा कामरेड" है "मनुष्य के रूप" यशपाल का ऐसा उपन्यास है; जिसे सभी तरह के पाठकों ने पसंद किया। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'झूठा सच' समस्त देशवासियों को युग बोध का दर्शन कराता है।

उखड़े हुए लोग :

वर्तमान पीढ़ी के उपन्यासकारों में भी राजेन्द्र प्रसाद ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'उखड़े हुए लोग' उपन्यास साम्यवाद की शोषण–विरोधी–नीति एवं सामान्य जन हितकारी भावना से पूरित यह उपन्यास अत्याधुनिक सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक सन्दर्भो का एक अत्यन्त सजीव यथार्थवादी और व्यंग्यात्मक चित्र है। आधुनिक सांसद एवं विधायक किस प्रकार गरीब जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हुए इनके खून–पसीने की कमाई हथियाकर पूँजीपति बन बैठे है। इन सबके सांगोपांग चित्रण उपन्यास में मिलते है। पूँजीपति लोग किस तरह शोषित वर्ग का शोषण करते है। लेखक में दुहरे चरित्र वाले व्यक्ति देशबन्धु के चरित्र का आवरण खोलकर पाठक के समक्ष रख दिया है। वह राष्ट्र कल्याण का बहाना बनाकर वह आत्म कल्याण में सरोबार होता है। उसके दुहरे व्यक्तित्व और वास्तविक उद्देश्य पर डॉ0 कुँवर पाल सिंह ने यो

विचार व्यक्त किया है, "पूँजीवादी व्यवस्था की सरकार में देशबन्धु जैसे नेता ही सफल होते है खादी की दुविधा, बगुला भगती लिबास पहने वह दूर से जनता के सच्चे सेवक, त्याग की मूर्ति और धर्मात्मा प्रतीत होते है, पर निकट से देखने से ज्ञात होता है कि समाज के सम्पूर्ण कष्टों के लिए भाग्यविधाता ही उत्तरदायी है। ऐसे लोग जनता का भविष्य और वर्तमान दोनों को खराब कर रहे है।[1]

इस उपन्यास में नेता देशबन्धु एक मिल मालिक जो सदैव गालियाँ देता रहता है। वह श्रमजीवियों (मजदूरों) के श्रम का शोषण करता है और अबला नारी का शोषण मानसिक एवं शारीरिक रूप से करता है। यह संस्था वर्तमान भारत की पूँजीवादी व्यवस्था का एक चित्र है, ऐसे व्यक्ति को समाज में कीर्ति भी है उसका यशगान एवं गुणगान भी होता है। इस प्रकार शोषण के विभिन्न मोड़ो का दिग्दर्शन उपन्यासकार ने पात्रों के माध्यम से कराता है।

उपन्यासकार के उद्देश्य के सम्बन्ध में डॉ0 सुरेश सिन्हा लिखते है "राजेन्द्र यादव का विचार है कि जब तक सुसंगठित विरोध एवं संघर्ष नहीं होता, यह शोषण ऐसे ही चलता रहेगा तथा सामान्य जन कल्याण की भावना तिरोहित होती रहेगी। जब तक हम अपनी कुंठित मानवीय चेतना को प्रगतिशील दृष्टिकोण की सहायता से मुकर न ही करेंगे हम इस व्यवस्था को कभी–कभी परिवर्तित नहीं कर सकेंगे और ऐसे ही शोषित होते रहेंगे।[2]

पारस्परिक रूढ़ियुक्त विवाह प्रथा की उपन्यासकार से तीखी आलोचना की है, शरद और जया के प्रसंग में उन्होंने विवाह के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ व्यक्त की है। शरद का विचार है कि सम्बन्ध में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। समाज को उसके व्यक्तिगत क्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जब तक नारी और पुरूष आर्थिक रूप से समान नहीं होते। विवाह में समान सहयोग की बात खोखली सिद्ध होती है। पुरूष पात्रों में सूरज आजीवन प्रतिकूल परिस्थितियों में जूझता रहा, अदम्य, उत्साही एवं कर्मठ है। साम्यवादी विचारधारा का पोषण है। सामाजिक कुंठाओं ने उसके मस्तिष्क में घर कर लिया और स्वतः राजनीति के प्रति आकर्षित हो उठा। उसे देशबन्धु का राई रत्ती सब कुछ का पता है। सूरज उखड़े हुए लोगों का नेता है और वह अन्त में हड़ताली मजदूरों का साथ देता है। अनेक मुखी शोषण के पड़ाव, सामाजिक

---

1. हिन्दी उपन्यास का सामाजिक चेतना : डॉ0 कुंवर पाल सिंह, पृष्ठ–194
2. हिन्दी उपन्यास : डॉ0 सुरेश सिन्हा, पृष्ठ–325

असमानताएं, पूँजीवादियों के दुहरे व्यक्तित्व, प्रगतिशील विचारों के विकास आदि तत्वों का सफल समावेश इस उपन्यास को एक प्रभावशाली मार्क्सवादी उपन्यास बना देता है।[1]

इस उपन्यासों में एक श्रमिक मशीन से दबकर मर जाता है। मजदूर के परिवार को मुआवजा दिलवाने के प्रश्न पर मिल के मालिक एवं श्रमिकों में तनाव उत्पन्न हो जाता है। सत्या–मिल का मालिक शिकेटिंग पर निकले श्रमिकों पर गोली चलवा देता है[2] गोली लगने से साठ आठ मजदूरों की मृत्यु हो जाती है। मिल में तनाव एवं हड़ताल के कारण मजदूरों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो जाती है। मजदूरों के लिए सूरज आदि जागरूक कार्यकताओं को भीख मागने की योजना बनानी पड़ती है आप देखिए, किस तरह हम लोग इकट्ठे होकर जाते है डोलियाँ बनाकर हड़तालियों के लिए भीख मांगते हैं मैं कहता हूँ शरद बाबू आप की आँखों में आँसू आ जायेगे जब आप पाँच–पाँच साल के दूध मुहों के बिलबिलाते देखेंगे। औरतों की आँखें गड्डों में घुस गई है।[3] यहां पर सर्वहारा वर्ग की सामाजिक दृष्टि में प्रतिबिम्बित किया गया है।

(ख)अवयस्क लड़के एवं लड़कियां एवं अवयस्क महिलाएं(आधुनिकता जीवन बोध):–

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग से जुड़े किशोरवय लड़के एवं लड़कियों की मनःस्थिति के बारे में मार्कण्डेय ने अपने उपन्यास 'अग्निबीज' में, उल्लिखित किया है। मार्कण्डेय 'अग्निबीज' में; इस स्थिति के बीच, वैकल्पिक संभावनाओं की खोज करते हैं। वे चार किशोरवय लोगों के प्रति गहरी आशा के साथ देखते हैं जो यौवन की देहरी पर पैर रखने को हैं। इनमें प्रमुख है साधो काका की पुत्री श्यामा। उसके साथ ही मुसई महतो का सागर और वाकर का बेटा मुराद तथा कांग्रेसी विधायक ज्वालासिंह का एक पुत्र सुनीत भी। गांव की जातियों और वर्णों में घिरी–बंधी मानसिकता इस स्वीकार नहीं कर पाती कि अछूत होकर भी सागर आश्रम के स्कूल में अध्यापक बने और उन बच्चों को पढ़ाए जिन्हें सवर्णों के ढोर–डंगर चराने हैं। छबिया एक जीवंत पात्र की अपेक्षा एक अमूर्त्त प्रतीक लगती है। गांव और समाज में हाशिए की जिन्दगी से उठकर वह एक ब्राह्मण युवक हुड़दंगी के साथ अपने लिए नई राहों के निर्माण में सफल होती

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : डॉ0 सुरेन्द्रन, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ–140–141
2. उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ–259
3. वही ,पृष्ठ–349–350

है। लेकिन उसकी यह कथित सफलता इसलिए प्रभावित नहीं करती क्योंकि कुल मिलाकर वह सूचना के स्तर तक ही सीमित रह जाती है। 'अग्निबीज' स्वाधीनोत्तर भारतीय ग्राम जीवन की वास्तविकता को अंकित करता है। जिसमें विकल्प की तलाश भी है।

उषा प्रियंवदा का उपन्यास ''पचपन खम्बे लाल दिवारें'' सन् 1961 ई0 में प्रकाशित हुआ इस उपन्यास मे उषा प्रियवंदा ने छात्रावास में रहने वाली लड़कियों के होस्टेल पर केन्द्रित अपनी लेखनी चलाई है। पचपन खम्भें लाल दीवारें वाली छात्रावास की यह विशाल इमारत, अपनी सारी विराट्ता के बावजूद रूढ़ियों, प्रवादों और बंधनों की प्रतीक है, जहां सुषमा को अपने से उम्र में कुछ छोटे नील से मिल पाने की भी छूट नहीं है एक परम्परागत बंद समाज में युवामन की आकांक्षाओं और वर्जना के तनाव को, सुषमा के माध्यम से लेखिका ने संवेदना और विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत किया है।

मनोहर श्याम जोशी का उपन्यास ''कुरू–कुरु स्वाहा'' ने स्वाधीन लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को तोड़ा था और लगभग समूचे देश को हताशा और माहेभंग की एक ऐसी अंधी सुरंग में धकेल दिया था जिसमें घुटन,बेबसी और अंधेरे के सिवा कुछ नहीं था। लेकिन सब कुछ के बावजूद उसने समाज की जड़ता को एक झटके से तोड़ दिया और विभाजन की विभीषिका के बाद जब स्थिति धीरे–धीरे सामान्य हुई तो कुल मिलाकर ऐसा भी लगा कि हम पर्याप्त बदले हुए परिवेश में हैं। पुर्नवास और रोजी–रोटी के लिए पंजाब से आए लोगों के संघर्ष में पुरूषों के साथ स्त्रियों भी शामिल थीं। लड़कियों को पढ़ाई–लिखाई के अधिक अवसर थे ओर काम–काजी महिलाओं के तौर पर धीरे–धीरे उनकी एक नई पहचान बनउभर रही थी। शिक्षा और नौकरी की संभावनाओं ने और पंजाबी समाज एवं संस्कृति के अपेक्षाकृत खुलेपन और वर्जनाहीनता ने उत्तर भारतीय समाज को भी गहराई से प्रभावित किया है, लड़कों की अपेक्षा बेरोजगारी में लड़कियों के लिए रोजगार सुलभ थे। इस कारण घर, परिवार तथा समाज में उनकी परम्परागत स्थिति में अंतर आना स्वाभाविक था। स्वाधीनता के पूर्व और बाद साहित्य के क्षेत्र में महिलाओं के अनुपात और उनके लेखन में आए गुणात्मक अंतर से यह स्पष्ट हो जाता है।

निर्मल वर्मा का उपन्यास ''लाल टीन की छत'' शिमला की पृष्ठभूमि में, काया नाम एक बच्ची के किशोरी बनने की कथा है। निर्मल वर्मा ने वयःसन्धि की गोपनीयता

और रहस्यलोक को गहरी तल्लीनता के साथ अंकित किया है।उसके बारे में अपने साक्षात्कार में उनकी आत्मस्वीकृति है। "काया मेरे लिए एक रूपकात्मक अभिव्यक्ति रही है, बचपन के उनवर्षो के बदहवास और विक्षिप्त किस्म के अकेलेपन की जो हम बरस शिमला में बिताते थे"[1] यह उपन्यास व्यथा के जीवन के उस बहते समय को उन पहाड़ों की तरह ठोस मूर्त्त रूप देना चाहता है जो रचना की पृष्ठभूमि में सब कहीं मौजूद है।

"आपका बंटी" सन् 1971 ई0 में मन्नू भण्डारी द्वारा लिखा गया, यह उपन्यास स्वतंत्र्योत्तर भारतीय समाज में बदले हुए स्त्री–पुरूष सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में, सम्बन्ध–विच्छेद की त्रासदी को बच्चे की नजर से देखने की कोशिश है। बहुत सी आर्वजनाओं और निषेधों से मुक्त होकर अपनी जिन्दगी पर अपना अधिकार मानकर जीने की प्रवृत्ति इस समाज में तेजी से विकसित हुई है। शुकुन और जय, अपने–अपने प्रसंग में सम्बन्ध–विच्छेद की इस जटिल प्रक्रिया से गुजर कर फिर काफी कुछ सामान्य जीवन जीने की स्थिति में आ जाते हैं। लेकिन बंटी के साथ ऐसा नहीं होता। अलग–अलग परिवेशों की अंकित बंटी की मानसिकता में घटित परिवर्तन वस्तुतः उसके विकास के अलग–अलग स्तर हैं जो एक निश्चित क्रम में ही सार्थक है।

शशि प्रभा शास्त्री का उपन्यास "उम्र एक गलियारे की" की सुनंदा पुरूष के वर्चस्व के विरोध में एक सक्रिय प्रतिरोध बनकर उपस्थित है। देवेश और नवल के बीच फंसी सुनंदा के मनोद्वन्द्व को लेखिका ने संवेदना और हार्दिकता से अंकित किया है। सुनंदा इस सत्य को सम्प्रेषित कर पाने में अन्ततः सफल होती है कि........"नारी की जिन्दगी समतल जमीन नहीं है उसके नीचे मरूस्थल, पहाड़, खाइयां बहुत कम होते हैं"[2]. ...नारी की सम्पूर्णता का यह आग्रह ही, समूचे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में; वस्तुतः शशिप्रभा शास्त्री को इस दौर की एक उल्लेखनीय लेखिका बनाता है।

गोविन्द मिश्र की सबसे महत्वपूर्ण रचना "तुम्हारी रोशनी में" है। जिसमे वे भारतीय समाज में नार–मुक्ति के सवाल को पर्याप्त गम्भीरता पूर्वक उठाते हैं। यह सुवर्णा नामक एक विवाहित स्त्री की कहानी है और गोविन्द मिश्र ने उसे हांड–मांस की एक वास्तविक युवती के रूप में न्वित्रित किया है– उसके आवेग एवं सयंम को गहराई से पकड़ते हुए। विवाहिता होते हुए भी वह अपने प्रेम से पलायन नहीं करती है। उद्घाटन की इस प्रक्रिया में इस तथ्य को रेखांकित करता है कि नारी मुक्ति की

---

1. लाल टिन की छत : निर्मल वर्मा, सम्पादक – अशोक वाजपेयी, पृष्ठ– 49
2. उम्र एक गलियारे की : शशि प्रभा शास्त्री, पृष्ठ–41

सार्थकता हार्दिक आत्मीय और पारस्परिक प्रेम में ही निहित है। आधुनिकता के छद्‌म और प्रदर्शन में नहीं।

रमेश की उपन्यास दण्ड द्वीप (सन् 1970 ई0) में किशोर–जीवन की अन्तहीन यातना की कथा है। राजू के लिए यातना के तीन द्वीप हैं– उसका अपना घर ताला कुंजी का कारखाना जहां वह काम करता है और मनीषा का घर जहां कभी–कभी वह तपती धूप के बाद हरियाली की तलाश में होता है। लेकिन सुकून उसे वहां भी नहीं मिलता। इतनी छोटी सी उम्र में कारखाने में राजू के काम की मज़बूरी को उपन्यास मे अधिक स्पष्ट नहीं किया गया है। राजू को संघर्ष और प्रेम की त्रिकोणात्मक उपस्थिति का तनाव एक रचना के रूप में कथा में विखराव पैदा करता है।

नासिरा शर्मा स्त्री की नियति को एक व्यापक फलक पर परिभाषित करती है। उनका पहला उपन्यास "सात नदियॉ :एक समुद्र (सन् 1985 ई0) ईरान के आधुनिक इतिहास में सबसे तलूब और खूनी दौर की पृष्ठभूमि में स्त्री के उत्पीड़न के विभिन्न रूपों का आकलन प्रस्तुत करता है।

प्रभा खेतान की "छिन्न मस्ता" की प्रिया का बचपन अपने परिवेश और समाज की टकराहट के गहरे जख्मों और टीस से भरा है। गहरी उपेक्षा और असुरक्षा के बीच पिता की उपस्थिति ही उसे एक बरगद जैसी लगती है। एक व्यवसायिक षडयंत्र के तहत पिता की हत्या, बंगाली युवक असीम से हुए प्रेम को विफल करने के लिए अपने समाज के नरेन्द्र से उसका विवाह उसके समूचे जीवन को एक लम्बी काली रात में बदल देता है। दस वर्ष की उम्र में ही अपने ही बड़े भाई से मिला अनुभव और उसके बाद की प्रतिक्रियाएं उसे अपने समाज को समझने का अवसर देती है। बाद में बेलग्रेड में मिले वृद्ध दम्पत्ति को देखकर प्रिया को लगता है कि प्रेम की कोई सीमा नहीं है।

इसी तरह प्रभा खेतान का दूसरा उपन्यास "पीली आंधी" का उल्लेख होता है, जो कि राजस्थान के सन्दर्भ में, केवल रेत के पीलेपन का ही प्रतीक न होकर उस सोने का प्रतीक है जिसका रंग पीला होता है। ताई–पद्‌मावती अपने अनुभव का वास्ता देकर सीमा से कहती है–बेटा! "लुगाई की जात को सुख नहीं खोजना चाहिए। त्याग में शांति है[1]........"और सीमा इसका प्रतिवाद करते हुए जैसे स्त्री की दूसरी तैयार होती पीढ़ी का संकेत देती है। राधाबाई, पद्‌मावती और सीमा जैसे इसी विकास की तीन मंज़िले है। धन के बाहुल्य से उपजी विकृतियॉ ही स्त्री के उत्पीड़न का मुख्य स्रोत रही

---

1 पीली आँधी : प्रभा खेतान, पृष्ठ–253

है। सीमा उसी की सत्ता और विकृतियों से मुक्ति में अपने जीवन की सार्थकता तलाशती है और उसे प्राप्त करने की पूरी कोशिश भी करती है।

मैत्रेयी पुष्पा की ''बेतवा बहती रही'' सन् 1994 ई0 बुन्देलखण्ड की पृष्ठभूमि में, बेतवा के कछारी क्षेत्र में, साधारण स्त्री के उत्पीड़न और यातना के सन्दर्भों को उद्घाटित करता है। अशिक्षा, रूढ़ियों और अंधविश्वासों वाले समाज में उर्वशी और मीरा अपनी यातनाओं में अकेली नहीं हैं मैत्रेयी पुष्पा गहरे अवसाद के साथ इसे अनुभव करती हैं कि सहना और जूझना ही भारतीय समाज में जैसे स्त्री की नियति है। अपने इसी तथ्य को वे इदन्नमम(सन् 1994 ई0) में विस्तार देती हैं। यहां मंदा के रूप में एक ऐसी युवती की समूची विकास प्रक्रिया उद्घाटित हुई है जो अपनी धरती और मिट्टी से बहुत ही गहरे रूप में जुड़ी है। स्त्री की मुक्ति का सवाल पूरे समाज की मुक्ति से जुड़ा है। लेखिका इस सत्य को कभी भी ओझल नहीं होने देती। अनबरी बुआ और नमाजी चीफ साहब को मन्ना पर पड़ा प्रभाव उसके संधि और संघर्ष को व्यापकता देता हैं, यशपाल की परित्यक्ता पत्नी कुसुमा का दाऊ सभरसिंह से प्रेम उसके समूचे व्यक्तित्व को जैसे बदल देता है। कभी–कभी लगता है कि कुसुमा स्त्री–मुक्ति की आधुनिक विचार–श्रृंखला का प्रतिनिधि रूप है, लेकिन उसकी सोच उसकी यातना से बनी है। यहीं यातना बहुत कम उम्र में मंदा को वयस्क बनाती है।

****

तीसरा अध्याय

सर्वहारा वर्ग की आर्थिक समस्याओं का अवलोकन एवं चेतनशीलता :

(क) नए उपन्यासों में सर्वहारा की आर्थिक समस्या के नियन्त्रक तत्वः

सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था की देन है। संसार की सम्पूर्ण आबादी के एक बहुत बड़े भाग को इस व्यवस्था में नारकीय और पशुवत जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य कर दिया है। इस व्यवस्था के प्रति सर्वप्रथम क्रांति का उदय रूस में हुआ और सर्वहारा को सामान्य मनुष्य के धरातल पर प्रतिष्ठित करने के लिये साम्यवादी सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ। इस सिद्धान्त ने समस्त आध्यात्मिक आस्थावादी और अमूर्त सिद्धान्तों और जीवन मूल्यों को अस्वीकार कर एक मात्र आर्थिक मूल्यों को ही जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इस विचार धारा ने सारे संसार के बुद्धिजीवियों लेखकों कवियों और कलाकारों को प्रभावित किया है और समाज के तटवर्ती दबे जनों के संदर्भ में लोग भाग्यवादी दृष्टि से न विचार कर अब पूंजीवादी अर्थतंत्र के अभिशाप के परिप्रेक्ष्य में विचार करने लगे हैं।

भारत में साम्यवादी विचार दृष्टि से प्रभावित प्रगतिशील साहित्य सिद्धान्त का नारा सन् 1935 ई0 के आस–पास पहुंचा और अल्पकाल में ही इसने साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। सामाजिक समस्याओं का सुधार गांधीवादी हृदय परिवर्तन और सत्य, अहिंसा में देखने वाले प्रेमचन्द अपने अंतिम उपन्यास 'गोदान' में सीधे आर्थिक समस्याओं से जुड़ी साम्यवादी और विद्रोहधर्मी अन्तरदृष्टि पर उतर आये। प्रेमचन्द में फिर भी अभी पुराना प्रभाव शेष था और वे केवल मात्र आर्थिक समस्याओं को उभार सके।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने विधिवत् आर्थिक समस्याओं को लेकर जीवन संघर्ष का सृजन किया है। विशेषकर हिन्दी के प्रगतिशील जनवादी लेखकों ने इसे बहुत गहराई से चित्रित किया है। स्वतंत्रता के बाद विकास कार्यक्रम के चलते गरीबों पर बहुत ध्यान दिया गया और आगे चलकर तो 'गरीबी हटाओं' एक प्रबल नारा ही ऊपर उठ आया परन्तु अनादिकाल की आर्थिक जकड़नों में फंसी सर्वहारा–नियति अभी तक

किसी निर्णायक स्थिति में नहीं पहुंचती है। अभी संघर्ष और द्वन्द्व की स्थिति है। हिन्दी उपन्यासकार किस सीमा तक तथ्यों की यथार्थता और गहराई का स्पर्श कर सकें हैं, यही अन्वेषण का मुख्य विषय है और इस दृष्टि से सर्वहारा की आर्थिक समस्याओं से जुड़ी कृतियों का विश्लेषण किया जायेगा।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने सर्वहारा की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधक निर्धनता का सांगोपांग आलेखन अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया है। जीवन के प्रथम प्रहर से ही अभावों के संसार में जन्म लेने वाले सर्वहारा को आयुपर्यन्त निर्धनता से संघर्षरत रहना पड़ता है। भारतीय ग्रामीण जनजीवन इसका साक्षात् प्रमाण है। स्वातंत्र्योत्तर सृजनकर्ताओं में नागार्जुन, की यथार्थोन्मुखी अन्तर्दृष्टि ने इस समस्या का प्रमाणिक, यथार्थ, तीक्ष्ण और पारदर्शी प्रत्यांकन किया है।

सर्वहारा की आवश्यकताओं की पूर्ति में बाँधक निर्धनता:

विहार अंचलाघटित 'बाबा बटेसर नाथ' में वर्णित रूपवली ग्राम भारतीय ग्रामों का प्रारूप है, जहां परम्परागत जड़ता, अभिशप्त दारिदय, संवेदना रहित ईर्ष्या द्वेष अपनी समग्र विसंगतियों के साथ अंकित है। निर्धनता के नाग–फांस में जकड़े सर्वहारा की दयनीय स्थिति से साक्षात्कार होता है, मैला चीकट दसियों पैबन्द लगा घुटनों तक का कपड़ा इन छोकरियों का पहनावा हुआ करता। सिर पर बालों के सूखे गुच्छे घोसलों जैसे लगते।[1] निर्धनता की मार से आहत सर्वहारा क्षुधातृप्ति का निदान शकरकन्द भी एक जून खाकर,[2] ही कर पाता है। निरन्न और निर्वस्त्र लोगों की शारीरिक और मानसिक शक्तियां भी निर्धनता वश पंगु हो चली है। रूपवली वासी सर्वहारा मानवीय भावों की अभिव्यक्ति में भी स्वतंत्र नही है। अपने शुभचिन्तक जीवनाथ के प्रति ये अपनी सदाश्यता प्रकट करने में स्वच्छन्द नहीं है क्योंकि उनकी तथा उनके परिवार की अकालादि आकस्मिक विपत्तियों में प्राण रक्षा करनें में पाठक और जैनरायन जैसे लक्ष्मीपति ही समर्थ होते हैं। भले ही पीछे ड्योढ़ा बसूल कर लेते हों।[3]

कथाकार निर्धनता के प्रासंगिक यथार्थ बोध को सीधी सरल भाषा में बड़ी ही साम्वेदनिकता के साथ 'बलचनमा' की पृष्ठिभूमि में उपन्यस्त करता है। सर्वहारा वर्ग की जीवनगत गहराइयों में उतर कर परिस्थितियों की विविधता के अन्तर्मुक सत्य का अनावरण नागार्जुन ने सम्यक दृष्टि से बलचनमा में किया है। निर्धन बलचनमा संन्तुलित

---

1. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन,पृष्ठ–37
2. वही,पृष्ठ–59
3. वही ,पृष्ठ–122

आहार की कल्पना से शून्य, कोदों, महुआ, मकई, सांवा कावन की रोटी और चुल्लू भर पानी पर ही संतोष कर लेने वाला है। उच्छिष्ट अन्न, मालिकों की हेरन–फेरन ही पहनना जिसका अहोभाग्य बन गया है, ऐसे बलचनमा की निर्धनता उस समय हृदय को द्रवीभूत कर देती है जहां घोर आर्थिक अन्तर्विरोध के फलस्वरूप शीतकालीन यातना का लोमहर्षक प्रकरण उभरता है। एक ओर गगन चुम्बी अट्टालिकाओं में शीत–ताप नियंत्रित परिवेश में परिवर्धित अभिजात संस्कृति के समक्ष जीवन की सुखद अनुभूतियां बिखरी पड़ी है दूसरी ओर सामान्य जीवन की स्थिति रेखा से बहुत नीचे रहने वाले इन प्राणियों की विवशता अवर्णनीय है। इनके समक्ष 'जाड़े की एक–एक रात हमारे लिये प्रलय की डुगडुगी बजाती आती थी । गर्मी के दिन जैसे–तैसे कट जाते लेकिन जाड़ा से नबटना बड़ा ही मुश्किल होता। गुदड़ी–कथड़ी भी ओढ़ने को अगर काफी न हो तो पूस माघ की ठण्ढी रात यमराज की बहन साबित होती है।'[1]

शीत की ठिठुरन को कौल्हूआड़ की उष्णता से पिघलाने वाले श्रमजीवियों के समक्ष जीवन का दूसरा अध्याय खुलता है। आर्थिक हीनता ने इनके चरित्र की जैसी हत्या की है, इसे मनोवैज्ञानिक आपराधिक श्रेणी में लाकर निदान के अनेक सिद्धान्तों द्वारा सुलझाने की चेष्टा अवश्य करते जा रहे हैं किन्तु भारतीय सर्वहारा जीवन के निकटदर्शियों से यदि कोई पूछे तो वे इस समस्या की आन्तरिक सत्यता का यही सूत्र उपस्थित करेंगे जैसा नागार्जुन ने इस कृति के कथानक में सहजभाव से प्रस्तुत किया है। स्वाद परिवर्तन के लिये चोरी से तोड़े गये मौसमी फल इन्हें किस चारित्रिक विकास से सम्बद्ध करेंगे? मानव मनोविज्ञान की स्थिति का और भी अधिक सूक्ष्म संश्लेषण उपस्थित है। बलचनमा स्वतः भी सोचता है कि आर्थिक अभावों ने इनके समस्त शील और सौजन्य को निरस्त कर दिया है। रोगिणी दादी के लिये पाव– आधपाव खुद्दी के लिये मां किस तरह रिरियाती फिरती थी।[2] नागार्जुन इस आंचलिक यथार्थ की प्रामाणिक प्रतिच्छवि द्वारा वर्ग विशेष की समस्याओं का पर्याप्त संकेत प्रस्तुत करते हैं।

जनवादी उपन्यासकार भैरव प्रसाद गुप्त ने 'मशाल' में श्रमिक वर्ग की निर्धनता और अभावों में संघर्षरत स्थितियों का समाकलन बहुत कुछ प्रतिबद्ध दृष्टिकोण से अंकित करते हुए भी आधुनिक श्रमिक संस्कृति की विरूपताओं और पीड़ाओं को नई वाणी दी हैं। सकीना और मंजूर के समक्ष नगर सर्वहारा की विराट निर्धनता की विभीषिका

---

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–15
2. वही, पृष्ठ–57

उभरती है। कुत्ते और बिल्लियों से भी हीन स्थिति में जीवित, निर्धनता की अंतिम सीमा पर ठहरे हुए सर्वहारा की विषम स्थिति एक हजार मासिक आयवाले डिसूजा परिवार के संदर्भ में आख्यायित है। सकीना कहती है कि कसम है, मैया। मुआ हमारे लिये जौ और चनें पिसवा कर रख देता है। मेम एक–एक चीज हिसाब से देती है जैसे में चोर हूँ। जो उनके आने से बच जाता है, उनका कुत्ता और बिल्ली खातें हैं हमें तो कसम ले लो कि कभी.............।[1]

दिन भर छाती फाड़कर काम करने वाले सेवकों की स्थिति आर्थिक विवशता के कारण और भी हीनतर होती है। 'नदी फिर वह चली' में उपन्यासकार निर्धनता का मूर्तमान बिम्ब चित्र मुकुन्द मांझी के आवासीय परिवेश के परिपेक्ष्य के रूपांकित करता है।" सामने ही, पलानी से दस, पांच डेग आगे सुअरों का खौभार था। वहां से बड़ी बुरी दुर्गंध आ रही थी। खोभार में सुअरों के बच्चे कुलबुला रहे थे और बीच बीच में उनकी खों.....खों की आवाज सुनाई दे जाती।"[2] जीवन को अभिशाप के रूप में भुगतने वाले लोगों में परबतिया का भी स्थान है। निर्धनता के प्राणघाती प्रहार में नारीमन की कसकती पीड़ा को उपन्यासकार की सजग सचेतना इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि भारतीय सर्वहारा के प्रति मन विभिन्न कोणों से संतृप्त हो उठता है। "कलुआ" भात के लिये तंग कर रहा था। हांड़ी में तीन कनवां चावल था। सोचा नमक डालकर भात बना दें मांड़ नहीं पसावेगी। कलुआ को भरपेट हो जायेगा अपने पानी पीकर सो रहेगी?[3] प्रस्तुत रचना उपन्यासकार की संवेदनीय कृति है। जिसमें सर्वहारा वर्ग का आर्थिक मूल्यांकन प्रामाणिक परिधि में हुआ है। सधन निर्धनता के परिप्रेक्ष्य में मर्मोद्घाटक चित्रों से भरी हुई हिमांशु श्रीवास्तव की दूसरी कृति 'लोहें के पंख' में मनुष्य की नैतिक और विवेक दृष्टि की मिटती सीमाओं के लिये उपन्यासकार इसी निर्धनता को उत्तरदायी ठहराता है। 'भौज के जूठे पतलों को कमाने के लिये एक ओर से कुत्ते और दूसरी ओर से ये लोग उस पर चढ़ाई करते हैं। और जिस पतल में बहुत जूठा भात होता, तियन–तरकारी अथवा पूड़ी मिठाई, उस पतल में खाने वाले को जो हम लोगों का बेजाना पहिचाना होता, दिल से सराहते और कहते कि इस पतल में जरूर किसी बड़े आदमी ने भोजन किया है। कहार जब जूठे पत्तलों का ढेर लेकर उन्हें फेकने के लिये बाहर निकलते, तो मेरे जैसे, जूठे पत्तल कमाने वालों का झुण्ड अक्सर चिल्ला पड़ता

1. मशाल : भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ–121
2. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–37
3. वही, पृष्ठ–265

इधर किरपा करो मालिक इधर कीरपा करों.......... चार कोस से आसरा लगाकर आये हैं. .....।[1,]

औपन्यासिक क्या फलक पर यथार्थ का अकृतिम बिम्ब निरूपण करने वाले कथाकार राम दरश मित्र की कृति 'पानी के प्राचीर' में होली के रंगारंग से दूर हरे चने के एक मूठ दानों को निहोर कर खाने वाला रामदीन निर्धनता में डूबे अतृप्त आकांक्षाओं वाले व्यक्ति का प्रामाणिक प्रतिरूप है। पूड़ियों की पोटली पर रामदीन के भूखें हाथ उस पर एक साथ टूट पड़े। उसकी आत्मा ज्यों–ज्यों तृप्त हो रही थी उसकी सौह सी आंखों से आशीर्वाद की करूणा बरस रही थी।"[2]

सर्वहारा हरिजन जाति की निर्धनता और तन्जन्य हीन स्थिति का पारदर्शी अंकन जगदीश चन्द्र की कृति 'धरती धन न अपना' में हुआ हैं । भूखे परिवार की निर्धनता ने बच्चों नारीत्व ही नहीं लूटा वरन परिवार की दारूण दशा की ऐसी झांकी भी उपस्थित कर दी है जिसमें अन्नामाव में बिलखते बच्चे रोटियों पर यह कहते हुए टूट पड़ते हैं कि 'मैं चार रोटियां खाऊंगा'।

'मैं छः खाऊंगा'

'मैं सब खाऊंगा'[3] ।

इन लघु चित्रों में झलकता यथार्थ युग सत्य स्वतंत्र भारत के सर्वहारा की नियति बन चुका है। पूर्वांचलीय हरिजन जीवन को आबद्ध समाहित करने वाली डाक्टर विवेकी राय की कृति 'बबलू' में निर्धनता ने तत्व की समस्या को इतना दुरन्त बना दिया है कि सचू ही उसके लिये सोने का अन्न है। उसके लिये सीरा द्राक्षासवा अन्न तुलसी की मनिया है।[4] अन्न औषधि और कफन के आभाव में मर जाने वाले महेसवा के परिवार की करूण चित्कारों में निर्धनता का नग्न ताण्डव सहब द्रष्टब्य है।

उपन्यासकार की दूसरी कृति 'पुरूष पुराण' में निर्धनता का फोटो ग्रैफिक शैली में रेखांकन निम्न शब्दों में प्रस्तुत हुआ है। सूखे चमड़े की झबेरी में मैला कंछाट, मैली लंगोटी, पेबन्द लगते–लगते मोटी कुदसर हो गई आधी बांह की मिरई, सन सफेद बाल घिसापिटा झुर्रीदार चेहरा, अधनंगी टागें, अधिक कोण बनाती झुकी कमर, पेट को ऊपर खींचती पीठ[5]... कथाकार पुंजीभूत निर्धनता का ऐसा बिम्ब चित्र उपस्थित करता है जिसमें कुछ भी कहने के लिये नहीं छूटता।

---

1. लोहे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–21
2. पानी के प्राचीर : राम दरश मिश्र, पृष्ठ–21
3. धरती धन न अपना : जगदीश चन्द्र, पृष्ठ–119
4. बबूल : विवेकी राय, पृष्ठ–41
5. पुरूष पुराण : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–88

नगरजीवना धारित जयवन्त दलवी की कृति 'घुन लगी बस्तियां' में उपन्यासकार की संवदेनशील दृष्टि ने सर्वहारा जीवन की मौलिक समस्या को निर्धनता के परिप्रेक्ष्य में रूपायित किया है। मनुष्य और पशु के मध्य विवेक ही वह विभाजक रेखा है जो सत् असत् की निर्णायक है किन्तु निर्धनता के कारण यह भावना विलुप्त होती जा रही है। अनाज के दानों के साथ काफी लोग रास्ते का गोबर भी उठा लाये और अपनी अपनी झोपड़ी की दीवारों पर गोबर थेप दिया।'[1] इन प्रसंगों में निर्धनता अनेक विसंगतियों की आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। सर्वहारा जीवन पल–पल इन व्याधि से की जला जा रहा है।

घोर दारिद्रोद्र्यभूत नई मानसिकता :

यथार्थवादी जीवन परक मूल्यों को स्वीकारने वाली स्वातंत्र्योत्तर कृतियों में दारिद्रयोद्भूत मानिसकता का प्रवल आग्रह अभिव्यक्त हुआ है। सचेत सर्जनात्मक दृष्टिवोध वाले उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिक संश्लेषण विश्लेषण द्वारा अर्थहीन जनजीवन की आन्तरिकता का उद्घाटन बड़ी विश्वसनीयता के साथ किया है।

अर्थावलम्बित आधुनिक प्रगतिशील समाज में निर्धन सर्वहारा घोर आर्थिक यातनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप नई वैचारिक संचेतनाओं ग्रहण करने लगा है। शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग–अलग वैतरणी' में सर्वहारा वर्ग की आर्थिक विषन्नता समूल नई मानसिकता को प्रामाणिक स्तर दिया है। झिनकुवा और जगजीत के प्रसंग में दारिद्रयोद्भूत परिवर्तित मानसिकता के मूल में अभिजातीय दुर्वह अनाचारों का बोलबाला है जिसकी असहनीयता स्वातंत्र्योत्तर जागरण के परिप्रेक्ष्य में प्रतीत होने लगी है। फलतः झिनकुवा अपने समग्र सनातन संस्कार बोध को झटकता हुआ कह उठता है कि'जिन्दगी भर मर कर खुन पसीना बहाकर काम किया। अब सूखा–बाढ़ की विपत आ जाय तो आप लोग गरीब आदमी का पेट काटकर काम करायेंगे। उस पर अरज–गरज कहै तो मारने पीटने की बात कहेंगे। तो काट के फेंक दो बाबू काट दो, एक ही बार छुट्टी मिल जायगी?[2] श्रमिक सर्वहारा का दृढ़ता भरा यह तीक्ष्ण प्रतिरोध न केवल उच्च वर्ग की अवमानना के लिये उभर रहा है वरन् उसकी अन्तश्चेतना ही समग्र व्यथा अपनी दीन हीन अर्थहीन स्थितिबोध की प्रतीति कराने के लिये भी सचेष्ट होता जा रहा है।

शदियों से मनुष्य के रूप में श्वानों से भी निरीह जीवन यापन करने वाला यह वर्ग परिवर्तित परिस्थितियों में आर्थिक स्तर पर विभाजित समाज की आलोचना

---

1. घुन लगी बस्तियां : जयवन्त दलवी, पृष्ठ–66
2. अलग–अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह,पृष्ठ–247

प्रत्यालोचना करने लगा है। हिमांशु श्रीवास्तव की कृति 'नदी फिर बह चली' में हरि कहता है कि मुलुक में जितनी तरक्की हुई है या हो रही है, उसे सिर्फ बड़े और पैसे वाले लोग भोग रहे हैं।'[1] आज का सर्वहारा अपनी अर्थहीनता को उच्चवर्ग की अपरिसीम घनवसा के संदर्भ में परख रहा है। निर्धनता प्रसूत मानसिकता की कचोट इतनी मार्मिक हो सकती है इसे 'लोहे के पंख' में देखा जा सकता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने श्रमिक सर्वहारा के जीवन पर अगणित प्रहार किया है। जीवन भर आर्थिक संघर्ष से जूझने वाले मंगरू परिवार की अंतिमावस्था बड़ी दारूण है। मानव कहलाने के अधिकारी इस पात्र को अपनी समग्र सम्बेदनाओं को घोर दारिद्र्यवशात ही कुंण्ठित करना पड़ता है। उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों मे अंकित मंगरू की दारिद्रयोद्भूत मानसिकता स्वगत कथन भारतीय अर्थव्यवस्था पर तीक्षण प्रहार कर रही है।

मंगरू सोचता है कि वह मूखी पत्नी से मुहब्बत की दो चार बातें क्या करे? उसका बच्चा भूख से रोता–रोता सो गया है। एक बार धीरे से उठ कर टाट से विछावन तक गया भी। उसके पेट पर से आंचल हटा कर देखा भूख से उसका पेट पीठ सट चुका था[2] आंतरिक मनोभावों पर दरिद्रता का यह अंकुश जीवन के लिये विघातक है,। अपमानित, घोषित और पीड़ित सर्वहारा के दुख द्वन्द से तदाकार होकर इनकी मानसिकता का निश्चल चित्र उकरने में कथाकार की अनुभूति अपूर्व सहयोग प्रदान करती है। सामान्यतः भारतीय नगर सर्वहारा के वास्तविक जीवन यथार्थ का प्रतिनिधित्व करने वाला मंगरू अविस्मरणीय पात्र के रूप में स्मरित किया जायेगा। इसकी मानसिकता में वर्गीय सम्बेदना का जैसा चित्र उभरा है वह अनूठा है।

सर्वहारा वर्ग की दारिद्रयोद्भूत मानसिकता का समय सापेक्ष वर्णन नितान्त मौलिकता के साथ डा0 विवेकी राय की कृति 'पुरूंष पुराण' में संगुम्फित है। 'दुखन' की शाश्वत धर्मभावना पूर्वाग्रहों से जुड़कर एक नये प्रकार की आस्था और आदर्शात्मक वैचारिकता का प्रस्रवण कर रही है। तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता का अवलम्ब लेता हुआ दूखन अप्राप्य के प्रति संकेत करते हुए कहता है कि तब क्या करेंगे? सिर पीटेंगे? पैसे कहां से अटारी अटा जिनको तिथि दी नही है टूटी सी छानी? कहां से रूई गर्दा आवे? कहां से कोट बने? कहां से ऊन गबरून मिले? जाड़ा मंगाऊं नहीं जो मन जायेगा? जाड़ा खाकर शरीर कड़ा होता है।'[3]

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव
2. लोहे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–402
3. पुरूष पुराण : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–60

सहज ग्रामीण जीवन के अन्तर्मन के इन उद्‌गारों मे गम्भीर द्विघा ग्रस्त विसंगतियों को दार्शनिक सीमा में आंकने की प्रणाली भारतीय सर्वहारा की निज की विशेषता है। द्वन्द और संघर्ष की सैद्धान्तिकता उनके जीवनदर्शन से इस भांति विलीन हो जाती है कि उनके सपाट जीवन मे कहीं किसी अभावजन्य आक्रोश की रंचक आहट भी नहीं सुनाई पड़ती है। इन संदर्भो से सर्वथा पृथक एक नये प्रकार की दारिद्रयोद्‌भुत मानसिकता का चित्रण कृश्नचन्दर कृत 'दादर पुल के बच्चे' में आधुनिक यंत्रीकरण के मध्य नगर जीवन की अभावग्रस्त स्थिति में होता है।

धर्म और संस्कृति की आधारशिलायें भौतिकवादी संस्पर्श से हिलने लगी हैं। भक्त और भगवान के अनन्य संबन्ध भी आर्थिक दुरावस्था में खोखले हो गये हैं। दारिद्रयजनितनूतन मानसिकता के सफल बिम्बों की सर्जना कर उपन्यासकार युगधर्मी यथार्थ का नया मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। अनैतिक संदर्भ यथा काला धंधा, तस्करी, बेकारी, आदि अर्थमूलक प्रवृत्तियां दारिद्रयोद्‌भूत मानसिकता का पूर्ण प्रकरण उपस्थित करती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने दारिद्रय संभूत विभिन्न मानसिकताओं के मार्मिक संदर्भो द्वारा आधुनिक परिवेश में उभरती नई वैचारिकता का समुचित समाकलन प्रस्तुत किया है। जो कहीं अपने परम्परागत भावों विचारें के साथ सहज रूप से जुड़ा हुआ है तो कहीं नये वातावरण का सम्बल लेकर जड़ मूल्यों की अवहेलना कर समय सापेक्ष पैदा अधिकार प्राप्ति के लिये उद्‌घोष कर रहा है।

नगरोन्मुखता :

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय शासनतंत्र की गांवों के प्रति उपेक्षापूर्ण आर्थिक नीति ने गांवों के विघटन तथा तज्जन्य विसंगतियों के कारण नगरोन्मुखता को प्रश्रय दिया है। नगर सम्वृद्धि की वृहत्काय योजनाओंए बढ़ती हुई जनसंख्या तथा भौतिक चकाचौंध से आकर्षित ग्रामीण जनमानस जिस द्रुतगति से नगरोन्मुख हुआ है उसके अनेक कारण है। लघुमानवों की सुविधासम्पन्न नगरों की ओर उन्मुखता की पृष्ठभूमि में आजीविका की विकट समस्या प्रमुख रही है। गांवों का शोषित, दलित और उत्पीड़ित सर्वहारा नगर परिवेश मे अपने पूर्व जीवन की अनेकशः विडम्बनाओं से अलग हो जाता है। डा0 ज्ञानचन्द गुप्त ने नगरोन्मुखता के संदर्भ में अपनामत औचित्य निरूपित करते हुए लिखा है कि 'गांव की शक्ति शहरों की और आकृष्ट हो रही है।

गांव उत्पादक हैं तो शहर उपभोक्ता, गांव शोषित है तो शहर शोषक, गांव विपन्न हैं तो शहर सम्पन्न।........[1]। भारतीय सर्वहारा के संदर्भ में डा0 गुप्त की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। भारतीय ग्रामीण सर्वहारा नगर सीमा मे आकर विभिन्न संगतियों असंगतियों से जुड़ता जा रहा है। इस परिवर्तित यथार्थ का प्रामाणिक और सजीव चित्रांकन स्वातंत्र्योत्तर कृतियों में जुड़ा है।

प्रख्यात जनवादी कथाकार नागार्जुन की पारदर्शी दृष्टि ने श्रमिक सर्वहारा के जीवन को विभिन्न कोणों से विश्लेषित करते हुये उनकी नगरोन्मुखता को बड़ा ही सजीव चित्र 'बाबा बटेसर नाथ' में प्रस्तुत किया है। ग्रामीण श्रमिक वर्ग के समक्ष आजीविका की विकट समस्या का निदान नगरोन्मुखता के रूप में प्रस्तुत है। रूपउली गांव में साठ प्रतिशत परिवार ऐसे थे जिनका गुजारा मजदूरी पर निर्भर था, वे काम के लिये पड़ोस के कई गांवों में चले जाते, पच्चीस पचास आदमी शहरों में कुलीगीरी या दूसरे मामूली काम करके यहां अपने परिवारों की जीविका चलाते थे। गन्ने का सीजन आता तो दस–पांच जने चीनी के कारखानों में अस्थाई काम पा जाते।[2] 'दुखमोचन' का श्रमिक सर्वहारा प्राकृतिक विभीषिका से आक्रान्त होकर जन्मभूमि की समग्र ममता के स्नेह सूत्र से विलग होता हुआ नगरोन्मुख हो जाता है। कथाकार इस विवशता का बड़ा ही प्रभावशाली अंकन सहज शब्दों में प्रस्तुत करता है कि 'अधिकांशतः खेत–मजदूर रोजी–रोटी की तलाश मे अपना–अपना इलाका छोड़कर पूरब–पश्चिम जाने वाली रेलगाड़ियों पर सवार हो चुके थे।[3]' उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत इस चित्र में नगरोन्मुखता का कारण आर्थिक अव्यवस्था ही है। डा0 पारसनाथ मिश्र ने भी ब्रिटिश सत्ता की शोषण नीति के कराहते भारतीय सर्वहारा की नगरोन्मुखता की पुष्टि भी अपनी इस उक्ति में प्रस्तुत किया है कि गांव का निर्धन किसान बढ़ती हुई औद्योगिक व्यवस्था तथा आर्थोपार्जन के बुनियादी आर्थिक स्रोतों के सूख जाने के कारण तथा गांवों में जमींदार और सामन्तोंए महाजन के गोरख धंधे मे पिसता हुआ परिणामपतः एक दिन अपनी सारी जायदाद महाजन को सुपुर्द कर वह तो खेतिहर मजदूर बन गया था घबरा कर औद्योगिक श्रमिक बनने के लिये शहरों की ओर भाग खड़ा हुआ।'[2]

यदि बलचनमा स्वामी और स्वामिनी के प्रपीड़न से मुक्त होने के लिय फूल बाबू के साथ नगर के लिये प्रस्थान कर देता है तो 'वरूण के बेटे' का दुन्नी कोसी योजना

---

1. स्वातंत्र्योजना हिन्दी उपन्यास और चेतना : डॉ0 ज्ञानचन्द्र गुप्ता, पृष्ठ–172
2. बाबा बटेसर नाथ :' नागार्जुन , पृष्ठ – 20
3. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल : डॉ0 पारस नाथ मिश्र, पृष्ठ– 66

में अपनी आजीविका का भविष्य स्थिर करने की आकांक्षा के साथ मलाही गांव से निकल पड़ता है।

परम्परागत कृषि प्रधान गांवों की अमावमयी अनार्थिक स्थितियों से संत्रस्त सर्वहारा आजीविका के विकट प्रश्न के समाधान के लिये नगरों की ओर मोहक आकांक्षाओं के साथ दौड़ रहा है। 'जल टूटता हुआ' में 'राम दरश मिश्र' ने श्रमिक सर्वहारा की वस्तुस्थिति की ओर सार्थक संकेत सतीश के कथन के माध्यम से प्रस्तुत किया है। सतीश सर्वहारा जीवन की नगर आयातित विसंगतियों की एक झलकए निम्न कथन में उद्धत करता है कि 'पेट पालने के लिये ये बेचारे भाग–भाग कर बाहर जा रहे हैंए कौइलरी में जा रहे हैं, सेना में जा रहे हैं और वहां से लौटते हैं तो कुछ बदले हुए से और गांव के लोग इनका मजाक करते हैंए गाली देते हैं कि ये साले नीच जाति के लोग बेमान होते जा रहे हैं, बात नहीं सुनते, मजदूरी अधिक मांग रहे हैं, काम पर नहीं आते.....नखरै करते हैं........।'[1]

कथाकार सूक्ष्म और सम्वेदनशील मनोभावों से प्रेरित होकर सर्वहारा वर्ग की विकट अन्तर्वाह्य आर्थिक अवस्थाओं का आलेखन करता है। सनातन गांवों से जुड़ी अंतरंगता का परित्याग कर सुदूर देशों में घूमते दिशाहारा लघु मानवों की जीवन व्यथा को मानवीय उभार देने के साथ उन लोगों पर अपरोक्ष रूप से कटु प्रहार भी करता है जो इन मूक और अवश लोगों के जीवन पर अपना प्रभु प्रदत्त अनाधिकृत अधिकार आज भी समझते हैं।

'विश्वम्भर नाथ उपाध्याय' की कृति 'रीछ' में भी जीवनगत् अभावों से संत्रस्त नगरोन्मुखता की यथार्थ स्थिति विमल की वाणी द्वारा गूंजती है कि 'भैया। गांव भूखे हैं, प्यासे हैं। सब शहर की तरफ भागते हैं।[2] 'रेणु' के 'मैला आँचल' में भी ग्रामीण सर्वहारा की नगरोम्मुखता का यथार्थ और प्रामाणिक संदर्भ उभरा है। सुमरित दास द्वारा कटिहार में खुलने वाली जूट मिल का सम्बाद इस वर्ग में आजीविका की नई आस्था जगाता है। श्रमिक वर्ग की मानसिकता नगर जीवन संदर्भ में पर्याप्त परिवर्तित हो चुकी है। पारिश्रमिक की सुविधा से आकर्षित सर्वहारा की मनःस्थिति से जुड़ा यह सत्य कि 'कटिहार में एक जूट मिल और खुला है। तीन जूट मिल?...... चलो चलो दो रुपया रोजे मजदूरी मिलती है। गांव में अब क्या रखा है?[3]

---

1. जल टुटता हुआः राम दरश मिश्र, पृष्ठ– 388
2. रीन : विश्वम्भर नाथ , पृष्ठ– 795
3. मैला आंचल : फर्णश्विर नाथ रेणु, पृष्ठ – 368

नगरोन्मुखता की पृष्ठभूमि मे उपस्थित है। मूलतः गांव का अर्थहीन परिवेश। कृषि सम्बन्धी विसंगतियों ने इस वर्ग को निरुपाय बना दिया है। वे सोचते हैं कि सुबह से शाम तक रात भर धान दवनी कर जो मजदूरी मिलती हैए खलिहान पर ही बाकी मांजर हो जाता है। नाई धोबी और मोची का खून भी नहीं जुड़ेगा इस बार.......चलो कटियार मिल का भोंपा बजता है सुनते नहीं?[1] 'लोहे के पंख' में अर्थाभाव की टूटन और सामाजिक शोषण की मारक प्रक्रिया इतनी तीव्र है कि बीलट नचनिया कहता है कि गांव में रोज–रोज बेगार खटने की खिचखिच से जान बची है। वहां तो समझों खट कर खाना है। घंटे–घंटे की मजूरी हिसाब से मिलती है।' [2] माँ और पत्नी की लाख आनाकानी करने भी बीलट की बातों से नगराकर्षित मंगरू रतन नगर के पावर हाउस में भर्ती हो जाता है। भले ही शोषण के नये आयाम उनके शरीर की अंतिम बूंद तक चूस लेते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग इस संदर्भ की ओर संकेत करते हैं कि ग्राम और नगर सीमा की मिट्ती हुई दूरियांए गांव में सर्वहारा समाज का चतुर्दिक शोषण और भौतिक संसाधनों की प्राप्ति की आकांक्षा इत्यादि अनेक कारण सर्वहारा समाज को नगरोन्मुख कर रहे हैं। स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों ने नगरोन्मुखता के कारण और तज्जन्य संगति विसंगतियों के सूक्ष्म और सजीव चित्रों की अवतारणा की है। डा0 विवेकी राय ने नगरोन्मुखता की इस प्रवृत्ति के संदर्भ में लिखा है कि 'नगर का आर्थिक इन्द्रजाल इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से तो ग्रामीणों को खींच ही रहा है, वह प्रत्यक्ष रूप से भी पसर कर गांव की आबादी की घोंट डालता है।[3] सक्षम और शक्ति सम्पन्न घटकों की संक्रमणशीलस्थिति नगरों को यदि बसाती जा रही है तो गांवों को उजाड़ती जा रही है।

वैज्ञानिक समुन्नति और सर्वहारा :

विदेशी प्रमुखों की सामरिक आवश्यकताओं के कारण सन् 1935 ई0 से लेकर सन् 1947 ई0 तक की औद्योगिक अर्थव्यवस्था ने इस देश की परम्परागत अर्थव्यवस्था को छिन्न–भिन्न कर दिया। साथ ही यंत्रीकरण ने सर्वहारा वर्ग के समक्ष आजीविका की नई समस्याओं को जन्म दिया। समाज का सम्पन्न और कुलीन वर्ग अपनी आर्थिक संप्रभुता के कारण सर्वहारा श्रमिकों का श्रम शोषण विभिन्न आयामों में करने लगा। फलतः उपेक्षित कृषि व्यवस्था और यंत्रीकरण के श्रमावहेलन ने सर्वहारा जीवन को

---

1. मैला आंचल : फर्णश्विर नाथ रेणु, पृष्ठ – 369
2. लोचे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ – 187
3. स्वातंत्र्योचर तथा साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ– 292

आर्थिक स्तर पर व्याघातित किया है। ग्रामभिक्तिक संरचनाओं में वैज्ञानिक समुन्नति से व्याघातित सर्वहारा का यथार्थ प्रतिचित्र रूपांकित हुआ है।

'नदी फिर बह चली' का हरि कहता है कि 'अपने मालिक को देख लो न? कौन सी मशीन उन्होंने मंगवाई है बिना बैल के चलती और खेत जोतती है। खाली उसमें तेल डालते हैं लोग और भड़मड़ की आवाज देती है। खेती का काम इतना आसान हो गयाए अब बनी–मजूरी करके भी पेट न भरेगा?'[1] छोटे किसान और श्रमिक समुदाय का श्रम सम्बन्धी कार्य व्यापार वैज्ञानिक संयत्रों की बाढ़ से पूर्णतः व्याधातित हुआ है। हरि की मनोदशाए आधुनिक मशीनीकरण के प्रति उभर कर इस सामयिक समस्या की ओर इंगित करती है।

'रेणु के मैला आँचल' में भी आधुनिक कृषि उपकरणों ने श्रमिक वर्ग को आर्थिक व्याघात पहुंचाया है। तहसीलदार साहब के ट्रैक्टर खरीदने पर श्रमिक वर्ग के समक्ष यह समस्या और गहरी हो जाती है कि 'ट्रैक्टर द्वारा कृषि कार्यो के सम्पन्न होने पर उनकी क्या आवश्यकता है? आदमी की क्या जरूरत' पानी का पम्पू आवेगा। इन्दर भगवान की खुशामंद की जरूरत नहीं।[2]' ग्रामीण निम्न वर्ग की आजीविका से सम्बद्ध आंतकित मनोभावों की गहरी पकड़ उपन्यासकार की है। समवेत स्वरों से गुंजता यह यथार्थ कि' जब इन्दर भगवान को ही नून–नेब चटा रहे हैं तहसीलदार साहब तो आदमी उनके चुजूर में क्या है'' ।[3] वैज्ञानिक सम्मुन्नति का सर्वाधिक लाभ उठाकर धन का केन्द्रीकरण करने वाले लोगों से आधुनिक सर्वहारा कितना व्याघातित हुआ इसका अत्यन्त प्रामाणिक और तार्किक प्रसंग मायानन्द मिश्र कीकृति 'मांटी के लोग सोने की नैया' में उभरा है।

नवटोलिया के निषादों के समक्ष आधुनिक कृषि उपकरण की अपार क्षमता जटिल समस्या उपस्थित कर देती है। उदहातट के सारे जंगलों को दो ही दिन में ट्रैक्टर से उखाड़ कर फेंक देने की आशंका निषादों के मनोमस्तिष्क पर द्रुतगति से छा जाती है। यांत्रिकता और तज्जनित बेकारी निर्धनता आदि की विभीषिका उनके समक्ष अनावृत होने लगती है। मंगल का यह कथन उनकी यथार्थ स्थिति का सफल प्रतिनिधित्व करता है कि 'कोसी मैया ने निरमली की और मझारीघाट जाकर उदहा घाट का रोजगार छीना। कोसी योजना के लोगों नेबांध बांध कर उदहा की मछलियां छीनी और अब मांझी ट्रैक्टर से जंगल तोड़कर हम लोगों का पेट काट रहा है।'[4] प्रस्तुत संदर्भो के परिप्रेक्ष्य में सर्वहारा वर्ग की मानसिकता एक नया मोड़ ले रही है। उनकी परम्रागत्

---

1. नदी फिर बह चली: हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ –292
2. मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु पृष्ठ– 368
3. वही पृष्ठ – 368
4. माटी के लोग सोने की नैया : मायानन्द मिश्र , पुष्ठ– 68

प्रणाली, वर्तमान बदलाव को झेलने मे सर्वथा असमर्थ प्रतीत हो रही है क्योंकि अधुनातन सुविधाओं का उपहार समर्थो को ही मिला है। सर्वहारा वर्ग अपनी उपेक्षित हीन और अवश अवस्था में विरोधाभास और कुण्ठा की मनः स्थिति से पीड़ित हो रहा है, जिसका सफल चित्रांकन ग्राम गंधी कृतियों में हुआ है।

भूमि सम्बन्धी विषमताओं और सर्वहारा की आर्थिक स्थिति :

कृषि प्रधान इस विशाल राष्ट्रकी समस्याओं की विभिन्न श्रृंखला इस संदर्भ से जुड़ी हुई हैं। जिसकी ओर संकेत करते हुए 'डा0 ज्ञानचन्द गुप्त' ने लिखा है कि 'कृषिजगत की आधारशिला किसान और मजदूर हैं। इन्हीं दोनों के सहयोग से गांव की मिट्टी अन्न उगलती है। दोनों ही श्रमजीवी हैं अन्तर मात्र भूमिधर और भूमिहीन का है जो एक को मालिक और दूसरे को मजदूर बना देता है। जबकि वास्तव में दोनों एक ही श्रेणी के दो व्यक्ति हैं।[1] स्वातंत्र्योत्तर भारत में देश की भूमि व्यवस्था सम्बन्धी विषमताओं के समाधान के लिये जमींदारी उन्मूलनए चकबन्दीए सहकारिता आदि अवश्य ही प्रभावकारी प्रयास रहे किन्तु इससे अत्यन्त निकट से सम्बद्ध सर्वहारा वर्ग की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। डॉ0 विवेकी राय ने इस ओर संकेत करते हुए अक्षरशः सत्य ही लिखा है कि 'कृषि सुधार के समूचे आर्थिक विकास कार्यक्रम भूस्वामियों के लिये ही वरदान सिद्ध हुए।'[2] भूमि से अन्दर और वाह्य दोनों स्थितियों से जुड़े सर्वहारा की अन्तर्दशा का यथार्थ निरूपण करते हुए पुनः लिखा है कि अगणित उच्च संस्कृतियों के स्रोतरूप इस विशाल राष्ट्र भारत की ग्रामात्मा उस एक आर्थिक विकृति का बोध शताब्दियों से ढोती आ रही है जो भूमिहीन किसान की घोर विसंगति के रूप में एक युग सत्य है।'[3]

स्वातंत्र्योत्तर और स्वतंत्रतापूर्ण के कथा सर्जकों ने भूमि सम्बन्धी विषमताओं का प्रचुर मार्मिक चित्रांकन अपनी कृतियों में किया है। भूमि की केन्द्रीयता ने वर्ग विशेष को अतुलनीय सुविधा भोगी नियति सौंपी तो दूसरी और घोर अभावग्रस्तता से सिहकते सर्वहारा को यंत्रणादायी विपन्न जीवन स्थितियां जिसने लघु मानवों के सामाजिकए आर्थिकए राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन मूल्यों को निरन्तर अपघातित किया। भूमि सम्बन्धी विषम पीड़ा बोध की मार्मिकता को जगरदीशचन्द्र में बड़ी कुशलता से 'धरती घन न अपना' में रेखांकित किया है। निम्नस्तरीय हेय हरिजन जाति का काली ग्राम्य जीवन के रूप, रस गंध से आकर्षित होकर गांव लौटता है तो चमादड़ी में अपने

1. स्वातंत्र्योचर हिन्दी उपन्यास और ग्राम जीवन : डॉ0 ज्ञानचन्द गुप्त, पृष्ठ– 178
2. स्वातंत्र्योचर तथा साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ– 290
3. वहीं , पृष्ठ 211

जीर्णशीर्ण घर का जीर्णोद्धार पर पक्का मकान बनवाने की इच्छा रखता है और इस मार्ग में नाना अवहेलनाओं के उपरान्त भी उसकी आशा पूर्ववत् वर्धमान रहती है किन्तु कज्जूशाह जब उसे यह बताता है कि 'यह उसकी मलकीयती जमीन नहीं है मौरूसी जमीन है।[1] 'तो घृणा के अतिरेक में अपनी समग्र जाति की अस्तित्वशीलता पर संदिग्धमना काली विदग्ध मन से सोचने लगता है कि 'चमारों की औलाद तक मौरूसी है।'[2] परिस्थितिजन्य यथार्थ की सम्वेदनीयता को उपन्यासकार सूक्ष्मतापूर्वक उद्घाटित करता है।

'रेणु की बहुचर्चित कृति' 'परती परिकथा' में भूस्वामियों और भूमि हीनों के अन्तर्विरोध में भूमि सम्बन्धी समस्याओं का अनेक कोणों से प्रतिफलन हुआ है। सर्वहारावर्ग की भूमि सम्बन्धी अन्तर्दशा की स्थिति बड़ी विचित्र है। एक ओर दस–दसए पन्द्रह–पन्द्रह हजार बीघे भूमि का स्वामी है जिसके पास दो–दो हवाई जहाज और अपार सम्पत्ति है तो दूसरी ओर भूमिहीनों की विशाल जमात'[3] यदि विनोबा का भूदान यज्ञ, मानवीय सम्बेदनाओं को उद्बद्ध कर इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करता है तो अनेक विसंगतियां इस प्रसंग से जुड़कर इस संदर्भ को और अधिक विकृत बना देती है। सर्वे सेटलमेन्ट में तो भूमिहीन अपनी रही सही पूंजी भी गंवा देता है।

'मैला आँचल' में भी भूपतियों और भूमिहीन संथालों में मचे 'लंका काण्ड'[4] की पृष्ठभूमि में बेदखली और नई बन्दोवस्ती का ही हाथ है। मधुकर सिंह के 'सबसे बड़ा छल' में भी भूमिसम्बन्धी विषमता की झलक निम्न कथन में प्रस्तुत है कि 'गांव के तो नब्बे प्रतिशत लोगों को जमीन तब भी नही थी, आजादी के बाद भी नहीं है।'[5] भूमिहीनों की भूमि से जुड़ी व्यामोहग्रस्त अंतरंगता 'लोहे के पंख' में उभरी है। झगडु के भूमि संप्राप्ति का हर्ष इतना घनी भूत है कि झगडू मलखा चक के दीयर वाले खेत पर कब्जा करने वाले पिता रतन की हत्या तक का प्रसंग भूल जाता है और इसके एवज में मालिक से मिलने वाले खेत की 'खुशी से शायद उनकी घिग्घी बन्द होते–होते बचती है।'[6] किन्तु यथार्थ जगत में मालिक और उनके मुंशी की छलना इस निरीह का इतना अवर्णनीय आघात पहुचाती है कि परिस्थितियों से मर्माहत हुआ झगडु भूमि की लालसा को सदा के लिये दफना कर रातों रात नगर की ओर प्रस्थान कर देता है।

भूमिहीनों की मार्मिक पीड़ा का मुखर और सशक्त रेखांकन 'माया नन्द मिश्र के' 'मांटी के लोग सोने की नैया' में हुआ है। निषाद जाति के जीवन की सामूहिक और

---

1. धरती धन न अपना : जगदीश चन्द्र, पृष्ठ – 62
2. वहीं पृष्ठ – 62
3. परती परिकथा : रेणु, पुष्ठ – 26
4. मैला आंचल : रेणु , पुष्ठ – 252
5. सबसे बड़ा कल : मधुकर सिंह, पुष्ठ – 23
6. लोचे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पुष्ठ – 7

व्यक्तिगत भूमीय समस्याओं की गाढ़ी व्यथा उपन्यासकार की लेखनी से संस्पर्शित होकर प्रामाणिकता के साथ उभरी है भले ही उसके उपचार में रचनाकार अतिवादी आशा और आकांक्षा की पृष्ठभूमि में संतरित हो उठा है। प्रस्तुत कृति का हीतलाल भूमि प्राप्तिए की अप्रतिम लालसा के वशीभूत होकर अपनी पत्नी अनूपी से हाथ धो बैठता है। भूमि प्राप्ति की ललक में दो बीघे के प्लाट के लिये सभी मर्यादाओं को ताक पर रख देने वाले हीतलाल ने नथुनी के पैर पर अपनी पत्नी अनूपी की हंसुली रख दी थीए घर की थाली रख दी थीए लोटा रख दिया थाए लाज शरम सब रख दी थी किन्तु वह भूमि नहीं पा सका।[1]

सर्वहारा के संदर्भ में कृषि विकास के स्वातंत्र्योत्तर आयामों की निस्सारता व्यक्त करते हुए रमेसरभरी सभा में अपनी भूमि सम्बन्धी विसंगतियों का अनावरण करते हुए कहता है कि 'लेकिन ट्रैक्टर से फायदा मांझी का होगा जिसके पास पचास बीघे खेत हैए जो बड़ा आदमी है। हम गरीबों को क्या मिलेगा? कहां है जमीन? किसको तोड़ा जायेगा? कहां होगी खेती? कैसे होगा खलिहान?[2]
भारतीय सर्वहारा के संदर्भ में मिथ्यानुभूति का बोध होने लगता है। फिर भी भूमीय संदर्भों में सर्वहारा जीवन की स्थितियों का मूल्यांकन स्वातंत्र्योतत्तर उपन्यासों कागतिशील आयाम रहा है।

जमींदारी उन्मूलनोपरान्त भूपतियों का सर्वहारा के प्रति उदित मनोभाव :

जमींदारी उन्मूलन का प्रवल आघात अभिजातीय दर्प को विगलित ही नहीं करता वरन् उसकी समस्त जीवन प्रणाली को ही झकझोर कर रख देता है और इसकी प्रतिक्रिया का कहर सर्वहारा पर ही टूटता है। रामदरश मिश्र की कृतियों में गांव, भूपति और भूमिहीनों की अन्तर्दशायें मनोवैज्ञानिक धरातल परसंतरण करती है। 'जल टूटता हुआ' में महीप सिंह के माध्यम से सर्वहारा के प्रति सामन्तवर्ग के अवशिष्ट मनोभावों को कथाकार आक्रोश और उपेक्षा की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करता है। नये परिवेश में अपने विघटन तथा सर्वहारा उन्नयन की सम्भावनाओं के कारण महीप सिह की यह उक्ति कि 'शाली कांग्रेसी सरकार क्या हो गई इन बदजातों का हौंसला बढ़ गया।' युग–युगों के शोषक सामंत अपने चंगुल से निकलने वाले दलित वर्ग के प्रति ईर्ष्या और अविश्वास के पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। 'अलग–अलग वैतरणी' 'मांटी की महंक', 'लोहे के पंख', 'सती मैया का चौरा' आदि कृतियों में सामन्तरीय आकुलता का सारा गुबार इन्हीं बेजुबान और

1. माटी के लोग सोने की नैया : मायानन्द मिश्र, पुष्ठ – 58
2. वहीं , पृष्ठ – 351

निरीहों पर उतरता है। राही मासूम रज़ा के 'आधा गांव' के जमींदार जमींदारी उन्मूलनोपरान्त अर्द्ध विक्षिप्तों का सा व्यवहार करने लगते हैं।

आर्थिक विवशता से विघटित सर्वहारा के अन्यान्य जीवन मूल्य :

परिवर्तित परिवेश में सर्वहारा वर्ग को स्वतंत्र्योत्तर उपलब्धियां अभी रास नहीं आयी है। आर्थिक विवशतायें आज भी उनके अन्यान्य जीवन मूल्यों को प्रतिहत कर रही हैं।

'सागर लहरें और मनुष्य' में 'उदय शंकर भट्ट' ने आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्रवंशी जैसी नारियों के चित्रण द्वारा इनकी टूटती नैतिकता की ओर संकेत किया है। एक ओर निर्धन यशवन्त रत्ना के वियोग में आजीवन परमनिष्ठावान जीवन की ओर अग्रसर होता जाता है दूसरी और वंशी जैसी नारियां आर्थिक स्तर पर स्वावलम्बिनी होकर नित्य नित्य नयी परम्परा का निर्माण कर रही हैं। विट्ठल, बंशी और जागला के अनैतिक सम्बन्धोंकी बात जानकर भी स्वाभाविक पुरूषोचित प्रतिक्रिया से शून्य दृष्टिगत होता है। 'देख कर भी मुंह फेर लेता है'।[1] वंशी परपुरूष की अंकशायिनी बन कर भी उस पर रोब झाड़ती रहती है।

'मैला आँचल' में 'रेणु' ने आर्थिक प्रलोभन से टूटते नैतिक मानदण्डों का आलेखन इनकी ही सहज सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। रमजूदास की स्त्री और फुलिया की मां की नोंक–झोंक में आर्थिक विकृतियों की अद्य:पतित विद्रूपता मूर्तित है। रमजूदास की पत्नी के कथन में 'हरे फुलियाकी माये तुम लोगों को न तो लाज है और न धरम। कब तक बेटी की कमाई पर लाल किनारे वाली साड़ी चमकाओगी? आखिर एक हद होती है किसी बात को मानती हूँ कि जवान बेवा बेटी दुधारू गाय के बराबर है मगर इतना मत दूहा कि देह का खून भी सूख जाय।'[2]

महंगू का ही परिवार अनैतिक अर्जन पर अवलम्बित हो ऐसी बात नहीं है फुलिया की माँ रमजूदास की पत्नी की पोल खोलते हुए कहती है कि 'गुजर टोली के कलरू के साथ रात–रात भर भैंस पर रासलीला करती थी सो कौन नहीं जानता।'[3]

प्रस्तुत चित्रों में उपन्यासकार सर्वहारा वर्ग की अर्थहीनता से अधिक स्वच्छकन्द स्वैराचार की विकृतियों को आर्थिक संदर्भ में रूपायित करता है जो इस वर्ग की सामान्य चारित्रिक विसंगति बन चुकी है। 'नदी फिर बह चली, ''माटी की महंक'', अलग–अलग

---

1. सागर लहरें और मनुष्य : उदय शंकर भट्ट, पृष्ठ – 70
2. मैला आंचल : फणीश्वर नाथ रेणु , – 73
3. वहीं , पृष्ठ – 73

वैतरणी' आदि कृतियों में निम्नवर्ग की न्यारी के स्वैराचार के पर्याप्त संकेत मिलते हैं जो सर्वहारा नारी जीवन को विपथगामी बनाते जा रहे हैं।

(ख) वाह्य नियन्त्रक तत्वों का समावेश :

महंगाई और गरीबी—अर्थात लम्बित अद्युनातन परिवेश की विभिन्न गतिविधियां सर्वहारा के जीवन का अन्तःवाह्य दोनों और से जकड़े हुए हैं। सामान्य जीवनस्तर से भी नीचे जीवन यापन करने वाले सर्वहारा की दुरावस्थाओं के क्षतिपय यथार्थपरक मर्मस्पशी चित्रों को उपन्यासकारों ने निष्ठापूर्वक चित्रित किया है।

महंगाई और गरीबी का अनन्योन्याश्रित सम्बन्ध हैं जिसे 'मशाल' में 'भैरव प्रसाद गुप्त' ने बड़ी कड़ुआहट के साथ रंगवाधेनुक के शब्दों में मुखरित किया है। नगर मजदूर जीवन की विसंगतियों इन शब्दों में उभरती हैं कि 'हम आठ घंटे रोजी छाती फाड़ कर काम करते हैं और जानते होए क्या मिलता है? सवा डेढ़ रूपये रोज इस मंहगी के जमाने में इससे दो जून भर पेट रोटी चलाना और एक जोड़े कपड़े बनाना और घर का किराया चुकाना क्या मुमकिन है?'[1] मूल्यवृद्धि की निरन्तरता से संत्रस्त मजदूर का वर्ग गांव से निकल कर शहरों की ओर पलायित होता है किन्तु वहां की विपन्नता अवर्णनीय है। 'नदी फिर बह चली' की परबतिया का निर्वाह आढ़त पर फेंके गये दुर्गन्धयुक्त सड़े आलुओं पर भी नहीं हो पाता है और वह पुनः गांव लौट जाती है।

नागार्जुन कृत 'दुखमोचन'में गरीब निर्धन निम्नवर्ग महंगाई के बोझ तले घांसफूस के छप्परों का भार ही वहन कर पाता है। फागुन चैत्र की पछिमा में दहक उठने वाली आग इन गरीबों की अन्तिम पूंजी को भी मस्मसात् कर देती है। 'लोहे के पंख' में नगर जीवन व्यतीत करने वाले मंगरू समक्ष महंगाई को भीषणता इस तरह व्याप्त है कि सधः प्रसूता रूग्णा शनीचरी की अस्वस्थता और नवजात शिशु के जीवन रक्षण के लिये आवश्यकीय दूध की कुछ बूंदों की व्यवस्था में असमर्थ मंगरू इसके लिये ग्वाले से अस्वीकार कर देता है। महंगाई और तज्जन्य गरीबी के पाटों में पिसते सर्वहारा वर्ग की स्थितिजन्य प्रामाणिकता को कृतिकार इन शब्दों में प्रस्तुत करता है कि 'लगातार सोलह—सोलह घंटे सवारी ढोने पर मुश्किल से तीन सावातीन रूपये मिलते, जिनमें ढाई रुपया रिक्शा के मालिक को दे देने पड़ते। कभी—कभी तो तीन रुपये भी मुश्किल से हो पाते थे। उस रोज जिउराखन के लिये छः आने को दूध आता और हम लोग तीन आदमी को दो—दो आने की कचौड़ी फुलौड़ी खाकर भरपेट पानी पीकर सो रहते थे।'[2]

---

1. मशाह : भ्रैरव प्रसाद गुप्त , पृष्ठ — 182
2. लोहे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव , पृष्ठ — 330

पूंजी के अभाव में ये श्रमशील लघुमानव अथक प्रयास करने के उपरान्त भी उदरपूर्ति में अक्षम रहते हैं। अनिश्चित आजीविका के साथ शोषित श्रमशीलता ने इन्हें पंगु बना दिया है। पैसे के बल पर स्वामीवर्ग अपना लाभ तो ले लेता है किन्तु जीवन के प्रथम प्रहर से ही पूंजीविहीन इन निरीहों का जीवन निरन्तर अभावए दैन्य निर्धनता से आयुपर्यन्त अथक संघर्ष करने पर भी मुक्त नहीं हो पाता।

स्वतंत्रता परवर्ती साहित्यकारों ने देश की इस सामयिक समस्या और तज्जन्य असंगतियों से टूटते जीवन से सम्बद्ध उपादानों को भी आख्यायित किया है। साधनविहीन इस राष्ट्र की निरन्तर वर्द्धमान जनसंख्या प्रशासनिक स्तर पर व्यापक भ्रष्टाचारए और सीमित स्वार्थो से वशीभूत मनः प्रवृति में निम्न वर्गए निम्न मध्यम वर्ग और मध्यवर्ग के समक्ष बड़े पैमाने पर सास्याओं का जाल बिछा दिया है। सेठ साहुकार बड़े व्यापारी तस्करी आदि की आय में गुणात्मक वृद्धि इनकी तिजोरियों को भरती जा रही है तो दूसरी ओर पूंजीविहीन साधारण श्रमिक अपनीनित्यार्जित अल्प आय से नमक तेल की व्यवस्था भी नहीं कर पाता है। 'अलग–अलग वैतरणी'ए 'मैला आँचल'ए 'पानी के प्राचीर', 'माटी की महक', 'बरुण के बेटे', कृतियों में महंगाई और निर्धनता का समय सापेक्ष प्रतिविम्बन हुआ है।

प्राकृतिक विभीषिकाओं से संत्रस्त सर्वहारा :

सांसारिक अव्यवस्थाओं से उत्पीड़ित सर्वहारा के संदर्भ में निश्चय की 'दैवो दुर्बल घातकः' वाली उचित अदार्श चरितार्थ प्रतीत होती है। स्वातंत्र्योत्तर कथा कृतियों में प्राकृतिक विभीषिका से संत्रस्त सर्वहारा का वस्तुपरक सजीव चित्रांकन हुआ है। 'बाबा बटेसर नाथ' में क्या अकाल और बाढ़ की विभीषिका क्या रोगों की चपेट सब की मार इन्हीं पर पड़ती है। अकाल ने रुपउली वासियों को दाल तक खाने के लिये विवश कर दिया हैए वह भी चोरी चुपके। भूख की ज्वाला में हजारों परिवार बर्बाद हो गये और लाखों की जान चली गई।'[1] सूखो बाढ़ और दुर्भिदा की आपदा से इनका जीवन कभी भी मुक्त नहीं है। असुरक्षित साधन विहीन निरूपाय रूपउली वासियों के लिये 'यह बाढ़.. ......भुखमरी का बिगुल बजाती आयी थी।'[2]

'पानी के प्राचीर' में दुर्भिक्ष ग्रस्त ग्रामांचलीय सर्वहारा की नाना असंगतियों की प्रभावकता के साथ अभिव्यक्ति की गई है। गांव के हरिजन अपने गांव के हरिजन गांव में निस्तार न देखकर भाग–भाग कर कलकत्ता और कोइलरी में जाने लगे हैं।'[3] ग्रामीण

---

1. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन , पृष्ठ – 62
2. वहीं , पृष्ठ – 80
3. पानी के प्राचीर : रामदरश मिश्र, पृष्ठ – 217

अहुत सर्वहारा के जीवन पर आघृत 'बबूल' में प्राकृतिक विभीषिका महेसवा के अन्तरवाह्य दोनों को झकझोर कर रख देती है। अतिवृष्टि के कारण शिशु पौधों की असामयिक मृत्यु पर पिता की भांति कातर करूण विलाप करने वाला यह प्राणी और भला कौन हो सकता है। भारतीय सर्वहारा को छोड़ कर? जिसने अपने प्रस्वेंद बिन्दुओं से इनका कपन किया हो और अनवरत अथक भाव से पल–पल इनके वर्धमान स्वरूप से अपना आत्यन्तिक निकटतम सम्बन्ध सूत्र जोड़ लियाहो वही वैसी अनुभूति में डूब सकता है। ये भविष्य के सम्बल साथ दोड़े देते हैं तो सूखे के दैवीय प्रकोप से अकाल का पोस्टर भी यही महेसवा बनता है।'[1] जो भारतीय ग्राम का सर्वाधिक दीन हीन दुखी संतप्त प्राणी है। उपन्यासकार महेसवा के रूदन में भारतीय सर्वहारा की मुक्त दैन्यता की प्रामाणिकता को निरूपित करता है। कथाकार की लेखनी से मानवीय मनोभावों की हृदयद्रावी गतानुगंतिक भावधारा का प्रस्रवण होता है।

स्वातंत्र्योत्तर कृतियों में प्राकृतिक प्रकोप से क्षत–विक्षत जन जीवन का बड़ा ही मर्मस्पर्शी और संवेदनशील चित्र अनावृत हुआ है। रामदरश मिश्र डा0 विवेकीरायए नागार्जुन तथा जयसिंह आदि उपन्यासकारों की कृतियों में प्रलंयकारी प्राकृतिक विभीषिका के संदर्भ में सर्वहारा वर्ग की विकट जीवनीय स्थितियों का आकलन हुआ है। आधुनिकता से सर्वथा अकूते इन गांवों में आज भी स्थिति बड़ी दुरन्त है। 'रामदरश मिश्र' ने अतिवृष्टि के फलस्वरूप बाढ़ वर्षा से डूबते छीजते गांव और वहां के लोगों की बहुमूखी समस्याओं के प्रसंग को उभार कर निदानार्थ पर्याप्त संकेत भी अभिव्यक्त किया है तथा इस संदर्भ में मानवीय दृष्टिकोण को जागृत करने की आवश्यकता पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है।

आजीविका की समस्या और बेरोजगारी :

अनावृष्टि और अतिवृष्टि की समस्या प्राथमिक है। समस्याओं की श्रृंखला में भारतीय सर्वहारा जनजीवन इससे निरन्तर अच्छिन्न होता जा रहा है। कृषि पर अवलम्बित रहने वाले देशवासी बाढ़ और अकाल में काम के अभाव में गांवों को छोड़–छोड़कर आजीविका का निदान ढूंढ़ने नगरों की ओर उन्मुख हो रहे हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त भी गांवों में रहने वाली 80 प्रतिशत जनता के लिये कोई सुनिश्चित व्यवसाय नहीं स्थापित हो सका है। कृषि संदर्भ में भूमिहीन और भूपति की स्थिति आज भी उसी प्रकार है। उद्योग धंधे कल कारखाने तथा औद्योगिक संस्थानों

---

1. बबूल के प्राचीर : रामदरथ मिश्र , पृष्ठ – 105

की भरमार नगरों में ही है। आजीविका की खोज में निकला ग्रामीण नगरों की ओर न जाये तो कहां जायेक्या करें। भारतीय सर्वहारा के समक्ष मूल प्रश्न अपनी उदरपूर्ति तथा तन ढंकने का है। उसे नगर का आकर्षण उतना अपनी ओर नहीं आकर्षित करता जितना अपनी आजीविका की सुनिश्चितता। प्रश्न यह है कि क्या गांवों में आजीविका की समुचित व्यवस्था होती तो वह नगरों की ओर नहीं दौड़ता? निश्चय ही इस संश्लिष्ट प्रश्न का प्रत्युत्तर बहुत कुछ विश्वासपूर्वक दिया जा सकता है कि यदि अविकसित उपेक्षित गांव इन लोगों की आवश्कताओं की पूर्ति में सक्षम होते तो यहभाग दौड़ किसी सीमा तक सीमित रहती। स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों ने आजीविका विहीन बेरोजगारों की बेकारी का द्वन्द्वपूर्ण मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया है।

शिव प्रसाद सिंह की 'अलग–अलग वैतरणी' का झिनकू परम्परागत कृति संदर्भ से जुड़ा अपने मालिक जगजीत का पुश्तैनी हलवाहा है जो निरन्तर सूखा बाढ़ की विभीषिका से उजड़ी खेती की हर मार बर्दाश्त करते करते थक जाने पर विद्रोह कर बैठता है। चार–चार दिनों तक परिवार के भूखे प्यासे प्राणियों की आह में जलता यह सर्वहारा श्रमिक विद्रोह करता है तो उसे घूँसे लात गालियों के उपरान्त बेकारी का सामना करने के लिये विवश होना पड़ता है।

अथक श्रमी पुरुषत्व आर्थिक अभाव मे विलख–विलख कर आंसुओं में गलता जाता है। चांचर बन्द कर मार्मिक पीड़ा और सन्ताप में डूबे झिनकुआ को सरूप भगत की शशक्त वाणी भी सम्बल नहीं दे पाती। जब वह यह सोचते हुए डूब जाता है कि 'अब करैता का दाना–पानी उठ गया। जाने कहां–कहां की ठोकर खानी लिखी है क्या करें । कहां जायें?[1]

स्वातंत्र्योत्तर भारत के हर प्राणी के समक्ष चाहे वह किसी वर्ग का क्यों न हो आजीविका की विकट समस्या मुंह बाये सुरसा की भांति खड़ी है। अमरकान्त कृत 'ग्राम सेविका' में बेरोजगारी के संदर्भ में आधुनिक शिक्षा की कमियों को इंगित करती हुई रमैनी सहुआइन कहती हैं कि 'रमपतिया पासी का लड़का तो है दो कौडी का कोई नहीं पुख्ता 'बाप रे बेचारे ने पेट काट कर लड़के को शहर में पढ़ायाए अब दो साल से गांव में बेकार पड़ा हैए कोई नौकरी चाकरी नहीं मिली। बाप रोता फिरता है कि अब तक मजदूरी करके उसने कुछ कमाया होता तो उन्होंने दो रोटी अधिक खाई होती।'[2] प्रशासनिक स्तर पर शिक्षा की सुविधा ने सभी लोगों को पुस्तकीय ज्ञान लाभ तो अवश्य

---

1. अलग– अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ– 242
2. ग्रम सेविका : अमरकान्त , पृष्ठ– 15

कराया किन्तु अर्थकरी न होने के कारण शिक्षा के उपरान्त राष्ट्र के घटकों के समक्ष बेकारी की विद्रूपता समग्र विसंगतियों के साथ मुखर होकर उनके भविष्य को समस्या ग्रस्त बना देती है।

आजीविका विहीन बेरोजगारों में बढ़ती अपराध वृति भी सहज स्वाभाविक है। 'कलाये' में आदिवासी भीलों के समक्ष परम्परागत् आजीविका का मार्ग अवरुद्ध होने से वे सोचते हैं कि 'जंगल न जायें तो क्या करें। काम धंधा कौन सा बचा है?।'[1] सरकार द्वारा जंगल परलगी रोक और अतिवृष्टि से विनष्ट हुई फसलों ने इनके समक्ष विकट आर्थिक संकट उत्पन्न कर दिया है। आजीविका विहीनबेकारी और तज्जन्य विसंगतियों की विकृति की रूपरेखा कचरू के कथन में अभिव्यक्त होती है जब उसकी भाभी मजदूरी का प्रस्ताव रखती है तो वह तत्क्षण कहता है कि 'वह कमी हुई है? कहीं हलीपना करो तो उमर भर जुआ कंधे से न उतरे। एक तरह से बिक ही जाओ कटनी के दिनों में पठार पर जाकर खेतों में कटाई करो तो वह भी एक पखवाड़ी से अधिक का काम नहीं रखवालियों पर चलों तो मीलों पर कोई भरोसा करता नहीं।'[2]

सामाजिक विषमता और अर्थहीन परिस्थितियों ने वर्ग वैषम्य की निरन्तर बढ़ावा दिया है। दीन–हीन और उपेक्षित वर्ग के लिये स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में भी परिवर्तन की कोई नई दिशा नहीं प्राप्त हुई। वह आज भी गांवों में कुलीन जमींदारों की बेगार ढोता है तथा आर्थिक और सामाजिक स्तर पर पीड़ित किया जाता है। सरकारी तंत्र और नियम की अहर्निश इन्हीं निरीहों को लूटते रहते हैं। कचरू की मर्मवर्शिनी अभिव्यक्ति में दृश्य और अदृश्य रूप से समाज द्वारा अवहेलित और निराश्रित व्यक्तित्व की कुण्ठा और संत्रास चरम सीमा पर है। ये विकृतियों से इस सीमा तक बद्धमूल हो जाते हैं कि कोई भी जघन्य अपराध चोरीए झूठए शराबए से परे नहीं रह जाते।

'उदय शंकर भट्ट ने' 'सागर लहरें और मनुष्य' में जाति विशेष की अर्थहीन स्थिति को आंचलिक संदर्भ में पूर्णप्रभावकता के साथ उद्घाटित किया है। इट्ठा जैसी निराश्रित मछुआरिनों का जीवन दरिद्रता की सीमा लांघ जाता है। यहां दो मुट्ठी भात के लिये ही नारीत्व लुटता है। घर में छाये नीरव अंधकार की भांति ही आजिविका विहीन बेकार लोगों का समस्त जीवनतिमिराच्छन्न हो उठा है। निराश और हताश इट्ठा कहती है कि ....'कोई काम तो मिलताई नई। आखा बररोंवा में काम के वास्ते मारा–मारा फिराय। पहले वंशी बोला कि तुम कू हमारे इदर आने का रत्नापन बोला।

1. फलावें : जय सिंह, पृष्ठ–14
2. वहीं पृष्ठ– 902

भय वंशी जबाब दे दिया। दो मुट्ठी चावल मांगने गया तो भोत मुश्किल से रत्ना का बोलने पर दियाय। केवल दो मुट्ठी। नमक भी नई दिया।'[1]

आजीविकाविहीन सर्वहारा का समग्र जीवन अभावग्रस्तता की छाया में पलता है। पशुओं से भी निकृष्टस्थिति में रहने वाले प्राणी की अकथनीय वेदनाको सहानुभूतिपूर्वक स्वतंत्रता परवर्ती साहित्य में उपन्यस्त किया गया है। 'मैला आंचल' में 'रेणु' ने आजीविका विहीन सर्वहारा की जीवनीय असंगतियों को सचेत सर्जनात्मक दृष्टिबोध द्वारा अवमूल्यित किया है। श्रमशील श्रमिक समुदाय आजीविका के अभाव में भयानक आर्थिक संकट झेलता है। उनके अन्तश्चेतन में अमराई के पेड़ों पर लगे सुस्वादु फलों की कल्पना का विम्ब नहीं उभरताए उभरता है एक कटु यथार्थ कि 'आम की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर जिन्दा रहना है।'[2] बेकारी की समस्या से विवश नगर सर्वहारा नैतिक अनैतिक धंधों का कुकृत्य करता है। फिर उसके आपराधिक जीवन का आरम्भ हो जाता है। समाज, राष्ट्र और विश्व की मानवता के लिये सिरदर्द पैदा करने वाली समस्याओं के मूल में अधिकाशंतः अनार्थिक स्थितियां ही हैं। वर्ग विषमता और सामाजिक विकृतियों की रोक थाम यदि समय रहते न हुई तो मानव समाज के अहित की निरन्तर सम्भावना उपस्थित है। मनुष्य की नैतिक शक्ति और विवेकवृति को स्थायित्व प्रदान करने के लिये सुनियोजित आजीविका की प्रवल आवश्यकता है। स्वातंत्रयोत्तर कथाकारों ने विशद रूप से इन समस्या संदर्भों को उभार कर इनके समाधान की और समाज का ध्यान आकर्षित किया है।

ऋण और ब्याज की समस्या से ग्रस्त सर्वहारा :

समुचित आजीविका विहीन सर्वहारा समाज अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में अक्षम रहता है। फलतः उसे ऋण और व्याज जैसी व्याधियां स्वतः मोल लेनी पड़ती हैं जिसमें उसका समग्र व्यक्तित्व ही स्वाहा हो जाता है। सर्व समर्थ शोषक वर्ग ही निम्नवर्ग का ऋणदाता भी है। ऋण और ब्याज की विसंगतियों से जीवन पर्यन्त संघर्षरत सर्वहारा की दारूण कथा को स्वातंत्रयोत्तर कथाकारों ने आर्थिक केन्द्र में रखकर विश्लेषित किया है।

ग्रामीण सर्वहारा जीवन का पारदर्शी बिम्ब उपस्थित करने वाली नागार्जुन की कृति 'बलचनमा' के समक्ष ऋण और ब्याज की समस्या भयावह रूप से उभरती है। पिता की मृत्यु के समय के लिये गये बारह रुपये के कर्ज का ब्याज भरते–भरते पूरा

1. सागर लहरें ओर मनुष्य : उदय शंकर भट्ट, पृष्ठ– 65
2. मैला आंचल : फणीश्वर नाथ रेणु , – 185

परिवार थक जाता है मूलधन की कौन कहे? तराजू और बाट के करिश्मे से तो मलआइन इन गरीबों की कमर ही तोड़ देती हैं। फूंदन मिसिर की विधवा कर्ज अदायगी के लिये धान लाती है तो बटखरा बदला हुआ पाती है। प्रतिवाद करने पर मलकाइन गरज उठती हैं.......'दुहाई गंगा मइया की। इतना ही नहीं नारी जीवनके मर्मघाती संदर्भ पर प्रचार करती हुई कहती हैं कि 'हम राड़ की मांग असले जनम में भी खाली रहे.... |'[1] इस दुरन्त समस्या से ग्रस्त सर्वहारा का प्रामाणिक और सजीव चित्रण 'बबूल' में उपन्यस्त हैं आर्थिक अधोगति का जीवंत परिदृश्य महेसवा के संदर्भ में उभरता है जहां माँ के क्रिया कर्म के लिये उसे मजदूरी में मिले एक बीघे खेत की फसल को बंधक रख देना पड़ता है।[2] 'पूरे साल की मजदूरी और खेत की पूरी पैदावार का अनुमान लगा कर बड़ी कृपा और उदारतापूर्वक उसके बाबने सचाइस रुपये दिये जिसका वह हल जोतता है।' कथाकार भारतीय समाज के मूल में स्थित आर्थिक विषमता की विद्रूपता को चित्रित करने के साथ सर्वहारा जीवन के चतुर्दिक संत्रास की स्थितियों को भी भलीभांति स्पष्ट कर देता है जहां मानव क्रीतदास बनकर जीवन यापन के लिये आज भी विवश है। सर्वहारा जीवन की मर्मस्पर्शिनी गाथा 'लोहे के पंख' में भी उपन्यासकार बड़ी तीक्ष्णता के साथ व्यंजित करता है। झगडू के परिवार को तो कर्ज भी बड़ी मुश्किल से बच्चा बाबू की सिफारिश पर गोपाल बनिया के यहां से मिलता है वह भी दादी और मां के द्वारा उसके सरपर आंचल रखकर कसम खाने पर ही । लेने से पूर्व की देने की विकट समस्या इनके समक्ष उपस्थित है। बच्चा बाबू का कहना है कि 'खाने के लिये तो ये सौ रुपये का महीना खा जायेंगे मगर देंगे कहां से? ये सिर्फ खाने ही के लिये तो जीते हैं।'[3] लिये गये कर्ज की अदायगी न होने भय का झगडू को इतना सताता है कि वह स्टेशन पर से ही जुड़ैया बुखार का बहाना बनाकर कंबल में छुपकर गांव आता है। फिर तो एक दिन वस्तुस्थिति का सत्य मालिक के समक्ष प्रगट हो जाता है और वह मोंगली चढ़ा कर अमानुषिक दण्ड पाता है।

राजेन्द्र अवस्थी की कृति 'सूरज किरन की छांव' में विदेशी मिशनरी द्वारा धार्मिक स्तर पर सर्वहारा वर्ग को आर्थिक प्रलोभनों द्वारा प्रताड़ित किया जाता है। निर्धन और निःसहाय भारतीय सर्वहारा धनाभाव में इन मिशनरियों से कर्ज के कुचक मे फंसकर अपने धर्म परित्याग से ही मुक्ति पाता है। चैतमा की निवासिनी रधिया वैगिन अपनी चौथी संतान के प्रसव के लिये मिशनरी अस्पताल आती है और इस रहस्य को बंजारी

---

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ– 25
2. बबूल : डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ– 69

के समक्ष खोलती है कि 'एक बार जबरन यहां ला दिया।'[1] कर्ज का बोझ उतारने की युक्ति को स्वतः स्वीकारते हुए कहती है कि आठ–दस बरस पहले मेरे ससुर ने चरच से करजा लिया था। वह मर गयाए करजा न पट सका। पटाता भी कैसे? बीस के चालीस जो हो गये। रोज–रोज का गोदनाए सहन से बाहर हो गया। एक दिन एक नरस ने कहाए एक लड़का क्यों नहीं दे देतीए सब करज पट जायेगा। बंजारी के पुनः पूछने पर स्पष्टीकरण देती हुई वह कहती है.........'और क्या करती रानीए खाने के लाले पड़े हैए करजा कहां से चुकाऊं। और फिर यह तो घर की खेती है,एक न सही.......... ।'[2] मानवीय संदर्भ में इस भयानक विसंगति का निराकरण कितना अमानवीय है। निर्धन सर्वहारा का इस घृणित पाशविक असंगति के कारण सर्वत्र शोषण होता रहता है। मानवीय भावनाओं को कुंठित करने वाली इस आपदा का समुचित निराकरण इनके पास नहीं है। घोर आर्थिक दुर्व्यवस्था जन्य इन विषमताओं के पाटों के मध्य पिसते सर्वहारा को अन्य अनेक विसंगतियों में जीना पड़ता है।

यंत्रीकरण से प्रभावित सर्वहारा :

वैज्ञानिक युग और बढ़ती हुई जनसख्या की यंत्रीकरण की दुहरी मार से सर्वहारा जीवन की अपूरणीय क्षति उठानी पड़ रही है। यंत्रीकरण और बेकारी का सम्बन्ध बड़ा गहरा है अल्प जनसंख्या वाले देशों के लिए जहां मंत्रीकरण वरदान सिद्ध हो रहा है। वहीं अविकसित जनसंख्या बहुल भारत के लिये यह अभिशाप प्रतीत हो रहाहै। मानव श्रम की कुण्डित करने वाली मशीनों ने गरीबों के मुंह कीरोटी छीन ली है। कुटीर उद्योगों के विनष्टीकरण से असंख्य मजदूर आज आजीविका विहीन हो चले हैं इस संदर्भ में दुखभोग की स्थिति को स्वीकारते सर्वहारा का सजीव आलेखन 'माटी के लोग सोने की नैया' में हुआ हैं। आधुनिक संयंत्रों के बाढ़ से उध्वस्त अजीविका के प्रति सामुहिक रूप से नवटोलिया के मछुआरे भयभीत है। गांव मे सरकारी ट्रैक्टर आता अवश्य है किन्तु ये सोचते है कि यदि आजीविका के अवलम्बन ये कास पटरे झौंआ आदि दो ही दिन में उधेड़ दिये गये तो लोग मजूरी कहां जाकर करेंगे?'[3]

अनिश्चित जीविका अर्थहीन परिस्थितियां और विषम विडम्बनाओं से त्रस्त सर्वहारा आज भी वैज्ञानिक युग की मान्यताओं से जुड़ नहीं पा रहा है। यांत्रिकता और तज्जन्य बेकारी का अनन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिसकी बहुत कुछ दुर्गति आज का भारतीय सर्वहारा भोग रहा है।

---

1. सूरज किरन की कावं : राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ– 73
2. वहीं पृष्ठ– 74
3. मांटी के लोग सोने की नैया : मायानन्द मिश्र, पृष्ठ–50

पूंजीपतियों द्वारा आर्थिक स्तर पर शोषित सर्वहारा की परिवर्तित मुद्रा :

अर्थ और भूमि सम्बन्धी अनेक असंगतियों का स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में व्यापक निदान होने पर भी सर्वहारा को विशेष लाभ नहीं मिला है। ग्रामीण सर्वहारा आज भी धनाधीशों से सर्वत्र संत्रस्त है। नागार्जुन ने अपनी बेलाग कलम से इस सत्य को बलचनम में उद्घाटित किया है—'छोटी जाति वाले जन बनिहारों के पास होता ही क्या है? बहुत हुआ तो दो चार धुर का डीहए दो एक मड़ैयाए एकाध बरकीए बाछी। मगर भैया इन कसाइयों के चलते वेचारों के पास यह सब भी नहीं रह पाता। नीलाम करा लेते हैं। कुर्क हो जाती है। अदालत उनकी हाकिम उनका थाना दरोगा उनका पुलिस उनकी गरीबों के लिये सिवाय लात जूता के और है ही क्या?' पूंजीपति और पूंजीविहीन के वृहद अन्तराल को इनकी परस्पर विपरीत स्थितियों को तथा आर्थिक विषमता के सत्य की कथाकार पूर्ण सत्यता के साथ उजागर करता है। वर्ग विषमता की निरन्तर बढ़ती हुई खाई समाज को विश्रंखलित किया है। 'रामदरश मिश्र' ने आर्थिक स्तर पर भूपति और भूमिहीनों के यथार्थ को पूरीतरह पहचाना हैं। 'जल टूटता हुआ' मे बाबू महीप सिंह ओर जगपतिया बदले हुए परिवश में दो आर्थिक छोरों पर खड़े हैं। एक स्वामी है दूसरा उसका पुश्तैनी सेवक एक अर्थवान है दूसरा अर्थहीन। फिर भी बदलती हुई मान्यताओं के झटके दोनों की वस्तु स्थिति में कितना अन्तर ला देते हैं कि इसे सहज ही जगपतिया के इस कथन में देखा जा सकता हैए जो अब आर्थिक विषमता की दूरयिों को मिटाने के लिये कटिबद्ध हो गया है मालिक महीप सिंह द्वारा यह कहने पर कि'.....खेत मेरा जोतेगा और नौकरी करने जायेगा अपने बाप की।' अनुर्वर चार बीघे खेत के एवज में पूरे परिवार के श्रम का स्वामित्व स्वीकारने वाले मालिक को ये अपनेजीवन के कितने ही कठोर यथार्थ कापरिचय क्यों न दें सामन्त वर्ग अपने मिथ्या दम्भ और आडम्बर में इनकी विवशता को अनुसुनी कर देता है। फलतः अपेक्षित प्रतिक्रिया सर्वहारा वर्ग में उभर कर ही रहती है जगपतिया भी कहता है कि 'खेत में कुछ होता ही नहीं है। हम दोनों भाई आप के यहां खटते हैं तो क्या खेत में अपने आप अन्न पैदा हो जायेगा? और कुछ होता भी है तो बाढ़ में क्या पहली बरखा ही में डुब जाता है। ताल में तो खेत दिया है।'

तने जूते की परवाह न करके मुक्त आर्थिक विद्रूपता का कच्चा–चिट्ठा खोल कर रखने वाला इस उपन्यास का जगपतिया नवयुग का ऐसा प्राणि है जिसकी आंखें

में नई रोशनी की चमक है। उसकी तल्खी में शतियों की शोषण गाथा अनुगुंजित है। आर्थिक स्तर पर होने वाले निमर्म दोहन के प्रति प्रबल विस्फोट के स्वर सामयिक साहित्य मे गूंज रहे हैं इसे ही लक्ष्य कर डा0 ज्ञान चन्द गुप्त ने लिखा है कि–'....भूमि सुधारों से ग्रामीण खेतिहर–मजदूरों में चेतना जाग्रत हो रही है। शहरो की मिलो? कोइलरी और कारखानों में काम कर संघर्ष की आग लिये अनेकों जगपतिया शहर मे गांव लौट रहे हैं और वे तथा उनसे प्रभावित अन्य गामीण मजदूर सामन्ती जमींदारों के अत्याचारों एवं अनाचारों का विकार बनान नहीं चाहते।'[1] समीक्षक बदले हुए परिवेश में सर्वहारा की परिवर्तित मुद्राओं के उभार की गहरी अभिव्यक्ति तो अवश्य करता है किन्तु अभिशप्तों की नियति आज भी इन्हीं समर्थ शासकों के पावों के नीचे है। इनका समग्र विद्रोह और विक्षोभ आर्थिक संदर्भ में विखर जाता है। छिटपुटा वर्ग संघर्ष तो उभर कर अवश्य सामने आया है किन्तु इनमें अधिकांशतः हानि सर्वहारा वर्ग को ही उठानी पड़ी है। सामए दामए दण्डए भेद द्वारा सबल पूंजीवादी समाज आज भी इनका समग्र शोषण करता जा रहा है और अन्नए वस्त्र दवादारू के अभाव में ये निरन्तर उखड़ते जा रहे हैं।

'अलग–अलग वैतरणी' में भी सर्वहारा की परिवर्तित मुद्रा का नया उभार प्रस्तुत है आर्थिक दोहन का समग्र आयाम ही शिथिल हो जाता है। आधुनिक चेतना से सुगबुगाते सर्वहारा की परिवर्तित अभिनव मुद्रा इन शब्दों में रूपायित है कि 'देखते–देखते करैता का पूरा माहौल बदल जाता है....... अब न तीज त्यौहार पर आसामियों की भीड़ की जुहार करती है और न कभी छावनी के द्वार पर रखा बड़ा सा परात नजराने के रुपयों से खनकता है।'[2] इन अनुमूल्यात्मक संदर्भो में जहां सर्वहारा की असह्य घुटन पीड़ाए शोषित अवस्था अभिव्यक्त है वहीं इस सत्य का आभास हो रहा है कि स्वतंत्रता पूर्व की सामाजिक आर्थिक विषमताओं की श्रृंखला की कड़ियां अब धीरे–धीरे टूटती जा रही हैं। आर्थिक शोषण के पूर्व आयाम टूटते हैं तो नई–नई विडम्बनायें साथ हो लेती हैं। गांव की परिधि से निकले सर्वहारा को नगरों में भी महाव्याधियें से छुटकारा नहीं मिल पाता है। 'लोहे के पंख'ए 'तीन पहिये'ए'दादर पुल के बच्चे'ए और 'टपरे वाले' कृतियों का सर्वहारा आर्थिक संदर्भ मे अन्यान्य विसंगतियों, विवशताओं और व्यर्थताओं के साथ उलझकर रह जाता है।

---

1. आंचलिक उपन्यास शिल्प और सम्बेदना : डॉ0 ज्ञानचन्द गुप्त, पृष्ठ–64
2. अलग– अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ–32

(ग) अर्थचक्र के सर्वोन्मुखी समस्यात्मक दृष्टिकोण :

उचित पारिश्रमिक की समस्याः

भारतीय सर्वहारा के समक्ष परिवर्तित परिस्थितियें मे परम्परागत पारिश्रमिक व्यवस्था का निर्वहन असम्भव हो गया है। गांवों का सामन्तवादी मनोवृत्ति वाला उच्च समाज अपने लाभ के लिये इस परम्परा को आज भी अक्षुण्ण रखना चाहता है। जब कि सर्वहारा समाज बदलते युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इसके विरोध में स्वर उभार रहा है। नगरों की पूंजीपति वर्ग भी वितरण की दूषित व्यवस्था से अपनी ही स्वार्थसिद्धि में लिप्त है। वस्तुतः उत्पादन और वितरण की अव्यवस्था और तज्जन्य विषमता के कारण अनेक आर्थिक विसंगतियां उद्भूत होती जा रही है। उत्पादित वस्तु पर अतिरिक्त मूल्य(सरप्लस वैल्यू) का स्वामित्व प्राप्त कर पूंजीपति वर्ग जहां अपने सुख सुविधाओं में निरन्तर वृद्धि करता है और पूंजी की गुणात्मक वृद्धि से अपनी स्थिति को सुदृढ़तर बनाता जाता है वहीं मजदूर सर्वहारा को अपने कठिन श्रम का पूरा–पूरा पारिश्रमिक प्राप्त न होने से सहज जीवन निर्वाह में आने वाली आर्थिक बाधाओं से पग–पग पर संघर्षरत होना पड़ता है।

अतिरिक्त मूल्यवादी पद्धति ने ही श्रमिक के श्रम का शोषण इस सीमा तक किया है कि वह सर्वहारा की स्थिति तक पहुंच गया है। गांवों में पारिश्रमिक की परम्परागत व्यवस्था बड़ी विषम है। सर्वहारा की आर्थिक समस्यायें इससे और भी दुरूह हो उठी हैं। मार्क्स ने सर्वहारा को इस पूंजीवादी वर्तमान अर्थव्यवस्था से मुक्ति दिलाने के लिये अतिरिक्त मूल्यवाली प्रणाली को समूलतः उच्छिन्न करना अनिवार्य माना है।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने सर्वहारा वर्ग की अनार्थिक स्थितियों के मूल में अपर्याप्त पारश्रमिक व्यवस्था को भी उत्तरदायी माना है। तथा तत्सम्बन्धी असंगतियों के समस्यात्मक कोणों का चित्रण अपनी कृतियें में किया है।

सर्वहारा वर्ग की समस्याओं के द्रष्टा नागार्जुन ने गांव की परम्परागत चिन्तन पारिश्रमिक व्यवस्था को बलचनमा में रेखांकित किया है। जहां दिन भर काम करनेपर 'कच्ची तौल से तीन सेर खेसाड़ी या जौ या मडुआ मिलता वह भी घुना हुआ।'[1] आर्थिक विषमता का इतना बड़ा अनुपात आज भी गांवों में उपस्थित है जहां काटे गये 32 बोझे अन्न मे एक बोझ का स्वामी ही श्रमिक बन पाता है। आज आर्थिक विकास विकासशील

---

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–27

राष्ट्र का मेरूदण्ड बन चुका है राष्ट्र के क्षिप्रगतिक चतुर्दिक विकास के लिये अनेको विशालकाय योजनायें कार्यन्वित हैं वहीं भारतीय श्रमिक कोए देश की अर्थव्यवस्था को मुट्ठी में बन्द करने वाले संप्रभुओं से आर्थिक मोर्चे पर सर्वत्र संत्रस्त होना पड़ता है। क्या गांव? क्या नगर? सर्वत्र उचित पारिश्रमिक के अभाव में यह वर्ग टूटता जा रहा है।

गांव से दूर नगर 'नदी फिर बह चली' की परबतिया अपने श्रम के बल पर अपने और अपने बच्चों का भरण पोषण चौका बर्तन करके करना चाहती है किन्तु महीने भर भर खप कर काम करने के बाद भी मालकिने 'अपने मन में मोसहरा नहीं देती है।'[1] 'कई दिनों से भूखी जर्जर शरीर वाली यह नारी मालिक के आंगन मे गिर पड़ती है तो गृहस्वामी स्वामिनी से इसे तत्काल निकाल देने की बात तो अवश्य करता है किन्तु महीने के पारिश्रमिक के लिये दो–चार दिन बाद बुलाता है। कितनी करुण स्थिति है–तनख्वाह मिलती नहीं, बनिया उधार देता नहीं और अपने समाज की ही अन्य नारियों की भांति वेश्यावृति को स्वीकार न करने वाली परबतिया आर्थिक विद्रूपता से टूट जाती है। मगर उसे रास नहीं आता और वह गांव लौट जाती है। पारिश्रमिक विषयक कटु सत्य की एक झलक 'धरती धन न अपना' में मिलती है। जहां बाबा फनू इस यथार्थ को व्यक्त करता है कि 'मैंने भी जिन्दगी में कोशिश तो बहुत की.दिन–रात मेहनत की तड़के खेतों मे काम किया । दिन में रस्सियां बनाईए शाम को घासखोदकर बेचा। रात को भी कहीं मजदूरी का काम मिल गया तो नींद खराब करके कर लिया लेकिन पक्का मकानबनाने का अरमान पूरा न हो सका। गांव में मेहनत तो हैए कमाई नही।'[2]

अहर्निश अनवरत श्रम के प्रतिफल में इनकी एक भी आकांक्षा पूर्ण नहीं हो पाती है। उपन्यासकार ने इस मार्मिक यथार्थ को स्वाभाविक शब्द संयोजना द्वारा अभिव्यक्त किया है अकिंचनता से इन्हें त्राण कहां? सबल और समर्थ लोग श्रम का निरन्तर शोषण करते रहते हैं और ये भूखे पेट की विवशता लिये सब कुछ सहने को बाध्य होते रहे हैं।

शगाफ भरने वाले मजदूरों को तन दिहाड़ियों की मजदूरी नही मिलती है तो इनका नेता काली हरनाम सिंह से पूछता है कि 'जो आदमी रोज का रोज कमा कर खाता है उसे तीन दिन मजदूरी न मिले तो वह कहां से खायेगा? हरनाम सिंह अपशब्दों द्वारा प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि 'कोई दिहाड़ी नहीं मिलेगी उठो काम करो वरना मार–मार कर एक–एक का सिर तरबूज के खप्पर जैसा बना दूंगा।'[3]

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–265
2. धरती धन न अपना : जदीश चन्द्र, पृष्ठ–51
3. वहीं पृष्ठ – 269

जोर जुल्म के बल पर बेगार कराने वाले जमींदारों के समक्ष इनकी न्यायोचित मांग भी दब जाती है। इनका विरोध सफल नहीं हो पाता और भूखे मरने की स्थिति मे ड़ेढ़ दिहाड़ियों के पैसे पर ही ये समझौता कर लेते हैं। डा0 गणपति के शब्दों में, "भले ही हम मार्क्स के विचार धारा से शत प्रतिशत सहमत न होए किन्तु इतना तो सभी स्वीकार करते है कि श्रमिक वर्ग को पूरा पारिश्रमिक मिलना चाहिएए चाहे मजदूर की गरीबी–अमीरी में न बांटी जाय। किन्तु अमीरों की अमीरी तो मजदूरों में बांटनी चाहिए।[1]" डॉ0 यावेन्द्र चन्द्र शर्मा का कहना है कि 'सर्वहारा के उत्पीड़न के मर्म को समझकर दुनिया के मजदूर एक ही नारा बुलन्द करने वाली यह जनवादी संस्था एक दिन अर्थ की विषमता मिटाकरए विश्व में मजदूरों एवं किसानों की सार्वभौतिकता सत्ता स्थापित करने में अवश्य सफल होती है[2]।"

नित नूतन वैज्ञानिक आविष्कारों ने उत्पादन के विभिन्न यांत्रिक संसाधनों का विकास कर औद्योगिक और व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के माध्यम से पूंजीवादी प्रभुत्व को बढ़ावा दिया है जिसके फलस्वरूप गरीब सर्वहारा अपनी दैनिक समस्याओं से निरन्तर टकरा रहा है। चाहे वह गांव का कृषि से सम्बद्ध श्रमिक हो या नगर का औद्योगिक प्रतिष्ठानों से सम्बद्ध मजदूर। पारिश्रमिक सम्बन्धी विसंगतियां इन्हें हरस्थान पर प्रपीड़ित कर रही हैं।

वृन्दावन लाल वर्मा के 'कभी न कभी' में देवजू और लछमन बलवन्त नगर में मजदूरी तो करते हैं किन्तु मजदूरी नहीं पाते। भरपूर परिंश्रम करने वाले देवजू को कार्य निरीक्षक यह कह कर निकाल देता है कि 'देवजुआ बड़ा बदमाश है सारे दिन लड़ा करता है कल से इसका काम बन्द और आज से मजदूरी जब्त।' पारिश्रमिक तो निरीक्षक टका सा जबाव देकर डकार ही जाता है बल प्रयोग के लिये मुक्के भी तानता है। प्रस्तुत संदर्भ इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अज्ञान अशिक्षिति, निरीह सर्वहारा अपने श्रम का पूरा–पूरा प्रतिदान न पाने से जीवन भर श्रमशील रहने पर भी सामान्य सुख सुविधाओं से भी वंचित रहते हैं। गांव से नगर की ओर दौड़ते इन निरुपाय लोगों की स्थिति उस समय और दयनीय हो उठती है जब नगर में आकर भी उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता है और ये इन स्थितियों के विरोध विक्षोभ के फलस्वरूप वर्ग संघर्ष में सर्वाधिक हानि इन्हें ही उठानी पड़ती है।

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास– डॉ0 गनपत चन्द्र, पृष्ठ– 757
2. एक और मुख्यमंत्री – डॉ0 यावेन्द्र वन्द्र शर्मा, पृष्ठ– 82

बाल श्रमिकों की समस्या :

अर्थशून्य सर्वहारा के समक्ष आर्थिक विभीषिका इतने जटिल रूप में खड़ी है कि इसके निदान के लिये वह इस रूप में प्रयत्नशील होता है कि अपने अबोध शिशुओं तक को बड़े–बड़े काम संभालने के लिये असमय में ही कार्यरत कर देता है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले राष्ट्र के सम्मुख इन बाल श्रमिकों की समस्या भयावह रूप लिये खड़ी हैं। 'बाल दिवस' के अवसर पर धर्मयुग द्वारा बाल श्रमिकों का सर्वेक्षण उदयन शर्मा द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिससे उनकी समस्याओं पर कुछ प्रकाश पड़ता है। भारतीय बाल श्रमिक प्रमुख रूप से कृषि से सम्बद्ध है। अत्यन्त अल्पायु से श्रम से जुड़ा बाल श्रमिक जीवन के सबसे बड़े अभिशाप अशिक्षा को अपना लेता है। दूकानए उद्योगए वर्कशापए हस्तकलाए उद्योगए होटलए निर्माण स्थलए चाय के स्टालों और अन्य फुटकर स्थानों पर काम करने वाले शहरी बाल श्रमिक में अपराध वृद्धि के परिवर्तित होने की पर्याप्त सम्भावना रहती है जबकि गांवों के नैगर्सिक वातावरण में परिवार के साथ रहने वाला बाल श्रमिक कतिपय दुगुणों से बचा रहता हैं उदयन शर्मा ने इस समस्या को सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे परखा है इन्होंने लिखा है कि बाल मजदूर की समस्या को आप सामाजिक परिप्रेक्ष्य से अलग करके नही देख सकते है। तेजी से बढ़ती आबादी और उससे उत्पन्न समस्यायें बच्चों को काम करने के लिये मजबूर करती हैं। कहीं यह काम स्वावलम्बन हैं, तो कहीं बेगार।'

वस्तुतः 'बाल श्रमिक' का यथार्थ बड़ा निरुप है नगर स्तर पर इनका शोषण और भी वीभत्स है वयस्कों के स्थान पर ये बाल मजदूर सस्ते पड़ते है अतः मालिक इन्हें इस दृष्टि से पसन्द करता है और मां–बाप भी अल्पायु में ही आर्थिक उपलब्धि के कारण इन्हें श्रमरत कर देते हैं। देश के लगभग डेढ़ करोड़ से ऊपर ही बच्चे अपनी जीविका के लिये मेहनत मजदूरी करने को विवश हैं। बड़े शहरों में ये अनेक अवैध कार्य व्यापार भी करते हैं। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में भारतीय बाल मजदूरों की समस्या भी उभरकर आयी है।

'बलचनमा'. का बालचन अल्पायु में ही परिवार की आर्थिक विसंगतियों के कारण मालिक के द्वार पर पहुंचा दिया जाता है। दादी के आद्र कथन पर कि 'अभी खेलने खाने के दिन हैं इसी गम्य से जांत होगी तो कलेजा सूख जायेगा।'[1] माँ का यथार्थाग्रही स्वर मुखर हो उठता है कि 'अभी से पेट की फिकिर नहीं करेगा तो बतहस हो जायेग'[2]

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ –6
2. वहीं पृष्ठ– 6

दादी की अस्वीकृति होने पर भी माँ उसी क्रूर कर्मी स्वामी के द्वार पर बहतरा होने के भय से या पेट भरने के लिये भैंस चराने का कार्य दिला देती हैं। 'बबूल' में भी बालश्रमिक की दीन हीन जीवन स्थिति का रूपांकन हुआ है। महेसवा की माँ दरपनी आजीविका की खोज मे स्वयं निकलती है तो छह वर्षीय अबोध पुत्र ग्रीष्म की तपती दुपहरी में जलावन की खूंटियां तोड़ता दिखाई पड़ता है। स्वतंत्र भारत में शिक्षा का प्रसार–प्रचार निश्चय ही हुआ किन्तु कहां पेट भरने के लाले बड़े हुए हैं तथा तन ढकने को दो विते की लंगोटी भी नहीं मिल पाती इनके समक्ष शिक्षा और संस्कार की योजना हास्यास्पद ही सिद्ध होती है।

आधुनिक भारत की बुभुक्षित पीढ़ी अन्न वस्त्र के अभाव में विलख रही है उसके अपने ही शब्द इस सत्य को दुहरा रहे हैं कि 'बम्बई में हम प्रतिदिन विष मिली हुई चाय पीते हैं।'[1] फटी मैंली कुचैली बनयाइन[2] इन सर्वहारा बालकों की हिरासत है। अर्थाभाव में शिक्षा का प्रसंग ही कहां उभर पाता हैए विक्टरए शरीफए घोमे जैसे बालक अशिक्षित रह कर कुत्सित व्यापारों के माध्यम से इस राष्ट्र के भविष्य को धूमिल कर रहे है। ये सर्वहारा वर्ग के बाल श्रमिक परिवेशीय असंगतियों मे इस तरह लिप्त हैं कि 'क्राइस्ट सेव यूअर सोल' कहते–कहते जेब कटी जैसा घृणित कुकृत्य कर बैठते हैं। शिक्षालयों के स्थान पर ये ह्विरकी कालेज जाने में अपनी शान समझते हैं।1

महानगरीय गलाजत और घुटन भरी जिन्दगी में आर्थिक असमानता विष घोल रही है। एक और करोड़पतियों, अरबपतियों की विशाल घन सम्पदा है तो दूसरी ओर चन्द रोटी के टुकड़ों के लिये तरसते सर्वहारा के विशाल जन समूह। बेकारीए चोरी और अवैध क्रिया व्यापारों मे आकण्ठ निमग्न सर्वहारा का प्रामाणिक चित्रण प्रस्तुत कृति में उपन्यस्त है। 'उदयन शर्मा' ने भी अपने निबन्ध मे इस महानगर के बालश्रमिकों के विषय में लिखा है कि 'जिस सीमा तक यहां के बच्चों का शोषण होता हैए बेमिसाल है। यही कारण है कि बम्बई में बाल अपराध तेजी से बढ़ रहे हैं।'[2] आर्थिक लिप्सा इस सीमा तक बढ़ गई है कि छोटे–छोटे अबोध बालक अपंगए विरूप और विकलांग बना दिये जाते हैं। यही मानव समाज इन निराश्रितए निरीह बालकों की टांगें तोड़कर या आंखें फोड़ कर, क्योंकि ये भिखारी बच्चे बहुत कमाते हैं। सदा सर्वदा के लिये मानवता का कलंक बन कर जीवन जीने के लिये बाध्य किये जाते हैं। इस कटु यथार्थ की प्रस्तुति

---

1. दादर पुल के बच्चें : कृश्चन्दर, पृष्ठ – 9
2. वहीं पृष्ठ – 10

द्वारा कृतिकार अत्याधुनिकता को स्वीकारने वाले नगरों की बहुमूखी समस्याओं की ओर संकेत करता है।

आजादी के 54 वर्षोपरान्त भी बाल श्रमिको की समस्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। समय–समय पर प्रशासन द्वारा इनके लिये विभिन्न कानून बनते रहे हैं यथा 'एम्प्लायमेन्ट आव चिल्ड्रेन ऐक्ट 1948ए द शाप्स एण्ड कमर्शियल ऐक्टए1947 द फैक्टरीज ऐक्टए1948ए द प्लांटेशन लैवर ऐक्टए 1951ए दमाइंस ऐक्टए1952ए द मर्चेन्ट सीमेनशिपिंग ऐक्टए1958 द मोटर ट्रान्सपोर्ट वर्क्स ऐक्टए 1961ए बीड़ी एण्ड सिंगार वर्कर्स कण्डीशंस आव एम्प्लायमेन्ट ऐक्टए1966ए द रेडियेशनप्रोटेक्शन रूल्सए1971'ए किन्तु ये कानून बाल मजदूरों की वास्तविक स्थिति को सुधारने में अक्षम रहे। इस देश की स्थिति को देखते हुए कानूनी तौर पर अल्पायु और अविकसित बालकों पर रोक लगाने के विषय में भरत सरकार के राष्ट्रीय जनसहयोग एवंबाल विकास संस्थान ने 25 से 28 नवम्बर,1975 तक हुये अधिवेशन मे अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए समाज कल्याण मंत्रालय को यह सुझाव दिया कि राष्ट्र के वर्तमान आर्थिक विकास स्तर को देखते हुएबाल मजूरों पर प्रतिबन्ध लगाना उचित नहीं है। रोजगार सम्बन्धी उन्नयन के संदर्भो पर कानूनी रूप से सुधार की घोषणाओं से इनकी वस्तु स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नही आया है। स्वातंत्र्योत्तर कृतियों मे इनकी समय सापेक्ष गतिविधियों की झलक अवश्य प्राप्त होती है। जहां वे मालिक से कर अपने ही परिवार वालों से शोषित होते रहते हैं।

सर्वहारा की स्थिति तक पहुंचता निम्न मध्यमवर्ग :

इस पूंजीवादी सम्यता ने आर्थिक स्तर पर निम्नमध्यवर्ग को अनन्त यातनायें सौपी है। सामाजिक मान मर्यादाए कुलीनताए अल्पभूमिए आजीविका विहीनता तथा अतृप्त इच्छाओं के त्रास से कुंठित जीवन ने इनके समक्ष विषम जीवन स्थितियों के यथार्थ को अनावृत किया है। ग्राम भिक्षिक उपन्यासों में निम्न मध्यवर्ग की विषम स्थितियोंका आद्र आलेखन' रामदरश मिश्र'ए 'शिव प्रसाद सिंहए'भैरव प्रसाद गुप्त'ए "विश्वम्भर नाथ उपाध्याय" आदि की कृतियों में हुआ है। यहां गांव का यह वर्ग आर्थिक संगतियों असंगतियों के कारण सर्वहारा की स्थिति तक पहुंच गया है। 'पानी के

प्राचीर' में औपन्यासिक कथा फलक पर उपन्यासकार अंचल विशेष की समग्र अर्थचक्रीय विभीषिकाओं का तीक्षण सम्बेदनशीलं चित्रण प्रस्तुत करता है जिसमें धनाभाव ने कुलीन और सभ्य परिवार को सर्वहारा की अधोगति तक पहुंचा दिया है।

आर्थिक अभाव का संत्रास इतना गहरा है कि इस परिवार का प्रबुद्ध सुसंस्कृत और विवेकशील स्वामी सुमेश इतश्री होने के कारण पग–पग पर मानमर्दित होता रहता है। सुमेश के पौरुष की गांठों को तोड़ने वाली स्थितियों का विरोधाभास बड़ा गहरा है। घर में घुस कर मारने की धमकी देने वाले को तो वे कुछ नहीं कह पाते क्योंकि मुखिया उनका ऋण दाता है किन्तु खण्डित दर्प वाली नारी की मुखर प्रतिवादिता को यह कह कर चुप कराने के लिये बाध्य हैं कि अगर तू नहीं चुप रहोगीए मारते–मारते खाल उधाड़ लूंगा।'[1] ऐसे ही परिवार का सदस्य नीरु माता–पिता की दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण........गन्दे पुराने अंगोछे में एक और सत्तू–पिसान की गठरी बांध करनंगे पैर जलती धूप में आठ आने रोज परमिल की नौकरी करनेके लिये चल पड़ता है।'[2]

पाण्डेपुरवा' ग्राम उन भारतीय ग्रामों का प्रतिनिधित्व करता है जहा' की अधिकांश जनता विगत जीवन के समस्त संदर्भों से कट कर आज सर्वहारा वन गयी है। दुर्भिक्ष ग्रस्त अंचल की आर्थिक विघटन शीलता के कारण निम्नवर्ग गांव में निस्तार न देख कर नगरोन्मुख होने लगता है वही टीसुन कल्लू पान्डेयए रग्घू बाबा जैसे लोग परदेश में भिक्षटन के लिये निकल पड़ते हैं।

सम्पूर्ण गांव की सामाजिक आर्थिक स्तर पर हासोन्मुख हो चली है। गांव की इस अधोगति के मूल में अर्थवता भी है जिससे सवर्ण असवर्ण उच्च और निम्न सभी समान रूप से प्रतहित होते है। 'माटी की महंको' 'जल टूटता हुआ' 'अलग–अलग वैतरणी' आदि कृतियों में थी निम्न मध्यवर्गीय समाज है। इस सामयिक युग सत्य की सफल अभिव्यंजना स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों ने अपनी कृतियों में किया है।

आर्थिक अभाव और सर्वहारा नारी की टूटती मूल्यवत्ता :

यथार्थवादी जीवनपरक मूल्यों का उद्घाटन करने वाली स्वातंत्र्योत्तर कृतियों में आर्थिक अभाव में टूटती सर्वहारा नारी की आत्मपीड़ा का स्वर अत्यन्त मुखर है। ग्राम तथा नगर भिक्षिक दोनो की कथानकों में आर्थिक अभावजन्य विसंगतियों से संत्रस्त

---

1. पानी के प्राचीर : राम दरश मिश्र, पृष्ठ– 32
2. वही पृष्ठ– 122

सर्वहारा नारी खंडित मूल्यवत्ता के संदर्भ पूर्ण प्रामाणिकता के साथ सुंगुंफित है। जाने या अनजाने नारी जीवन का अभिशाप बटोरने वाली इन नारियों की आंतरिक स्थिति कितनी द्वन्द्वपूर्ण और द्विघाग्रस्त है इसका पारदर्शी अंकन हिमांषु श्रीवास्तव की कृति 'नदी फिर बह चलीं' में उपलब्ध होता है।

परम्परागत नैतिकता से जुड़ी किन्तु आर्थिक स्तर पर टूटती परबतिया की दारूण अन्तर्दशा की अभिव्यक्ति के साथ–साथ कृतिकार इसी वर्ग की दूसरी नारियों का चरित्र संयोजन भी पूर्ण प्रभावक्ता के साथ करता है जिनके तेवर आधुनिक सुख सुविधाओं की ललक में बदल जाते है। जनक्रिया और बिन्देसरिया की माई के कथोप कथनोंए व्यंग्य पर संधानों से ऐसे तीर छूटते है जो विद्रुपताओं के रिसते वर्ण को उधेड़ कर रख देते है उन्हीं की वक्रोकित से इनकी खण्डित मूल्यवत्ता का परिचय प्राप्त हो जाता है। कहीं ये अपने आप आर्थिक आकर्षण में टूट रहीं है। कहीं आर्थिक अभाव में तोड़ी जा रही हैं।

'पानी के प्राचीर में' जमींदार गजेन्द्र सिंह का सिपाही आर्थिक अभाव में लगान न देने के कारण झिगुंरिया चमार की छान तो उजाड़ता ही है वासनोन्मुख होकर उसकी युवा पत्नी के मासिक स्थल पर लाठी के हूर से धक्का देकर गिरा देता है। आर्तनाद करती सर्वहारा नारी का मूल्य इन नरपशुओं की दृष्टि में मात्र तोड़ने ही वाला है। 'धरती धन न अपना' में आर्थिक अभाव में सवर्ण समाज द्वारा किस प्रकार इन नारियों की मूल्यवत्ता को खंडित करने का प्रयास किया जाता है इसका रोचक प्रसंग प्रस्तुत है। पंडित संतराम रक्खी की कलाई पकड़ कर कहता है 'रक्खिये तू मेरा काम कर देए मै तूम्हें नया सूट ला दूंगा और साथ ही पैसे भी दूंगा।'[1] उच्च और समर्थ समाज अपनी सम्बृद्धि के बल पर इन निरीह बेजुवान लोगों की सबसे बहुमूल्य वस्तु का विनिमय करना चाहता है। कहीं–कहीं आर्थिक आकर्षण में फिसलती सर्वहारा नारियों की स्खलित नैतिकता के प्रसंग भी उभरते है।

सूरज किरन की छांव की बंजारी आर्थिक मूल्यों में अपने नैतिक मूल्यों को समाहित कर द्वन्द्वपूर्ण स्थिति में इस वस्तु सत्य को निरूपित करती है कि दो रूपये पाना तो दूर देखना हराम है आज जिन्दगी में पहली बार देखने में मिले है तो फेंके नहीं गये।[2]

---

1. धरती धन न अपना : जगदीश चद्र, पृष्ठ–246
2. सूरज किरण छांव : राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ –8

कथाकार अभावग्रस्त व्यक्ति की अन्तश्चेतना में संतरित मनोवैज्ञानिक संशक्ति की द्विघापूर्ण स्थिति के अपरिभाषित सत्य को कुशतालापूर्ण अभिव्यक्ति करता है। अर्थलोलुपता में सर्वहारा स्थिति से ऊपर उठती हुई 'कस्तूरी' के नगर नार की साधारण व्यवसायिनी चम्पा सम्बृद्विशीलता की ओर पग बढ़ाती हुई धान माँ बन जाती है और मातृहीना तरूणी डोली के पवित्र कौमार्य को ट्रक ड्राइवरोंए खलासियों और नगर निवासियों की कुदृष्टि में लुटाने का षंडयंत्र रचने लगती है तो सम्वेदनशीत डोली अपने मूल्यों की रक्षा में पृथक आश्रय खोज लेती है।

फणीश्वर नाथ रेणु की कृतियों में सर्वहारा नारी की टूटती मूल्यवत्ता के विविध संदर्भ उभरे है। मैला आंचल की फुलियाए फुलिया की माँ रमजूदास की स्त्री के प्रसंग में एक नया परिदृश्य उभरा है जहां इस वर्ग की नारी अपनी मूल्यवना को स्वतः खो रही है रामदरश मिश्र की कृतियों में भी नारी मूल्यवत्ता के खण्डित संदर्भ विंदिया चमाइनए लवंगीए डलवाए फुलवा के प्रसंग में पूर्ण विविघता के साथ उभरे है। समर्थ अभिजात वर्गो द्वारा छली गई इन नारियों का आक्रोश कहीं–कहीं अपनी स्वीकारोक्ति से धूमिल पड़ गया है। मांटी की मंहकों की इंजोरिया के परिप्रेक्ष्य में घटित संदर्भ इनके टूटन क्रम की मनोवैज्ञानिक कथा करते है।

भैरव प्रसाद गुप्त की सर्वहारा नारियां की टूटती मूल्यवता के लिये सवर्ण अभिजात समाज ही उत्तरदायी है। 'मशाल' की सकीना बेला बन कर अनचाहे ही अपना सर्वस्व लुटा बैठती है तो "सत्ती भैया का चौरा" की बसमतिया की स्थिति कुछ और होते हुए भी विषम है।

कथाकार शतियों से सुविधाहीन अर्थवंचित सर्वहारा समाज की नारियों का मूल्याकंन यथार्थबोध से अनुप्राणित होकर करता है। अच्वे भोजन वस्त्र और अप्राप्य आभूषणों के लोभ से सुनहरी कल्पनाओं में विभोर होते जीवन का दिवास्वप्न तक टूटता है जब आर्थिक प्रलोभनो से कहने वाला उच्च्व समाज इनकी मूल्यवत्ता को खण्डित कर टका सा जबाब दे देता है जीवन पर्यन्त भरण–पोषण का आर्थिक सम्बल देकर गन्ने बसमतिया का नारित्व लूटता रहता है उसके इस आश्वासन पर कि जल तक वह जीता रहेगा उनका खर्चा चलाता रहेगा।[1]? बसमतिया अपना अगाघ विश्वास और यौवन उसे सौंप देती है किन्तु उस अभागिन को यह क्या पता कि आर्थिक मापदण्डों से उसकी समस्त मनोभावनाओं को तौलने वाला यह बड़ा आदमी कभी भिखरिया को मात्र पांच

1. सती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ–562

रूपये देकर यह कह कर भेज देगा कि "समझा देना इन्हें अच्छी तरह कि वे कभी जमाने का रूख न करें[2]।"

प्रस्तुत चित्रणों द्वारा एक बात स्पष्ट है कि भारतीय समाज में निम्न वर्गीय सर्वहारा नारी अपनी टूटती मूल्यवत्ता के लिये बहुत कुछ आर्थिक सदर्भों पर अवलम्बित है। आर्थिक विषमता ने उनके सामाजिक जीवन को हर स्तर पर प्रभावित किया है। उनका अन्तर वाह्य समग्र रूप से इस अभाव में छला जाता है।ए कहीं विवशतावश और आधुनिकता की चकाचौधं के आग्रहवश। आदिवासियोंए पिछड़ी जातियों और आधुनिकता से कटे जीवन को रूपायित करने वाली कृतियों के नारी पात्रों में आर्थिक द्वन्द्व और तज्जन्य चारित्रिक विसंगयिां इस सत्य की ओर इंगित करती हैं कि आर्थिक अभाव में भारतीय सर्वहारा वर्ग की नारियां परम्परागत् लीक से हट कर वर्तमान जीवन की दूसरी अनेकशः संगति असंगतियों से जुड़ती जा रही है।

कृषि व्यवस्था की आर्थिक समस्याएं :

भारतीय सर्वहारा जीवन के आभावों की हिन्दी उपन्यासों में चित्रांकित श्रृंखला बड़ी लम्बी है। अभाव ही अभाव में जीते सर्वहारा की समाजिक प्रतिष्ठा राजनैतिक स्थिति और सांस्कृतिक सम्बृद्वि का प्रश्न ही कहा उठता है। सबसे अधिक कृषि संदर्भों से जुड़े सर्वहारा की स्थिति बड़ी दयनीय है। उसके जीवन के बहुमुखी क्रिया व्यापार अर्थशून्यता के कारण ठप्प पड़े हुए है। भूमिहीन सर्वहारा के समक्ष सबसे बड़ी समस्या भूमि की है यदि किसी के पास रंचक भूमि भी है तो खादए बीजए पानी और आधुनिक संसाधनों की शून्यता उसकी प्रगति में बाधा बन कर खड़ी है।

भूमि सुधार के विभिन्न कार्यक्रम यथाए जमींदारी उन्मूलनए चकबन्दीए सहकारिता इत्यादि में समर्थ समाज आर्थिक स्तर पर उसे गहरी शिकस्त देता है। 'रीछ' में गरीब छोटे किसान अपनी समस्या की गहराई को बड़ी यथार्थ के साथ उद्घाटित करते हैं कि 'चकबन्दी में जवाहरलाल की सरकार ने सहार की खेती करने के लिये तैयार किसानों का चक खराब जमीन में बना दिया है। अब क्या होगा सवाल यह है?'[1] बड़े—बड़े भूस्वामी आर्थिक उत्कोचों के बल पर सरकारी मशीनरी से समझौता करके इनकी पुश्तैनी भूमि को हड़प जाते हैं। ग्रामभिक्षिक कथानकों में यह तथ्य पूर्ण प्रभावकता

के साथ उपन्यस्त हुआ है। मधुकर सिंह के 'सबसे बड़ा छल'ए 'रेणु' के 'मैला आँचल' और परती परिकथा में भूमिहीन सर्वहारा की भूमिविषयक आन्तरिक विसंगतियों का प्रचुर आलेखन हुआ है।

भूदानए चकबन्दीए सहकारिता इत्यादि से समर्थ समाज की लाभान्वित हुआ है। छोटे गरीब किसानए भूमिहीन और कृषि से जुड़े श्रमिकों की स्थिति निरन्तर गिरती जा रही है। अनुपजाऊ भूमि और कृषि पर पड़ने वाले व्यय भार इस महंगाई में छोटे किसानों के लिये भारी विपत्ति बन गया है। कृषि की व्यवस्था में कहीं वे कर्ज में आकण्ठ डूब जाते हैं तो कहीं वैज्ञानिक संसाधनों की बाढ़ और क्रमावमूल्यन से टूटने लगते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर कथा कृतियों में भारतीय सर्वहारा की स्थिति अन्ततोगत्वा इस रूप में उभरती है कि उसके पास मात्र साढ़े तीन हाथ के शरीर के अलावा अपना कहने को कुछ भी नहीं बचता।

(घ) भविष्योन्मुखी का आर्थिक क्षितिज :

नूतन विकास योजना संदर्भ और सर्वहारा के सर्वोन्मुखी उन्नयन की नई दिशायें:

पराधीन भारत की स्वतंत्रता के बाद सन् 1947ई0 में गृह उद्योगो को राष्ट्रीय स्तर पर मिली प्राथमिकता ने सामान्य जनजीवन के विकास की रूपरेखा स्पष्ट की। किन्तु दासता के बृहत्त अन्तराल और तज्जन्य विसंगतियोंए यथा भ्रष्ट प्रशासनिक व्यवस्थाए कृषि व कुटीर उद्योगों की अपेक्षा उत्पादन और वितरण की विषम व्यवस्थाए राष्ट्रीय विभाजनए अकालए मंहगाइए भ्रष्टाचारए जनसंख्या वृद्धि और मद्रा स्फीति से संघर्षरत देश की आर्थिक व्यवस्था योजना के समुचित रूप से फलित करने में अक्षम रही।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि विकास को मिली प्राथमिकता औद्योगिक प्रगति की होड़ में दब सी गई। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के बाद भी कृषि जगत आनुपातिक उन्नति के संदर्भ में बहुत पीछे छुट गया। फलतः सुधार और विकास तो यहां नगरों और औद्योगिक प्रतिष्ठानों में होता रहा सामान्य जन जीवन जो अधिकाशंतः कृषि व्यापार से

जुड़ा है विकास का अल्पांश ही ग्रहण कर सका। फिर भी गांवों के पुनर्निमाणए सामुदायिक विकास योजनाए सहकारी समितिए भूमि सुधार एवं कुटीर उद्योगों व धंधों की प्रतिष्ठापना व प्रगति इत्यादिसे बहुत कुछ बदलाव आया अवश्य किन्तु इस दिशा में लाभ उन्हीं का हुआ जो समर्थ थे। असमर्थ और असहायों के हाथ तो विकास की निरसारता ही लगी। सरकार ने अगस्त सन् 1991 ई0 में लघु, अतिलघु तथा ग्रामीण उद्योंगो के विकास के लिए एक नई नीति की घोषणा की। कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए कृषि उत्पादकता को बढ़ाना आवश्यक होगा।

विकास योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में सर्वहारा जीवन के सर्वतोमुखी उन्नयन का आलेखन वृन्दावन लाल वर्माए रेणुए मायानन्द मिश्र और धूमकेतु की रचनाओं में उभरा है।

स्वतंत्रता के प्रथम दशक में 'रेणु' द्वारा सृजित 'परती–परिकथा' निःसन्देह विकास और निर्माण की सुखद संयोजनात्मक कृति है। रेणु ने योजना विकास का व्यापक सुनियोजित व मोहक स्वरूप इस कृति में उद्घाटित किया है। अनेक समसामयिक समस्याओं का मानवीय निदान प्रस्तुत करने वाली कृति का मोहमरन सृजनकर्ता परती भूमि की बन्ध्यता को ही तोड़ने का स्वप्न नहीं देखता वरन् उसकी केन्द्रीयता का समापन विकेन्द्रियता में होना निश्चित करता है। विशाल भूस्वामियों के मन की परती टूटती है तो लाखें भूमिहीन भूमि सम्पन्न बनने लगते हैं। हजारों एकड़ सूखी निष्प्राण धरती शस्य श्यामला बनकर लहलहा उठती हैं।........पतिता भूमिए परती जमीनए बन्ध्ता धरती...... धरती नहीं धरती की लाशए जिस पर कफन की तरह फैली हुई हैं.......बालूचरों की पत्तियां'[1] ऐसी भूमि के सम्बन्ध में जब कोसी प्रोजेक्ट पार्टी नंम्बर दस से यह रिपोर्ट प्राप्त होती है कि 'जंगल और वृक्ष ही नहीं गेहूंए धानए पाट तथा दलहनए तिलहन की खेती के योग्य धरती भी मिली है तो सबसे बड़ी समस्या जल की प्रतीत होती है।

डॉ0 विवेकी राय ने अपने शोध प्रबन्ध में जल आपूर्ति सम्बन्धी मनोहारी लोककथा को विश्लेषित करते हुए लिखा है कि 'सुन्नरि नेका के रूप में, विकास और दंता रासक के रूप में सिंचाई आदि के वैज्ञानिक संयंत्रों को लिया है। 'परती–परिकथा' इसी विकास और निर्माण की कहानी है।'[2] कथाकार आर्थिक विकास के नव परिवर्तित परिवेश में लोकमन की अन्तर्ग्रन्थि को खोल कर रख देता है जहां परती किसानों में

1. परती परिकथा का आरम्भ : फणीश्वर नाथ रेणू
2. वही, पृष्ठ – 188

बंटेगीए एक योजना विकास का नवोल्लास बन कर गांव पर छा जाता है।'[1] पिछले पांच सौ वर्षो से बेकार पड़ी धरती को आसन्न प्रसवा जानकर भूमिहीनों की पीड़ा का अवसान समीप दिखाई पड़ने लगा है। कथाकार नूतन वैज्ञानिक सचेतना के प्रति आकर्षित और जागृति लोक मन की अभिव्यक्तिए आजीविका की समस्या का निदान वैज्ञानिक संभावनाओं में करता है। प्रस्तुत रचना में मानवीय अन्तर्विरोध का सुचित निदान सम्वेदनशील मानवीय संदर्भो में ही प्रस्तुत है। सर्वहारा के सर्वतोमुखी उन्नयन की नयी दिशायें की सम्भावना को 'रेणु' में बड़ी मार्मिकता से अभिव्यंजित किया है।

अर्द्ध नग्न जनता का विशाल दल कार्यरत है। श्रमश्लथ देहयष्टि अपनी श्रम साधना से असम्भव को सम्भवं बनाने के प्रयास में सभी बाधाओं को तिरस्कृत कर रही है। कोसी बह रही हैए लहरें नाच रहीं है। अर्द्धनग्न जनता का विशाल दल! पर्वत तोड़ हइयोंए पथ्थर तोड़ हइयों। इस कोसी को साधेंगे। बच्चे मर गयेए हायरे। बीबी मर गई, हाय उजड़ी दुनिया हाय रे।.......हम मजबूर हो गये। घर से दूर हो गये। वर्ष महीना एक करए खून पसीना एक कर। विखरी ताकतए जोड़कर। पर्वत पत्थर तोड़कर। इस डायन को साधेंगे। उजड़े को बसाना है.....ठक्कम–ठक्कम–ठक्क–ठक्क। घटम–घटम घट–टिडिरिक– टिडिरक।'[2]

'रेणु' के इस चित्रण में श्रमिक जीवन की विगत आपदा का मार्मिक प्रसंग उभरता अवश्य है किन्तु वे आज अपने भविष्य के आर्थिक क्षितिज के विस्तार के लिय अनवरत श्रम को अपना साध्य बना चुके हैं। योजना विकास का यह आशाप्रद उल्लेख भारत के भविष्य की स्वर्णिम रूपरेखा भी प्रस्तुत करता है किन्तु इसकृति के प्रणेता का तेरह वर्षोपरान्त होने वाला मोहभंग यथार्थ को स्वीकार ने लगा है कि 'मुझे विश्वास था कि जब कोसी योना सफल होगी तो जिन्हें अभी जमीन नहीं मिली है उन्हें आगे चल कर मिल जायेगी। लेकिन वैसा नहीं हुआ। आज भी सौ पीछे पचहत्तर लोग ऐसे हैं। लेखक की यह प्रतीति सर्वहारा संदर्भ में अक्षरशः सत्य है भारत का गरीबए निर्धनए उपेक्षितए दलित समुदाय आज भी विकास योजनाओं के सुखद संस्पर्श से कितना अस्पर्शित है इसे वास्तविक जगत में देखा जा सकता है। वृन्दावन लाल वर्मा ने भी प्रथम दशक के योजना विकास की उपलब्धियों से प्रभावित सर्वहारा के उन्नयन की भविष्यत् रूप रेखा का आशामय रेखांकन 'उदय किरण' के डाबर और कुंवर पुराग्राम के संदर्भ में किया है।

---

1. परती परिकथा का आरम्भ : फणीश्वर नाथ रेणू, पृष्ठ–507
2. वही, पृष्ठ – 383

यहां प्रशासनिक स्तर पर आतुर जिलाधिकारी अपने मौखिक संभाषण से ही डाबर वासियों को सहकारिता की उपयोगिकता समझा देते हैं और पड़ोसी गांव कुंवर पुरा से स्नेह सम्पर्क बढ़ाने के लिये सहमत कर लेते हैं। कथाकार आंचलिक समस्याओं का निदान आदर्शात्मक पृष्ठभूमि पर इतनी शीघ्रता से प्रस्तुत करता है कि आश्यर्चचकित रह जाना पड़ता है। कुंवर पुरा और डाबर वासी उदय और किरण अप्रत्याशित रूप से दस्युदलों का सामना करने के लिये सामूहिक रूप से सन्नध हो जाते हैं बंदूक लाइसेंस इत्यादि की ही भांति जंगल की बंजर भूमि पर ट्रैक्टर चलने लगा बुलडोजर से बंधी पड़ गयी खेत लहलहा उठे। सहकारी खेतीए सहकारी समितिए हल बैल इत्यादि की समस्या से पूर्वाद्ध में संघर्षरत श्रमिक उपन्यास के उत्तराद्ध में नई विकास योजनाओं के माध्यम से अभूतपूर्व उपलब्धियां प्राप्त कर लेते हैं।

आधुनिक संयंत्रों और उपकरणों द्वारा भूमि को उपजाऊ बनाने के सिंचाई के साधनए नहरए बांधए श्रमदान तथा सहकारी सहयोग से विकसित कृषि व्यापारए सहकारी खेती समितियों के नियंत्रण में डाबर और कुंवरपुरा वासियों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के निर्मित बन जाते हैं समस्याओं के समाधान का चक्र गति से घूमता है।

भूमि सुधार साक्षरता सांस्कृतिक कार्यक्रम से लेकर कताई–बुनाईए मुर्गीए भेड़, बकरी, पालनए शहद उत्पादन और कुटीर उद्योग धंधे के त्वरित विकास की रूपरेखा का आदर्शवादी संगुफन की औपन्यासिक अन्वितियों में होता है। कथाकार की मौहाविष्ट मानसिकता प्रबल प्रचारात्मकता का आश्रय लेकर कथा भूमि में इस प्रकार अवतरित होती है कि अविकसित उपेक्षित ग्रामांचलों की आज की स्थिति में समग्र प्रस्तुतीकरण नितान्त काल्पनिक प्रतीत होने लगता है। 'धूमकेतु' ने 'माटी की महक' में कृषि से जुड़े सर्वहारा वर्ग की समस्याओं का निदान शिक्षाए कुटीर उद्योगए सामूहिक विकासए वैज्ञानिक समुन्नति के सहयोग से प्रस्तुत किया है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में कृषि क्रान्ति तथा योजना विकास संदर्भ को रूपायित करने वालीकृतियों के अनुशीलन के उपरान्त यह तथ्य सामने आता है कि इस महान आर्थिक क्रान्तिकारी परिवर्तन के आयामों का समुचित और स्वस्थ निदर्शन आधुनिक कृतियों में अंकित नहीं हो पाया जो हुआ वह भी अतिरंजना और अतिश्योक्तियों में डूबा हुआ वास्तविकता से परे संदर्भो की निष्प्रभता और अप्रामाणिकता वस्तुस्थिति की अभिव्यक्ति में असमर्थ रही।

सर्वहारा वर्ग की आर्थिक समस्याओं के मूल में इस देश की असंतुलित अर्थव्यवस्था ही है। आर्थिक असंतुलन आज किसी राष्ट्र की सीमाओं में ही नहीं उपस्थित है वरन विश्वव्यापी समस्या का प्रारूप ले चुका है जिसके कारण वर्ग वैषम्य और वर्ग संघर्ष की भयावह स्थितियां फैल रही हैं। आज इस राष्ट्र की राजनैतिक स्थितियों में चौवन वर्षोपरान्त अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। सत्ता परिवर्तन के साथ भारत देश की जनता शक्तियों के जड़ जीवन को उखाड़ कर आमूल चूल परिवर्तन की प्रतीक्षा कर रही है।

इस देश का गौरवमय अतीत इसकी प्रेरणा दे रहा है कि हम आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी हों। इस राष्ट्र को वैभव सम्पन्न और शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये आर्थिक आधारशिला की सुदृढ़ता आवश्यक है। न केवल राष्ट्र के विकास के लिये वरन् समग्र मानवता को अभिशाप मुक्त करने के लिये जीवन की बहुमुखी आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति के लिये आर्थिक विषमता को दूर करना परम आवश्यक है विश्व के समस्त देश इस आर्थिक समस्या के निदान के लिये तत्पर है। जून, सन् 1977 ई0 में होने वाले राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन मे प्रमुख रूप से अभिभाषण करने वाले भारतके प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने यह सुझाव दिया है कि राष्ट्र मण्डल के देश विश्व के गरीबों की समस्याओ का समाधान खोजने मे एकनिष्ठ होकर एक दूसरे से सहयोग करें। अमीर और गरीब सम्पन्न तथा निर्धन देशों की असमानता को दूर करने का प्रयास अत्यधिक महत्व का है, इसमें सन्देह नहीं। इस दिशा मे विकसित और विकासशील देशों को आपस में मिलजुल कर कार्य करना चाहिए।'[1]

सम्मेलन मे अन्य देशों के प्रतिनिधियों ने भी इस बात पर बल दिया है कि आर्थिक विषमता और असमानता को अतिशीघ्र दूर न किया गया तो अनर्थकारी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

श्री देसाई ने इस जटिल प्रश्न को सम्पन्न एवं विपन्न देशों की समस्या न कह कर मानवीय प्रश्न की संज्ञा दी है और मानवीयता के द्वारा इन्हें सुलझाने का आग्रह भी किया है। वर्तमान परिस्थितियों में विश्व के विकासशील और विकसित देशों में एक नयी अर्थव्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा मुद्रा कोष पर कतिपय समृद्धशाली राष्ट्रों के प्रभुत्व से अमीर और गरीब राष्ट्रों के मध्य असमानता बढती जा रही है। आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यवस्था की विषम वितरण नीति भी

इस असमानता के लिये उत्तरदायी है। यदि विकासशील देशों की सत्ता को अक्षुण्य रखना है और समग्र मानव समाज की समता के धरातल पर अधिष्ठित करना है तो विश्व के समस्त विकसित देशों को मानवीय स्तर पर विचार करना होगा क्योंकि आर्थिक समानता के अभाव में राजनैतिक स्वाधीनता खतरे में पड़ सकती है। विषमता की समाप्ति के लिये विकसित देशों की निःस्वार्थ भाव से स्वस्थ मानवता के विकास के लिये आगे बढ़ कर इस समस्या का निदान करना होगा।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान गांधी जी को महसूस हुआ कि बिना पंचायती राज के देश में कृषि और कृषकों का विकास नहीं हो सकेगा। उन्हें यह भी लगा कि आजादी मिलने के बाद भी बिना पंचायती राज स्थापित किये वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना भी न हो सकेगी। इसलिए आजादी के बाद उन्होंने प्रयास कर इस विषय को संविधान में सम्मिलित करवाया जिसके परिणामस्वरूप ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में पंचायती राज प्रारम्भ करने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये।

प्रथम पंचवर्षीय योजना मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम–सन् 1952ई0 तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम विकास की दिशा में लागू किये गये सरकारी कार्यक्रम थेए लेकिन इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत सर्वहारा समुदाय की सहभागिता का पर्याप्त अभाव था। इसी कारण से विकेन्द्रीत शासन ने विकास में जनता को समुचित भागीदारी सुनिश्चित कराने के लिए भारत सरकार ने सन् 1957 ई0 बलवन्त राय मेहता समिति तथा सन् 1978 ई0 में अशोक मेहता समिति का गठन किया गया। इन समिति द्वारा देश में पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना एवं विकास के लिये सिफारिश की गयी। इन समितियों की सिफारिशें के आधार पर सरकार ने प्रायः सभी राज्यों में पंचायती राज समितियों की स्थापना की। लेकिन इन संस्थानों को संवैधानिक दर्जा प्राप्त नहीं था। अतः ये राज्य सरकारों की दया पर निर्भर रही।

सन् 1986 ई0 में गठित लक्ष्मीमल्ल सिंघवी समिति ने पंचायती राज संस्थाओं को स्वशासित संस्थओं के रूप में विकसित करने के लिए संवैधानिकरण करने की सिफारिश की। इन सभी समितियों के प्रयास उस समय सफल हुए जब 24 अप्रैल, सन् 1993 ई0 को संविधान के 73 वें संशोधन को लागू कर पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक अहमियत प्रदान की गयी।

पंचायती राज व्यवस्था की बाधाएं :

· पंचायती राज द्वारा विकेन्द्रीकरण को बढ़ना तभी संभव होगा जब केन्द्र के अधिकार हों और स्थानीय संस्थाओं के अधिकार बढ़े। परन्तु लगता है प्रस्तावित व्यवस्था में केन्द्र के अधिकारों का दायरा घटने वाला नहीं है। सारा प्रयास पहले से ही शक्तिहीन राज्य सरकारों को और अधिक शक्तिहीन बनाने का है। शायद केन्द्र से शासक दल के हाथ से कई राज्य सरकारों के निकल जाने के बाद राज्यों की शक्ति पर पकड़ बरकरार रखने का एक यह अप्रत्यक्ष प्रयास हो। जिन विषयों को स्थानीय जनप्रतिनिधि संस्थाओं को दिया गया हैए उनमे केन्द्रीय सरकार की दखल कम होती नजर नहीं आती। इस कानून की ज्यादातर व्यवस्थाएं स्थानीय संस्थाओं का कार्यक्षेत्र और उनके संसाधन बढ़ाने का प्रयास भर हैए अनिवार्यता नहींए परन्तु क्या केन्द्र के अधिकार या उसका चौतरफा हस्तक्षेप घटाये बिना स्थानीय संस्थाएं अपनी आवश्कतानुसार विकास योजनाएं बना सकती है? शायद नहीं।

जब तक पंचायतों और स्थानीय निकायों को वित्तिय संसाधन जुटाने की स्वायत्तता नहीं मिलती और केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कानूनों द्वारा गैर–राजकीय आर्थिक और सामाजिक शक्ति का समुचित और न्यायपूर्ण वितरण नही होताए तब तक क्या गांवए नगरए तहसील और जिला स्तर पर कोई वास्तविक शक्ति का स्थानान्तरण हो सकता है? नियमित रूप से पंचायतों का चुनाव कराना और एक वित्त आयोग द्वारा उन्हें संसाधन प्रदान करना एक तरह से उत्तरदायित्वों का हस्तांतरण तो है, पर अधिकारों और शक्ति का विकेन्द्रीकरण नहीं।

पंचायतें यदि सचमुच स्थानीय योजनाएं बनाकर लागू कर पाती तो योजनागत संसाधनों का आवंटन और उपयोग सुधर सकता है। परन्तु नयी पंचायती व्यवस्था ने महज एक संभावना का सोपान खड़ा किया है। विकेन्द्रीकरण को सीमित करने के कोई आसार नजर नहीं आ रहे है। बल्कि नयी आर्थिक नीतियां आर्थिक संसाधनों और शक्ति को और तेजी से चंद हाथों तक सीमित कर रही हैं। इन नीतियों और योजनाओं के रहते स्थानीय योजनाओं और नीतियों की सफलता की उम्मीदकरना तो ऐसा ही है। जैसे एक आशा करना कि एक सहायक धारा के मिलने से नदी के बहाव की दिशा बदल जायेगी।

हमारे देश में सर्वहारा वर्ग की सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि भूमिपतिए व्यापारी, साहूकार, नौकरशाहए पुलिस तथा राजनीतिक नेताओं की छकड़ी ने योजना के उच्च आदर्शों और उद्देश्यों को सात तालों में बन्द कर दिया है। क्या नयी पंचायत व्यवस्था इस राज रोग का कोई इलाज कर पायेगी? क्या अनुसूचित जातियोंए अनुसूचित जनजातियों और महिलाओं को आरक्षित प्रतिनिधित्व देकर इन विकेन्द्रीत संस्थाओं को गरीबी निवारण तथा सामूहिक स्वशोषित सत्ताधिकरण का कारगर हथियार बनाया जा सकता है? क्या पंचायतों के जरिये नौकरशाही तथा स्थानीय राजनीति के नये गठजोड़ को रोका जा सकता है? क्या ऐसे तरीके या शक्तियां पंचायतों के पास हैं, जिसके द्वारा वे भूमि की हदबंदी और चकबंदी के कार्यक्रम को सही अंजाम दे सके? क्या पंचायतों के चुनाव साफ–सुथरे ढंग से बिना लाठी और बरजोरी के हो पायेगें? क्या इन रोगों की दवा बन पायेगी नयी पंचायती राज व्यवस्था? शायद एक संभावना तो बन सकती है नयी पंचायत व्यवस्थाए मगर यह कानून सामाजिक संघर्षोए बदलावों और समूचे रूपान्तरण के यज्ञ की पूर्वाहुति नहीं बन सकता है। इसलिए जरूरी है कि इस पंचायती राज व्यवस्था को मंजिल तक पहुँचानेवाली गाड़ी का पहिया मानकर अपने दुःख–दर्दो के अंतिम इलाज के लिए नयी दवा की तलाश जारी रखी जाय।

भारतीय संविधान (73 वें संशोधन विधेयक) की उपर्युक्त क्रान्तिकारी विशेषताओं द्वारा सर्वहारा वर्ग को शोषण से बचाने में सहायता मिलेगी हीए इसके साथ ही यह संशोधन देश में समानता और सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने में भी काफी मददगार साबित होगा। ग्राम सभा की नयी अवधारणा लोगों को एक जुट करेगी। इससे समाज के कमजोर वर्गो सर्वहारा को शोषण से बचाने में भी मदद मिलेगी। इस व्यवस्थामें महिलाओंए अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को भी अपना पक्ष प्रस्तुत करनेकी पक्की एवं स्पष्ट व्यवस्था की गयी है। अब ये लोग निर्णय लेने की प्रक्रिया मे समान रूप से भागीदारी निभा सकेगे। ग्राम स्तर पर राजनीतिक प्रक्रिया के स्वस्थ विकास से राष्ट्रीय स्तर परस्वच्छ एवं ईमानदारी पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था की बुनियाद भी तैयार होगी। पंचायतों द्वारा इस व्यवस्था के लिए सर्वहारा को प्रशिक्षित करने का कार्य सरलता से सम्पन्न कराया जा सकेगा। इससे देश में समाज के सबसे निचले स्तर (सर्वहारा) से लेकर राज्य और राष्ट्रीय स्तर तक लोकतान्त्रिक व्यवस्था को काफी प्रोत्साहन मिलेगा। पंचायती राज संस्थाओं को लोकसभा एवं विधानसभा की भांति

संवैधानिक दर्जा मिल जाने से सत्ता का विकेन्द्रीकरण तीव्र गति से होगा जिसे लोकतन्त्र की मजबूती के अलावा आर्थिक विकास में भी इन संस्थाओं की भूमिका बढ़ेगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्तमान पंचायती राज राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के उस स्वप्न को साकार करने का एक क्रियात्मक पहलू है जिसके बारे में उन्होंने 18 जनवरी, सन् 1948 ई0 को अपने पत्र 'हरिजन' में लिखा थाए 'सच्चे लोकतन्त्र का परिचालन केन्द्र में बैठे बीस व्यक्तियों द्वारा नहीं कराया जा सकता। इसका कार्यान्वयन प्रत्येक गांव के निवासियें के माध्यम से होना चाहिए। मेरे विचार में जनसमर्थन प्राप्त पंचायत को कोई कानून कार्य करने से नहीं रोक सकता। गांवो का प्रत्येक समूह अथवा उस समूह के सदस्य अपनी पंचायत बना सकते है, चाहे भारत के अन्य भागों में पंचायतें हो अथवा नहीं। सच्चा अधिकार कर्त्तव्य से ही मिलता है। ऐसे अधिकारों से कोई भी वंचित नहीं कर सकता। पंचायत जनता की सेवा करने के लिए हैं। भारत के सच्चे लोकतन्त्र की इकाई गांव है।''

****

चौथा अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में राजनीति और सर्वहारा वर्ग का प्रतिमान

स्वतंत्रता के बाद जिन समस्याओं ने देश की जनता और उसके हितचिंतक नेतृवर्ग का ध्यान सबसे अधिक झिंझोड़ कर आकर्षित किया 'उनके प्रमुख रूप से भूमि की समस्या रहीं। बारम्बार इस कोण से रक्त क्रांति की ध्वनियाँ उठती रही और समस्या को गुरूतर बनाती रही। जिस वर्ग विशेष से क्रांति का आह्वाहन उठता रहा उसकी संज्ञा भूमिहीन थी। किन्तु उसका एक और अभिज्ञान सर्वहारा के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता रहा। यद्यपि सर्वहारा को कृषि और भूमि मात्र से जोड़कर पहचान कठिन है क्योंकि नगराचंल में उनकी स्थितियां एक सत्य हैं, किन्तु मोटे रूप में कृषि से जुड़े श्रमिकों के रूप में इनकी पहचान कुछ रूढ़ि सी हो गयी है। राजनीतिक दलों ने जहाँ एक ओर इस पहचान पर मुहर लगा दी है, दूसरी ओर हिन्दी के आधुनिक उपन्यासकारों ने भी इस पहचान को उपन्यास कथ्य शिल्प में उजागर किया हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में रचनाकारों ने इस वर्ग को प्रमुख समस्याओं के यथार्थ को अधिकांश रूप में राजनीतिक स्तर पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस प्रयास के दो कोर है। पहले कोर पर कम्यूनिस्ट क्रांति की दृष्टि हैं और इसके दूसरे कोर पर भूदान अथवा सर्वोदयी शांति की योजना हैं। वर्तमान अनुभव में सर्वहारा वर्ग की समस्याओं को हल करने में दोनों ही के कार्यक्रम असफल प्रतीत हो रहे है। किन्तु हिन्दी के प्रतिबद्ध दृष्टिवाले अथवा जनवादी दृष्टिवाले उपन्यासों में एक सर्वथा नये आदर्शवाद के रूप में कम्यूनिष्ट क्रांति की सफलताओं का वर्णन किया है। जनवादी उपन्यासकारों में केन्द्रीय तत्व के रूप में वर्ग–संघर्ष को ही स्थान दिया गया है। किन्तु उन्ही बिम्बों से इतना स्पष्ट होने लगता है कि यह वर्ग वास्तव में राजनितिक चेतना से शून्य है। वास्तविक अर्थ में इस वर्ग के भीतर राजनीतिक चेतना से शून्य है। वास्तविक अर्थ में इस वर्ग के भीतर राजनीतिक चेतना का अभ्युदय होना एक शुभ लक्षण होता किन्तु इस स्वस्थ अभ्युत्थान के स्थान पर उनका मानसिक शोषण जब होने लगता है तब एक दुःखद स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पूँजीपतियों सामन्तवादी मनोंवृत्ति सम्पन्न

शोषकों और क्रूर भूपतियों के निर्दय अत्याचार को एक युग से सहता यह सर्वहारा वर्ग वास्तव में नवोदित भारतीय जनतंत्र के लिए एक चुनौती भरा कलंक है। हिन्दी कथा साहित्य के महारथियों ने इस चुनौती को स्वीकार तो किया है किन्तु उनमें यदि कुछ और संतुलन होता तो इन परिस्थितियों का स्वस्थ रूप और अधिक निखर कर सामने आया होता। प्रस्तुत विबन्ध में नये उपन्यासों वर्णित राजनीतिक परिप्रेक्ष्यवाली सर्वहारा वर्ग की स्थितियों का विश्लेषण–संश्लेषण करने का प्रयास किया जायेगा।

(क) नव सर्वहारा सामाजोन्मुख सांस्कृतिक चेतना

पराधीन भारत के इतिहास में मुक्ति संघर्ष की अदम्य कामना विस्तृत राजनैतिक फलक का सृजन करती है। विशाल राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग की एकीकृत क्षमता से संघर्ष का जो शंखनाद हुआ उसमें सर्वहारा वर्ग की विशिष्ट भूमिका रही। शक्तियों से पदमर्दित सर्वहारा समाज स्वतंत्रता संग्राम में जिस अमूर्त उन्मेष से मण्डित होकर गतिशील होता है, उसका अत्यन्त सफल चित्रांकन स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में प्राप्त होता हैं। प्रख्यात उपन्यासकार "रामदरथ मिश्र" ने स्वतंत्रतापूर्व स्वराज्यान्दोलन के परिप्रेक्ष्य में आगत भविष्य की मोहमयी कल्पनानुबन्धित तथा स्वाधिकार प्राप्ति की आशा से दीप्त सर्वहारा वर्ग की राजनैतिक गतिशील मनोवृत्ति की सूक्ष्म और सशक्त अभिव्यक्ति "पानी के प्राचीर" में प्रस्तुत की है।

पाण्डेयपुर ग्राम के दलित नेता फेंकू, दिनई और गनपत के नेतृत्व से प्रभावित सर्वहारा समाज इस सत्य को अनुभूत करने लगता है कि कांग्रेस सरकार भारत को आजाद करेगी। गरीबों और खेतहीनों को खेत देगी। चमारों को बड़े– बड़े ओहदे देगी। हम लोग को भी बड़ी जाति वालों के बराबर हक मिलेगा इसलिए उनमें बड़ा जोश था।[1] सुराज मिलने पर कोई भूखा नंगा नहीं रहेगा।[2] इस विश्वास ने इनके विचारों में अपूर्व क्रांति ला दी है उपन्यासकार ने असंदिग्ध भाव से इनके सुषुप्त आंतरिक संवेगों को स्वराज आन्दोलन के सन्दर्भ में परखा है। सुख समृद्धि के पर्याय अभिजात वर्ग ने लघु मानवों के इस जागरण को भी जिस शंकाकुल दृष्टि से आंका उनका भी सहज और विश्वसनीय आलेखन उपन्यासकार करता है। परम्परागत परिधि से वहिर्गत सर्वहारा समाज के प्रति उच्चवर्ग का यह भाव, सुराज मिलने पर तो पता नहीं क्या करेंगे?[3] इनकी मानसिकता का मनोवैज्ञानिक पक्ष उजागर करता हैं स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए

1. पानी के प्राचीर : रामदरश मिश्र, पृष्ठ– 92
2. वहीं, पृष्ठ– 256
3. वहीं, पृष्ठ– 93

संघर्षरत दिनई, फेंकू, दधिबल, निरबल तेली, भीखन गड़ेरी की जागरूकता बेनी काका जैसे लोगों को खलने लगती है, वे क्षुब्ध भाव से कह उठते हैं कि – "अरे तनी देखि ल। ई सब देश के दलिद्दर कर देंगे। फितुहीं लगा–लगा के नाचते फिरते हैं, सुराज लेंगे। बामनों के घर में डोम चमार बसाएंगे, गाँधी भाई आँधी लेके आयी है।[1] स्वतंत्रता पूर्व सर्वहारा वर्ग के सन्दर्भ में चित्रित ये प्रकरण ग्रामीण मानसिकता का प्रत्यक्ष द्योतन करते हैं।

राजनीतिक स्तर पर समस्त राष्ट्रीय जन–जीवन की संचेतना का उभार 'रेणू' के 'मैला आंचल' में उपन्यस्त हैं। मेरीगंज का सम्पूर्ण परिवेश स्वाधीनता संग्राम से व्यक्तिगत तौर पर अनुबन्धित हो गया है, सक्रिय राजनीतिक घटनावलियों के केन्द्रस्थ मेरीगंज गाँव का सर्वहारा वर्ग गाँधीवादी और वामनदेव के आदर्शों से प्रभावित होते हुए भी लाल झंड़े के लिए प्रतिबद्ध हो रहा है। किसान, मजदूर, संथाल कालीचरन के क्रांतिकारी तीव्र मनोभावों के ज्वार में बहनें लगते हैं। आकर्षक नारे उद्‌बोधन मंच का काम करते हैं जमीन जोतने वालों की? "किसान राज कायम हो। मजदूर राज कायम हो।"[2] की ध्वनियों में स्वत्वाधिकार की प्राप्ति की आशा इस वर्ग में चेतना का नवांकुर प्रस्फुटित कर देती है। "रेणु" ने स्वाधीनता के सन्दर्भ में सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूक सर्वहारा वर्ग के यथार्थ स्थिति चित्रों को भी प्रतिबिम्बित किया है ।

स्वराज्यआन्दोलन की पृष्टभूमि में सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक उन्मेष का प्रभावशाली और प्रामाणिक अंकन 'हिमांशु श्रीवास्तव' के "लोहे के पंख" में हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के सन्दर्भों में गतिशील भारतीय जन समाज भी अब राजनीति में सक्रिय योगदान देने लगा है। सन् 1942 ई0 के गूंजते हुए आन्दोलन में गाँधी जी के सन्देश से पूर्ण सर्वहारा समाज आन्दोलित हो उठता है। राजनीतिक रंग से रंगी 'सूरदास' की स्वरलहरी में जागृत जन चेतना का विस्फोट इन पंक्तियों में मुखर होता है –

> अब ना बांची कलकाता विधाता ।
> अब ना बांची कलकाता विधाता
> जरमन जापान मिल के गोला गिरावें,
> सुन–सुन के जिउआ घबराता ।

---

1. पानी के प्राचीर : रामदरश मिश्र, पृष्ठ– 94
2. मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ–126

अब ना बांची कलकाता विधाता ....

अब ना बांची .... ।।[1]

स्वराज्यान्दोलन के सन्दर्भ में व्यापक स्तर पर सर्वहारा वर्ग की मानसिकता उभरती है। राष्ट्र हित चिन्तन में विविध बाधाओं को सहर्ष स्वीकारते हुए इनके योगदान की भूमिका कम गरिमामयी नहीं है।

स्वतंत्रतापूर्व का सर्वहारा वर्ग स्वातंत्र्योत्तर जीवन में प्रजातांत्रिक मूल्यों से स्वयं को विरत पाकर आंतरिक असंतोष की घुटन अब और अधिक सहने में असमर्थ हो रहा है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने उसकी भौतिक आवश्यकताओं का परिसीमन कर उन्हें आर्थिक स्तर पर पंगु बना दिया है। फलतः आर्थिक शोषण और सामाजिक दमन के प्रतिकार के लिए विश्व स्तर पर समग्र श्रमिक संस्कृतिक के अभ्युदय की प्रक्रिया लक्षित हो रही है। प्रगतिशील उपन्यासकार नागार्जुन ने इस अभिनवोदित विश्व श्रमिक संस्कृति के अभ्युदय को 'बलचनमा' में श्रमिकों के सर्वतोमुखी उन्नयन के लिए अपने वर्ग की एकता का आह्वान करता है। उसकी राजनैतिक स्तर पर उभरती संघर्ष दृष्टि में समष्टिगत हित की भावना समाहित है।

प्रगतिशील समाजवादी उपन्यासकार 'भैरव प्रसाद गुप्त' एवं 'विश्वम्भर नाथ उपाध्याय' की कृतियों में सर्वथा नये प्रकार की विश्व श्रमिक संस्कृतिक का संगठन हो रहा है। साम्यवादी जननायकों की वाणी में गूंजती उग्र चेतना की स्वरलहरियां 'मशाल' में तीक्ष्ण हमारे बच्चे भी इन बामनों के लड़कों की तरह पढ़–लिख कर बड़े–बड़े ओहदे पाएंगे..........''[1] की ध्वनियाँ इनकी मानसिकता का अनावरण करती हैं। ग्राम सर्वहारा मन के अन्यतम पारखी 'रेणु' ने ''परती परिकथा'' में राजनीतिक मंच के लुच्चों द्वारा फेंके गए आखिरी दांव में परिवर्तित मानसिकता का मनावैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है। ''उसने गाँव में बंदिश की है, नौकरी करने में हर्ज नहीं। करो नौकरी लेकिन शान से करो। रविवार को काम करने मत जाओ। गाली दे तो पहले चेता दो। दूसरी बार गाली दे तो कहो कि गाली का जवाब गाली से देंगे जो गाली सहेगा उसको जुरमाना देना पड़ेगा। 'श्रमजीवियों के आन्तरिक भावों को सुदृढ़ बनाने में तथा प्रतिशोधमयी मुद्रा के उभार में सहायक ये कथन नयी चेतना के स्फुरण को व्यंजित करते हैं। टीले की अशिक्षित महिलाओं में भी राजनैतिक चेतना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर चुकी है चुनमुन बाईलुचा से नटिटनों के लिए 'यूनियन' का प्रस्ताव रखते हुए कहती है कि जो औनियन

---

1. लोहे के पंख– हिमांशु जोशी, पृष्ठ–126

से बाहर हुआ घरो पचास टका जुरिमाना। रेणु ने अंचल विशेष के अन्तर्वाह्य सन्दर्भों को जिस यथार्थ प्रमाणिकता के साथ उपान्यस्त किया है उसमें विलक्षण स्वाभाविकता वर्तमान है। भाव और भाषा दोनों यथार्थ है उसमें विलक्षण स्वाभाविकता वर्तमान है। भाव और भाषा दोनों यथार्थ के धरातल पर उतर कर पात्रों की सहज मानसिक स्थितियों को विश्लेषित करते हैं। स्वतंत्रता परवर्ती अधिकारबोध ने अर्द्धसभ्य जनजातियों में भी विशिष्ट मानसिकता का प्रादुर्भाव किया है। जय सिंह कृत 'कलावे' का दौलता स्वतंत्र भारत में अपना मूल्य पहचानने लगा है। प्रतीकों का आलम्बन ग्रहण कर उभरती है। उपन्यासकार हजारों पंछी और एक सांप के माध्यम से श्रमिक सर्वहारा वर्ग को नयी चेतना सम्प्रेषित करता है। साधनहीन, असंगठित, असहाय वर्ग को स्वत्व संरक्षा के लिए अपने–अपने अपरिसीम बल का केन्द्रीयकरण करना होगा, पूरे विश्व के श्रमिकों को एक होना पड़ेगा।

प्रगतिशील आधुनिक कथाकर 'मधुकर सिंह' की कृति 'सोनभद्र की राधा' में उपन्यासकार 'गोविन' की नयी कविता के माध्यम से अभिनव श्रमिक संस्कृति के उत्थान का स्वर निनादित करता है। आओं सहस्रों, लाखों हाथों को एक में जोड़ दो और सीना तानकर जालिमों के आगे खड़े हो जाओं 'रेणु' के 'मैला आंचल' में राजनीतिक मंच से गूंजती 'कालीचरण' की वाणी दुनिया के सभी मजदूरों को लाल झंडे के नीचे एक होने का संदेश प्रसारित करती है। विभिन्न प्रतिगामी शक्तियों से संघर्षरत सर्वहारा की आधुनिक चिन्तन धारा ने सर्वथा नया मोड़ ले लिया है। संवैधानिक अधिकार बोध की भावना से परिवर्तित मानसिकता, जटिल संवेगात्मकता का प्रारूप ग्रहण कर चुकी है जिसे स्वतंत्रता परवर्ती रचनाओं में रचनाकारों ने तटस्थता के साथ अंकित किया है।

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में सर्वहारा वर्ग के मध्य उभरती नकारात्मक मुद्राओं का यथार्थ और सजीव चित्रण 'पानी के प्राचीर' में है। चमरौटी के कोलाहल में अब हम लोग मजूरी नहीं करेंगे, जमींदारों का रोब नहीं सहेंगे, अब सामन्तशाही के विरोध में उभरता यह स्वर कि पटवारी लगान लेगा और वह सीधा सरकार को जाएगा। तब हम ठाकुर की रियाया (जनता) नहीं, अब हम सरकार की रियाया हैं।[1] मीलों के मध्य उभरती राजनैतिक सचेतता और आधुनिक परिवर्तित मानसिकता को मूर्तित करती है।

हिमांशु श्रीवास्तव के 'लोहे के पंख' में सर्वथा नये प्रकार की आधुनिकता राजनीतिक संदर्भ में उभरती है। मगर सर्वहारा वर्ग की स्वतंत्रता संग्राम की आशाओं पर

तुषारापात हो जाता है। अपनी ही सरकार की विधातक नीतियों के शिकार श्रमिकों का मोहभंग होने लगता है और विश्वास टूटने लगते हैं। जो विदेशी सत्ता से लड़कर स्वराज्य प्राप्त करने में समर्थ रहे, जिन्होंनें नेहरू, गाँधी के मार्ग दर्शन में अपने स्वर्णिम भविष्य का स्वप्न सृजित कर रखा था उन्हें इस देश की अवसरवादी स्वार्थमयी राजनीति कुचल देती है। उनकी न्यायोचित मांगो को तिरस्कृत करने पर श्रमिक और स्वामियों के मध्य भीषण वर्ग–संघर्ष का दृश्य उभरने लगता है और सर्वहारा समुदाय राजनैतिक खोखलेपन को अपने स्वरों में मुखरित करने लगता है, छः हजार मजदूर अपनी रोजी–रोटी के लिए हड़ताल को विफल होते देख गगनभेदी नारे लगाते है——

कांग्रेस का गहरा दाग हम पर बेतों की बौछार।

बेंच रहे बापू का नाम, मिट जायेगी यह सरकार।।

बापू की टट्टी की आड़, हो रहा मजूरों का शिकार।

हिमांशु श्रीवास्तव ने भारतीय नगर सर्वहारा के मध्य राजनैतिक दलन, उत्पीड़न और शोषण के विरूद्व उभरती आधुनिक मानसिक दृष्टि की अंतरंग स्थिति का साक्षात्कार दिया है। बड़ी–बड़ी मीलों के पूँजीपतियों के द्वारा ठुकराये जाते श्रमिक वर्ग में विस्फोटक वृत्तियाँ उभर रहीं हैं। विभिन्न दलों ने इनकी मानसिक परिवर्तनशीलता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

भैरव प्रसाद गुप्त के बृहदकाय उपन्यास 'सती मैया का चौरा' में स्वातंत्र्योत्तर सर्वहारा की आधुनिक मानसिकता को उपन्यासकार ने बड़ी कुशलता पूर्वक अंकित किया है। सामन्ती और महाजनी व्यवस्था से मुक्त जन समाज के विषय में मुन्नी की यह उक्ति की अब गाँव की जनता जाग रही है, किसान जाग रहे हैं, उन पर बड़े लोगों का जो प्रभाव था तेजी से नष्ट हो रहा है, वे अब अपनी शक्ति पहचानने और अपने अधिकारों के लिए लड़ने लगे हैं।'[1] में ग्रामीण सर्वहारा की विशिष्ट आधुनिक चेतना रेखांकित है।

(ख) सर्वहारा वर्ग से जुड़े विभिन्न राजनीतिक दृष्टि :

भारतीय गणतंत्र की स्थापना के साथ लोकतंत्र की सुदृढ़ आधारशिला के रूप में सत्ता के विकेन्द्रीकरण और गाँधी के रामराज्य के स्वप्नो को साकार करने के लिए भारतीय ग्राम पंचायतों का निर्माण तो अवश्य हुआ किन्तु भारतीय जनमानस की धराशायी जीर्ण–शीर्ण नैतिकताहीन परिस्थितियों में स्वतंत्रता के उपरान्त लगभग पचास

---

1. सती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ–603

वर्षों के बाद यह संस्था अपने आदर्शों में निरंतर गिरती रही। विघटनकारी तत्वों ने इसमें समाहित सभी उच्चादर्शों को अधःपतन की ओर आमुख होने में सहायता दी है। बिभ्रमपूर्ण राजनीति, प्रवंचित नेतृत्व, स्वार्थ और छलछद्म ने, अशिक्षा, अज्ञान, निर्धनता, वैमनस्य के पूर्ण प्रसार से लोकतंत्र की जड़ें ही खोद दी। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में अंकित पंचायतों की व्यंग्यपूर्ण स्थितियों से इनके विघटित अस्तित्व के परिप्रेक्ष्य में विडम्बनाग्रस्त सर्वहारा समाज के उभरते रूपविद्रूप रूप का चित्रण भी तटस्थता पूर्वक कथाकारों ने किया है।

सच्चिदानन्द धूमकेतु के 'माटी की महक' में पंचायत और उसके परिप्रेक्ष्य में सर्वहारा जीवन की विसंगतियाँ, 'गुलटेन' की पुत्री 'इंजोरिया' के सन्दर्भ में उभरती है...... ....राधाकृष्ण के शयनकक्ष में रूग्ण पिता की औषधि के लिए घृतकुमार के पर्चे लाने गयी इंजोरिया के अपहरण और बलात्कार का कुकृत्य जटाधारी की अध्यक्षता में पंचायत में पेश होता है। महंथ गजानन और मुखिया जटाधारी इस सर्वहारा नारी का सतीत्व तो लूटते ही हैं उसे देवदासी बनाने का नाना प्रलोभन भी देते हैं। कालीचरन द्वारा मुक्त करायी गयी 'इंजोरिया' महंथ के स्वर्णाभूषणों और रेशमी वस्त्रों से स्वयं को विरत करती हुई इनके जघन्य कृत्यों का जो यथार्थ प्रस्तुत करती है उससे उच्चवर्ग का मस्तक झुक जाता है, किन्तु कुछ व्यक्ति सत्य की ओर से आँखे बन्द कर निरिह अशक्त गुलेटन की बेटी पर जो आरोप लगाते हैं वह हृदय को विदीर्ण करने वाला है, अरे भाई लड़की स्वयं खेंलाड है नहीं तो क्या कोई किसी को जबरदस्ती रख सकता है। महंथ के पैसे देखकर उसे लालच हो गयी होगी।[1] पंचायत न केवल महंथ के हिमायतियों को दोषमुक्त करती है वरन 'पंचों' की ओर से दुश्चरित्रा घोषित इंजोरिया के प्रसंग में असवर्ण समाज की वस्तु स्थिति की भी वास्तविकता की झलक मिल जाती है। जिस पंचायत के मुखिया भी जटाधारी जैसे लोग हैं जिनके विषय में इंजोरिया कहती है कि 'यह मुँहजरा अपने को गाँव का मुखिया कहता है और इसने मेरे आदमी का दिया हुआ चाँदी का कड़िया और बाजूबन्द भी ले लिया यह भी महंथ के साथ मेरी इज्जत .....।[2] न्याय और सत्य को अधिष्ठित करने वाली पंचायत और उसके पंचों के विकृत सन्दर्भों के मध्य गाँधी के रामराज्य की मोहमयी कल्पना विलुप्त होती है। नीर–क्षीर विवेकी पंचायतें आज भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देने वाली संस्था बन चुकी है। उपन्यासकार

1. माटी की महक : सच्चिदानन्द धूमकेतु, पृष्ठ–352
2. वही, पृष्ठ–356

जटाधारी जैसे पंचों के मुखौटे उतारकर समर्थ समाज के कुकृत्यों का वास्तविक विवरण प्रस्तुत करता है जो भारतीय पंचायतों की नियति बन चुकी है।

स्वायत्त शासन की इकाई पंचायत की दूरावस्था का चित्र 'अलग–अलग वैतरणी' में भी उभरता है, जहाँ पुराने जमींदार ठाकुर जयपाल सिंह अपनी प्रतिज्ञा भूलकर पंचायत के सन्दर्भ में पुनः करैता आ जाते हैं। निम्नवर्गीय सुखराम को सभापति बनाकर शतरंज के मोहरे के रूप में प्रयोग करने वाले जैपाल सिंह पंचायत में जिस विद्रूप न्याय और सत्य को अधिष्ठित करते हैं वह लल्जास्पद है। शोषक, दलित और उत्पीड़ितों के प्रतिनिधि स्वयं सुखराम के रूप में अपने ही वर्ग के साथ विश्वासघात करते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए पुराने स्वामियों के इशारे पर नाचने वाले इन कर्णधारों ने राष्ट्र के भविष्य के सम्मुख प्रश्नचिन्ह लगा दिया है, लेखक ने ग्रामीण पंच और पंचायतों के प्रामाणिक चित्रण का परिदृश्य उजागर कर वास्तविकता का पर्दाफाश कर दिया है। नागार्जुन ने दुखमोचन में ग्राम पंचायत के निकट वास्तविकता यथार्थ को उपन्यस्त किया है जहाँ परम्परावादी सवर्ण समुदाय अपने मनोनुकूल स्वार्थमय परिवेश का सृजन कर समष्ठिगत हित चिन्तन को विस्मृत कर देता है। गाँव में बढ़ती गुटबन्दी, जातीयता और वैमनस्य के मध्य उभरता है पंचायत राज का स्वरूप। पंचायत गाँव की गुटबन्दी को तोड़ नहीं सकी थी अब तक चौधरी टाइप के लोग स्वार्थ साधन की अपनी पुरानी लत छोड़ने को तैयार नहीं थे, जात–पांत, टण्टा, खानदानी घमण्ड, दौलत की धौंस, अशिक्षा का अंधकार, लाठी की अकड़, नफरत का नशा, रूढ़ि और परम्परा का बोझ..........जनता की सामूहिक उन्नति के मार्ग में एक नहीं अनेक रूकावटे थीं,[1] अप्रत्यक्ष रूप से समर्थों के चंगुल में फंसी यह व्यवस्था अपने वास्तविक उद्देश्य सिद्धि में विफल रही है। जिसका समस्त दण्ड सर्वहारा समाज को भुगतना पड़ा है। जयसिंह ने 'कलावे' में पंचायतराज के खोखलेपन को यथार्थ सामन्ती सन्दर्भ में उद्घाटित किया है जहाँ पुराने सामन्तों को 'अब पंचायत में आकर उन्हें अपनी ठाकुरी हुकूमत से भी अधिक मजा आ रहा था।'[2] पंचायत में सरपंच के चुनाव आयोजन में बूढ़े गमेती तथा भोले भालों के समक्ष चाटुकारिता भरा भाषण देने वाला दौलत सिंह अप्रत्यक्ष रूप से सरपंच स्वयं को चुनने का निवेदन करता है और तदुपरान्त हिंस्र भाव से पद प्रहार कर बूढ़े गमेती को मार डालता है। जहाँ रक्षक ही भक्षक बनकर अपनी अनाचारिता का साम्राज्य विनिर्मित कर चुका हो वहाँ कल्याण की कामना करना ही व्यर्थ है। 'मायानन्द मिश्र' कृत 'माटी

1. दुखमोचन : नागार्जुन, पृष्ठ–24
2. कलावे : जयसिंह, पृष्ठ–75

के लोग सोनें की नैया' में मांझी टोले की भरी पंचायत में भोला मांझी की अनैतिकता अनावृत करने पर 'हीतलाल' को भरी सभा में लात–मुक्का घूंसा और चाटा खाकर दण्ड भुगतना पड़ता है। परोक्ष रूप से......और संस्था से जुड़े अधिपतियों के नेतृत्व ने भारतीय न्यायतंत्र के साथ जैसा मखौल स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में उड़ाया है वह नितांत नैतिकता विहीन व राष्ट्रघाती है। जीवन जगत की विविध अन्तर्दशाओं को प्रतिबिम्बित करने वाली औपन्यासिक विधा ने इसका अत्यन्त सजीव और प्रमाणिक अंकन प्रस्तुत किया है।

स्वतंत्रता परवर्ती राजनैतिक परिवेश में सर्वहारा समाज में आयी बहुआयामी जागृति के फलस्वरूप इनकी अन्तश्चेतना, दर्प, आत्मविश्वास और नकारात्मकता की विभिन्न मुद्राओं को जहाँ स्वीकारा है वही अभिजातीय सामन्ती जीवन के समक्ष अनेक प्रश्न उभरे हैं। सहसा अधिकार पन्न सर्वहारा समाज को परम्परागत मनोंभावों से स्वीकृति न प्रदान करने वाले सामन्ती वर्ग की टूटती क्रीजती मनः स्थिति के सघन सहज स्वाभाविक बिम्बों का आलेखन अनेक कृतियों में उभरा है।

अलग–अलग वैतरणी' के ठाकुर जयपाल सिंह जिन्होंने अपनी जिन्दगी के ज्यादा दिन लोगों के झुके माथे और झुकी आंखों में देखकर बिताये थें उन्हें नीच जात वालों को तने सीधे देखने का ताव न था। नयी सर्वहारा करवट और इसकी सत्य स्थिति का साक्षात्कार कर पुनः करैला न लौटाने का संकल्प कितना हास्यास्पद है जो क्षणिक पंचायती स्वार्थ के साथ जुड़कर पुनः जैपाल सिंह को समस्त संत्रास और टूटन को भूलकर करैला में सुखदेव के साथ ला खड़ा करता है।[1] 'जल टूटता हुआ' का उखड़ा हुआ भूपति अर्द्धविक्षिप्त महीप सिंह मिथ्यादम्भ, छलपूर्ण पाखण्ड और आत्मविक्षोभ के मध्य स्वयं ही झुझलाता और टूटता रहता है। उपन्यासकार 'रामदरश मिश्र' नें महीम सिंह के कथन द्वारा ही उनकी मानसिक मनोवैज्ञानिकता का सघन चित्रांकन किया है 'ओह ये मेरे ही कुत्ते अब मेरा ही इस तरह अपमान कर रहे हैं..........। ये सारे दरिद्र जिनसे मैं जूतों से बात करता था पद पुरान करने के लिए पंचायत में इकट्ठे हुए हैं'[2] जगपतिया की चुनौती से आन्तरिक स्तर पर भयभीत भूस्वामी की पाखण्डी मनोवृत्ति सहज परास्त होने वाली नहीं है शक्तियों की क्रूर अमानवीय शोषक वृत्ति वाले सामन्तवादियों की मनः स्थिति में परिवर्तन की मंथर गति का मूल्यांकन प्रस्तुत करने वाली कृत्तियाँ इनके समग्र आन्तर्वाह्य अभिवृत्तियों को प्रकाशित करती है।

---

1. अलग–अलग वैतरणी : डॉ0 शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ–32
2. जल टूटता हुआ : रामदरश मिश्र, पृष्ठ–515

भारतीय प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली में स्थानीय, प्रांतीय वे राष्ट्रीय स्तर पर होने वाला चुनाव संदर्भ ही वह सबल माध्यम है जिसके द्वारा इस विशाल राष्ट्र का भविष्य निर्धारित होता है। संविधान द्वारा प्रदत्त वयस्क मताधिकार के प्रयोग ने व्यक्ति स्तर पर स्वत्वबोध को जागृत किया है। विपरीत परिस्थितियों के मध्य अनेक विसंगतियों से ग्रस्त यह प्रक्रिया राष्ट्रीय गतिविधियों को प्रबल आघात पहुंचा रही है। किन्तु समता के अधिकार बोध ने मानवीय मूल्यों को जो सुस्थिरता प्रदान किया है, उससे भारतीय सर्वहारा वर्ग में अपूर्व दीप्ति और चेतना आयी है। आज भी भारतीय शासन व्यवस्था की बागडोर पूर्व प्रभावशाली सामन्त वर्ग के हाथों में ही अवस्थित है, किन्तु सर्वहारा वर्ग इस अभिनव सन्दर्भ में अपने नये अवमुल्यित स्वरूप से अनभिज्ञ नहीं है। चुनाव सम्बन्धी संगतियों–विसंगतियों के मध्य सर्वहारा वर्ग की यथार्थता को अनेक स्वांतत्र्योत्तर कथाकार ने रूपायित किया है।

उदयराज सिंह कृत 'अंधेरे के विरूद्ध' में बसंतपुर वासियों की गतिशील राजनैतिक चेतना के स्पर्श बिन्दुओं का यथार्थ संकेतित हैं। भोर होने के पहले ही बसंतपुर जाग पड़ा। सदियों के सामन्तशाही और नौकरशाही यंत्र में पिसी हुई जनता आज पहले–पहल अपना हक पहचानने जा रही है। चमार टोली, दुसाध टोली, मुसहर टोली, ब्राह्मण टोली, बनिया, महाल, बड़का पोखरा, छोटका पोखरा, मटहवा टोल सभी जगह सरगर्मी हैं।[1] उपन्यास अधिकार बोध से जागृत सर्वहारा वर्ग की स्थिति के चित्रों का गत्यात्मक परिवेश प्रस्तुत करता है। प्रजातांत्रिक मूल्यों का प्रसार सुदूर अज्ञानान्धकार में डूबे प्रदेश वासियों में भी मंथर गति से हो रहा है।" "सूरज किरण के छाँव की बंजारी पटेल द्वारा चुनाव की वास्तविकता सुनकर जीवन के प्रति नई आस्था के सन्देश से अभिभूत हो जाती किन्तु जोसेफ की प्रताडना भारी वाणी उसके अन्तर्वाह्य की स्वतंत्रता अपहृत कर लेती है। और विवश बंजारी एक बार खजूर छाप वाली पेटी में मतपत्र डालकर दुबारा गुलाबी रंग के कागज को ऊपर रखकर लौट आती है। विवशता के अंधकार में डूबी यह नारी सोचती है डालने में क्या धरा है? पैरों में आज जो बेड़ी पड़ी है कल भी पड़ी रहेगी। चाहे कोई जीते कोई हारे। नेहरू का राज हो या पादरी का हुकूमत मेरे लिए दोनों में कोई अन्तर नहीं।[2] बंजारी के आत्मदैन्य के माध्यम से उपन्यासकार चुनाव प्रकरण के घोर यथार्थ को असहाय वर्ग के सन्दर्भ में आकलित

---

1. अंधेरे के विरूद्ध : उदयराज सिंह, पृष्ठ–210
2. सूरज किरण की छाँव : राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ–159

करता है। राजनैतिक परिवेश में दलगत और जातिगत वैषम्य से निष्पक्ष चुनाव असम्भव है। मधुकर सिंह के 'सबसे बड़ा छल' में सवर्णो–अवर्णो के आधार पर चुनाव लडा जा रहा है विट्ठल बाबा कहते हैं कि जो जात सामने खाट पर बैठने की हिम्मत नहीं करती उसे चुनाव में जीता कर हम उल्टा काम क्यों कर रहे है।"[1] कुलीन वर्ग का सुरक्षित अहं संवैधानिक मान्यताओं का आधुनिक परिवेश में भी तिरस्कार कर रहा है इसे प्रस्तुत कृति ध्वनित कर रही है।" "सती मैया का चौरा" में भी यहीं अभिजातीय दर्प स्फीति मुद्रा उभर रही हैं स्थानीय चुनाव सन्दर्भ में मुखरित 'अवधेश बाबु' की यह वाणी कि "कोइरी कोइलासी का हुकूमत सहने से डूब मरना अच्छा है।"[2] क्रांतिकालीन परिस्थितियों में शोषक समाज की मनःस्थिति के रूट असंतोष और वितृष्णा के जीवन्त रूपायन के साथ ही कथाकारों ने शोषित समाज के प्रतिक्रिया स्वरूप उभरते मनोभावों की तीव्र अकुलाहत और मनः संघर्ष की उत्तेजित स्थितियों को भी चित्रित किया है।

उदयशंकर भट्ट के 'लोक परलोक' में बोहरे मंगनी राम की पत्नी की फटकार से क्षुण्ध भंगिन काम छोड़कर चली जाती है। विवश बोहरे उसके मुहल्ले में जाता हैं तो भंगी अपने वर्तमान मताधिकार और सामर्थ की चर्चा कर उसे निरस्त्त कर देता हैं। पहले की बात पहले गई। अब जिनाये होइगो साब तुमार की कै हामरी बईभार बानिन कू कक्‌ू बोल जाय। अब हमें ऊ गॉधी ने बड़ा कर दिया है। हमारे ऊ वोट है। राजनैतिक संचेतना ने निम्न वर्ग को बौद्धिक विचारोत्तेजना प्रदान की है फलतः उसकी अभिवृत्तियाँ परम्परागत मूल्यों से सम्बन्ध विच्छेद कर स्वयं को परिवर्तित यथार्थ से जोड़ने में सफल होती दृष्टिगत हो रही है। कथाकार रूढ़िगत संस्कारों से मुक्ति प्रयास में संघर्षरत सर्वहारा वर्ग का नया मूल्यांकन प्रस्तुत करता है।

स्वतंत्रता परवर्ती सर्वहारा वर्ग की भूमिहीनता का आदर्शात्मक निदान 'भूदान' के माध्यम से इस देश के वयोवृद्ध मनीषी विनोबा भावे ने अन्तर्सभावनाओं के साथ प्रस्तुत किया है। भूपतियों की भूमि का स्वेच्छापूर्वक षष्टभाग लोक कल्याणार्थ प्राप्त कर श्रमदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान, विद्यादान का उपक्रम सैद्धान्तिक दृष्टि से नितान्त मानवीय और श्लाघनीय रहा किन्तु प्रतिगामी शक्तियों ने व्यावहारिक दृष्टि से इस आन्दोलन को विकृतियों का आगार बना दिया। स्वतंत्रता परवर्ती विगर्हणीय मूल्यों और राजनीतिक तथा प्रशासनिक स्तर पर पनपे भ्रष्टाचार ने इस सात्विक आन्दोलन की आत्मा को पूर्णतः विघटित कर दिया। स्वतंत्र्योत्तर किंचित कथाकारों ने इस विघटनशील

---

1. सबसे बड़ा छल : मधुकर सिंह, पृष्ठ–39
2. सती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ–603

आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में सर्वहारा स्थितियों का प्रमाणिक अंकन प्रस्तुत किया है। भूदान और सर्वहारा सन्दर्भ में अपना अभिमत प्रस्तुत किया है। डॉ0 विवेकी राय ने कि सदा की भाँति भूदान के सन्दर्भ में भूमिहीन लोग भूपतियों से प्रवंचित हुए[1]..............कतिपय कृतियों के भूदान के चित्रण के सन्दर्भ में विवेकी राय का यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है।

श्री लाल शुक्ल नें "रागदरबारी" में अपनी व्यंग्य विधायिकी क्षमता का आलम्बन लेकर भूदान की वास्तविक विकृति को विश्लेषित किया है। गाँव के बाहर एक लम्बा चौड़ा मैदान था जो धीरे-धीरे ऊसर बनता जा रहा था। अब उसमें घास तक नहीं उगती थी। उसे देखते ही लगता था कि आचार्य बिनोवा भावे को दान के रूप में देने के लिए यह आदर्श जमीन है। और यही हुआ भी था। दो साल पहले इस मैदान को भूदान आन्दोलन में दिया गया था वहां से वह दान रूप में गाँव सभा को मिला। फिर गाँव सभा ने इसे दानरूप में प्रधान को दे दिया। प्रधान ने दान के रूप में इस अपने रिश्तेदारों और दोस्तों को दिया और उसके बचे-खुचे हिस्से को क्रय विक्रय के सिद्धान्त पर कुछ गरीबों और भूमिहीनों को दिया। बाद में पता चला कि जो हिस्सा इस तरह गरीबों और भूमिहीनों को मिला था वह मैदान में शामिल न था बल्कि किसी के जमीन में पड़ता था। अतः उसे लेकर मुकदमा बाजी भी हुई। जो अब भी हो रही थी और आशा थी कि अभी होती रहेगी।"[2] प्रस्तुत अंश में उच्च समाज की छलनामयी प्रवृत्ति और विवश सर्वहारा जीवन की भूमिहीन वस्तु स्थिति का प्रमाणिक अंकन श्रीलाल शुक्ल ने रूपायित किया है।

उदयराज सिंह कृत 'भूदानी सोनिया' में भूदान आन्दोलन के श्वेत-श्याम दोनों पक्षों का प्रभावशाली अंकन संगुम्फित है। प्रो0 गोकुलदास के प्रवचन में उदान्त मानवीय मूल्यों के प्रति स्थापन का संदेश पाकर नेत्रहीन सूरदास अपनी अंतिम निधि भी समर्पित कर देता है। विनोबा जी के आह्वान पर सोनिया की मौसी भी तरल संवेगों से आर्द्र होकर कहती है कि ....'लिख लेना भैया मेरी भी जमीन भूदान यज्ञ को अर्पित है।[3]" जहाँ विश्व मानव के कल्याण के महत सन्देश इन निरीह और अंकिचनों के आभ्यांतर दिव्य नैसर्गिक आत्मज्योति जगाते है। लोलुप भूस्वामियों के मन में घृर्णित, संकुचित

---

1. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन : डॉ0 विवेकी राय. पृष्ठ-298
2. रागदरबारी : श्री लाल शुक्ल, पृष्ठ-118
3. भूदानी सोनिया : उदयराज सिंह, पृष्ठ-198

स्वार्थ की नई भूमिका बधती दिखायी देती है। ऐश्वर्यशाली दानबहादुर का बंजर धरती का दान इस आन्दोलन की विडम्बना का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

सच्चिदानन्द धूमकेतु के "माटी की महक" में भी उच्च वर्ग अमानवीय चित्तवृत्तियां भूदान का आश्रय लेकर सर्वहारा समाज को संत्रस्त करती है। विनोबा जी की भूदान प्रेरणा से उत्प्रेरित कुलीन गोपी बाबू अपनी झौंआ और कांस वाली अनुर्वरा भूमि भूदान में भूमिहीनों को दे तो अवश्य देते हैं किन्तु सर्वहारा समाज के रक्त से सिंचित लहलहाती धरती के प्रति विकट व्यामोह में पुनः उसे हस्तगत करना चाहते हैं। किन्तु अपनी धर्मपत्नी द्वारा प्रस्तुत सर्वहारा समाज के अन्धकारमय भविष्य की पीड़ा उनके मार्ग में बाधक बन जाती है कि जमीन को वापस छीन लेने से सैकड़ों गरीबों के मुँह का कौर छिन जाएगा।[1] उच्चवर्ग की लोलुप स्वार्थसिक्त दुर्नीति में फँसे भूदान यज्ञ का चित्रण मार्कण्डेय के "भूदान" में उपन्यस्त है। रामजतन हलवाई की अंतिम सम्पत्ति कुछ धूर जमीन भी ठाकुर द्वारा बलपूर्वक हस्तगत कर ली जाती है। पाँच बीघे तरी की पूँजी का रहस्य भूदान कमेटी के मंत्री जी द्वारा प्राप्त कर ठाकुर के जिस दान से उसे भूमि मिली है वह केवल पटवारी के कागज पर थी। असल में तो वह कब की गोमती के पेट में चली गयी है।[2] रामजतन की समस्त आशाओं–अभिलाषाओं पर तुषारापात हो जाता है।

रेणु की "परती परिकथा" में तो व्यक्तिगत स्वार्थों की चरम सीमा पर पहुँची अधोमुखी सामूहिक मनोवृत्ति न केवल भूदानियों का प्रतिकार करती है वरन् घोर प्रवंची लंगीबाज नेता लुच्चों के नेतृत्व में निहत्थे भूदानियों का संहार भी करने लगती है। कृतिकार अत्यन्त सहज मनोवैज्ञानिक संवेदना भी व्यक्ति का चित्रमय यथार्थ प्रस्तुत करता हैं। भूदान संदर्भ में.................. भूदानियों पर लट्ठ पड़ने लगे............साला। पहले जमींदारी सत्यानाश किया। तब सर्वे और सरब सोधन।[3] प्रस्तुत चित्रों में भूदान यज्ञ की मायावी यथार्थता को उपन्यासकारों ने तीक्ष्णता के साथ उद्घाटित किया है। मायानन्द मिश्र के "माटी के लोग सोने की नैया' में भूदान का सुभावह परमार्थी चित्रण इन कृतियों के चित्रण से सर्वथा विलग हैं। जहाँ भूदान में मिली 150 बीघे भूमि में से 50 बीघे भूमि सूरज नारायण बाबू की अनुकम्पा से नव दोलिया के भूमिहीन निषादों में वितरित कर उनकी समस्या सुलझा दी जाती है। डॉ0 विवेकी राय ने इस सन्दर्भ में

---

1. माटी की महक : सच्चिदानन्द धूमकेतु. पृष्ठ–283
2. भूदान : मारकण्डेय, पृष्ठ–93
3. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–328

अपनी यथार्थ अभिमति प्रस्तुत की है कि पाठ्य पुस्तकों में, समाचार पत्रों में, आंकड़ों में, नेताओं के भाषणों में, और रेडियो प्रचार में, भूदान की युग धार्मिता सर्तक सचेत शब्दावलियों मे भले व्यक्त मिले परन्तु यथार्थतः यह आर्थिक कार्यक्रम अपने देश में सांस्कृतिक कार्यक्रम के रूप शेष रह गया हैं।[1] भूमि और भूमिहीनों के सन्दर्भ में विघटितशील प्रवृत्तियों ने इस आन्दोलन को पूर्णतः निष्प्रभ बना दिया है। स्वतंत्रता परवर्ती इस महत्तर समस्या के निदान में अक्षम भूदान यज्ञ को अनुषंगिक आलेखन इसे ध्वनित करता है।

(ग)सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना का स्वरूपः

स्वाधीनता पूर्व और पश्चात के लोकमन की यथार्थता की उद्घाटन राजनीतिक चेतना दिग्दर्शन के आलेख के बिना अधूरा रह जाता है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने जनजीवन के आगार्तक संदर्भों के मध्य राजनैतिक स्तर पर विधि विद्रोह के उद्बोधक स्वरों का मनोयोगपूर्ण अंकन किया है। मूल्यानुसंक्रमण की अवधि में सर्वहारा वर्गीय चेतना के विभिन्न स्वरूपों को व्यंजित करने में अग्रणी नागार्जुन की कृतियों में सशक्त राजनीतिक चेतना का उभार परिलक्षित होता है। सामन्तवादी व्यवस्था में निरकुंश उत्पीड़कों के सर्वग्रासी शोषण के विरूद्ध सर्वहारा वर्ग को स्वत्व संरक्षण की भावना विश्व राजनीति की लहर में ही प्राप्त होती है। अधिकारहीन अतीत अधिकारपूर्ण वर्तमान में अपना सर्वतोमुखी उन्नयन करता हैं। "बाबा बटेसर नाथ" में रूपउली के प्रबुद्धों के समक्ष इस चेतना की एक झलक इन शब्दों में उभरती हैं कि लेकिन बाबू सही घटनाओं को लाखों दिमागों के अन्दर डाल देना कोई मामूली बात नहीं है रे?[2] यह अव्याहृत चेतना स्वतंत्रता परवर्ती राजनीतिक परिवेश में विपरीत परिणाम संदर्भो में विगलित होने लगती है। सर्वहारा वर्ग के मोहभंग की स्थिति का वस्तुपरक अंकन "नदी फिर वह चली" में होता है। हरि के व्यंग्य कथन में एक और राजनीतिक यथार्थ की तीक्षणता हैं तो दूसरी ओर इसकी परिधि में विवश सर्वहारा जीवन की नियति का प्रमाणिक उद्घाटन। राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में उभरते जनस्वर की प्रखर चेतना वस्तुस्थिति का समग्र बोध करने लगी है.............. सुना था कांगरेसी राज होगी तो सब दुख दलिदर भाग जायेगा। पाँच साल होने को आये गाँधी बाबा मर भी गये, हम लोगों का हाल वैसा का वैसा ही बना है। अंगरेज बहादुर का राज था, तो यही लोग गांजा, भांग, दारू,ताड़ी

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ0 विवेकी राय. पृष्ठ–221
2. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन, पृष्ठ–58

की दूकान बन्द करवाते चलते थे यहां तो तखत मिलते ही लोगों की बोली बदल जाती है।[1]

उपन्यासकार जीवन की चुनौतियां झेलने वाले वर्ग की मार्मिक अभिव्यक्ति को उन्हीं की अनगढ़ भाषा में प्रस्तुत करता हैं, सधे सर्तक शब्दों में सामयिक राजनीतिक यथार्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति करने वाला सर्वहारा भारतीय राजनीति की संगतियों–असंगतियों को पुनर्विश्लेषित करने लगा है। नागार्जुन, रेणु, धूमकेतु, रामदरश मिश्र, शिव प्रसाद सिंह की रचनाओं में उभरा सर्वहारा समाज राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण जागरूक और अधिकारों के प्रति नयी भंगिमायें प्रस्तुत करने वाला है।

भारतीय सर्वहारा वर्ग में राजनीतिक चेतना का स्फुरण विभिन्न संगठनों, सभाओं और संघों द्वारा आता है। डॉ0 विवेकी राय ने नागार्जुन को संघबद्ध राजनीतिक चेतना का प्रसारण कर्ता मानते हुए लिखा है कि वर्तमान भारतीय राजनीतिक में संघ बद्धता की विशेषता है—और इसका प्रभावशाली किन्तु अजटिल रूप में सर्वाधिक प्रयोग नागार्जुन के उपन्यासों में हुआ है। नागार्जुन समाजवादी यथार्थ के प्रस्तोता है। इसका दृष्टिकोण प्रगतिशील है। सर्वहारा क्रांति, जनवादी मोर्चा और संयुक्त मोर्चाओं जैसे विषयों का उनमें अत्यन्त सहज भाव से प्रस्तुतीकरण हो जाता है।[2] कतिपय आलोचक नागार्जुन को साम्यवादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित मानते हैं। वस्तुतः नागार्जुन ने चतुर्दिक समस्याओं से धिरे भारतीय ग्रामीण जीवन का विशद अवलोकन कर तत्कालीन शोषण और अत्याचार से सर्वहारा वर्ग की मुक्ति का मार्ग उनकी ही अम्य जिजीविषा में अन्वेषित किया है। सन् 1952 ई0 में रचित बलचनमा का बालचन गाँधीवाद जीवन दर्शन से प्रभावित है और आदर्शवादी राजनीतिक व्यामोह पूरी तरह विनष्ट नहीं हो पाता हैं फलतः समष्टिगत चित्तचिन्तन की प्रखर आकांक्षा में आहत हो जाता है। सन् 1954 ई0 में प्रकाशित "बाबा बटेसर नाथ" में नागार्जुन अपनी मोहविष्ट अवस्था का राजनैतिक दलों के संदर्भ में पूर्ण परित्याग कर "ग्राम वासियों को घनिष्ठा की नयी शक्तिमता प्रदान करते हैं। जनबल का संगठन का मंत्र फूकने वाली नागार्जुन की वाणी जन संघर्ष को राष्ट्रीय धारा से जोड़ कर किसान सभा नौजवान सभा और संयुक्त मोर्चा की स्थापना कर उच्चवर्ग के स्वेच्छाचारियों और तानाशाही से स्वयं को मुक्त करने का मार्ग खोज निकलती है।

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–293
2. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–403

व्यक्तिगत परिधि से निकल कर विश्व मानवता का पथ प्रशस्त करने वाली आस्था का गम्भीर स्वर इस सत्य का उद्घोष करता है कि सुखमय जीवन के लिए तुम्हारी यह सामूहिक प्रचेष्टा कभी मन्द न हो, स्वार्थ की व्यक्तिगत भावना कभी तुम्हारी चेतना को धुंधला न बना दे।[1] समय की गतिविधि के साथ–साथ उपन्यासकार की परिवर्तित विचारधारायें कृतियों के माध्यम से प्रतिध्वनित होती है। ''दुखमोचन' में सर्वोदयी विचारधारा का प्रवल आग्रह 'बरूण के बेटे' तक आते आते संघ शक्ति के प्रति समर्पित हो जाता है। ''हिन्द हितकारी समाज'' निषाद जाति के उन्नयन का नया स्वरूप निर्धारित कर जमींदार और पूँजीपतियों से टकराने की दिशा प्रदान करता है। मोचन मांझी और माधुरी के प्रगतिशील अन्तर्वती अभिनव आशय से संघर्ष और जनजागृति का नया स्वरूप उभरने लगता है। राजनीतिक मूल्यहीनता से अपनी विसंगतियों का एकमात्र प्रतिबद्धता रहित रचनाधर्मी निदान, नागार्जुन की समस्त कृतियों का प्रतिनिधित्व करता है। डॉ0 आदर्श सक्सेना ने नागार्जुन की कृतियों को पुनर्मूल्यांकित करते हुए सत्य ही लिखा है कि साम्यवादी विचारों से अनुप्राणित होने पर भी नागार्जुन का स्वर आस्थावादी है, यही उनकी प्रमुख विशेषता है।[2]

शोषित, दलित, सर्वहारा समुदाय गृहवार विहीन हो जाता है। वरन् राजनीतिक नेता एम0 एल0 ए0 मुकुन्द साहब की सहायता और पुलिस प्रशासन की पक्षधरता से वे बलदेव का समूलोच्छेदन करने में निर्भय होकर सक्रिय हो जाते है। जनवादी शक्तियों की उर्ध्वस्तता तथा सामन्ती वर्गो की सफलता का रहस्य राजनीति विषमता में ही अन्तर्निहित है। इसे लक्ष्य कर जनवादी नेता बलदेव कहता है कि अंग्रेज सरकार चौधरी की थी, यह वर्तमान सरकार भी चौधरी की है।[3] बुटाई सिंह की हत्या और अभिशप्त सर्वहारा वर्ग की करूण दशा पर असत्य का आवरण डालकर यह कहने वाला दरोगा की दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई गरीबी ने लोगों को लुटेरा और गुंडा बना दिया है।[4] सर्वहारा वर्ग की वस्तुस्थिति का राजनैतिक परिवेश में विघटनशील आकलन प्रस्तुत करता है।

''कलावे'' के शर्मशील भोले भीलों में राजनीतिक चेतना की सुगबुगाहट मिलती अवश्य है किन्तु प्रशासनिक स्तर पर राजनीतिक पदाधिकारियों द्वारा वे किस प्रकार छले जाते हैं इसका उदाहरण आदिवासी सम्मेलन के अवसर पर मिलता है। फूलचन्द

---

1. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन, पृष्ठ–154
2. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि : डॉ0 आदर्श सक्सेना, पृष्ठ–246
3. सबसे बड़ा कल : मधुकर सिंह, पृष्ठ–79
4. वही, पृष्ठ–109

व्यापारी उनकी जल सम्बन्धी समस्या के निदान का मिथ्या प्रवचन करता हैं तो ठाकुर दौलत सिंह एक हजार घंटे की आदिवासी सेवा और श्रम की अर्पिति की घोषणा करते हैं और मंत्री जी भूखे प्यासे झीलों के नृत्य में उच्चकोटि की कलानुभूति की व्याख्या करते हुए समारोह में प्रतिचित्र खिंचवाकर अखबारों के द्वारा देश भर में अपनी आदिवासी सेवा भावना का डंका पीटते दिखायी पड़ते है।

ग्राम जीवन धारिता उपन्यासों के अतिरिक्त तरार जीवन संदर्भो का व्यर्जित करने वाली कृतियों के सर्वहारा वर्ग में राजनीतिक चेतना का स्फुरण विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं मजदूर यूनियनों और संगठनों द्वारा हो रहा है। जन जागृति का सहिष्णु स्वरूप ही जन संघर्ष है। इसे चित्रित करने वाली कृति लोहे के पंख में रत्न नगर मील के श्रमिकों का शोषण और उसे उभरे विक्षोभ को राजनीतिक संचेतना की लहर और प्रखर बनाती है। और इस राजनीतिक चेतना के स्फुरण से उनकी स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन आता है। मंगरू इसे अभिव्यक्त करते हुए कहता हैं कि मजदूर तो अब भी मजदूर थे किन्तु तकलीफ सारी नहीं दूर हो गयी थी, मगर वे सिर उठाकर चलते थे सिर झुका कर नहीं।[1]

स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक परिवेश में सर्वहारा वर्ग को चेतना की नूतन आधारशिला मिलती हैं जो उनके समग्र विचारों को आन्दोलित करती है किन्तु इसके साथ–साथ विघटन के विकसित होते अनन्य कोणों से सर्वहारा वर्ग में आई विसंगतियों भी कम नही हैं। उपन्यासकारों ने इस सन्दर्भ में दोनों पक्षों की यथार्थ और मार्मिक अभिव्यंजन प्रस्तुत की है।

नेता, पुलिस और भ्रष्ट अफसर शाही प्रधान प्रशासन के शिकंजों में जकड़ी राजनीति में सर्वहारा वर्ग की पूर्व संचित अभिलाषाएं धूमिल पड़ने लगती हैं। मधुकर सिंह के सबसे बड़ा छल में उपन्यास राजनीतिक विडम्बनाओं का कुचक्र देशव्यापी स्तर पर सर्वहारा समाज के विवशता की अर्न्तकथा प्रस्तुत करता हैं। चौधरी बेला सिंह राजनैतिक छत्रच्छाया में आतंक का ऐसा दौर चलाते हैं कि न केवल रेणु ने "मैला आंचल" में राजनीतिक स्तर पर शोषित सर्वहारा संथालों का तरल हृदय द्रावी अंकन प्रस्तुत किया हैं। वेदखली और नई बन्दोबस्ती के चक्र में पिसते संस्थाली विस्नाथ परसाद का वीहान के खेत लूटते हुए सोशलिस्ट पार्टी के सोभा जाट जैसा आपराधिक व्यक्तियों द्वारा हताहत किये जाते है। संस्थालों में घायलों तक को गिरफतार कर लिया

1. लोहे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–333

जाता है। गैर संस्थालों में कोई गिरफ्तार तक नहीं होता। दरोगा साहब ने भी सोचा कि आग लगते झोपड़ा जो मिले सो लाभ।[1]" तहसीलदार साहब पाँच हजार रूपयों के बल पर संस्थाओं को कालापानी तक भेजवा देते हैं । सर्वहारा की इस दारूण स्थिति के लिए उत्तरदायी राजनीतिक विसंगतियों के यथार्थ को रेणु ने पूर्ण यथार्थ के साथ अनावृत किया है।

प्रस्तुत प्रसंगों का विश्लेषण–संश्लेषण कर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता हैं कि राजनीतिक मूल्य चेतना सर्वहारा वर्ग इस संदर्भ में संघर्ष उत्कर्ष की अभिनव उपलब्धियों के साथ स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में चेतनाशील है।

(घ)राजनीतिक एवं दलीय सर्वहारा की समस्यात्मक स्थितिः

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम पूर्व से चली आ रही अग्रेजों की दमनकारी नीति और उत्पीड़न के संदर्भ मे ही राजनीतिक नवजागरण का अंकुरण भारतीय जनमानस में सन् 1857 ई0 के गदर के रूप में होता है। इस क्रांति के असफलता के प्रतिक्रिया स्वरूप सन् 1885 ई0 में राजनैतिक राष्ट्रीय संस्था के रूप में कांग्रेस का अभ्युदय और स्थापना हुई। राजनैतिक संगठन के साथ – साथ सामाजिक और सांस्कृतिक धरातल पर उदय होने वाले विशिष्ट संघटनों से सम्बद्व युग पुरूषों की प्रेरणा से प्रभावित सामान्य जनजीवन में राजनैतिक चेतना की परिव्याप्ति ने समग्र राष्ट्रीय जीवन को अपूर्व गतिविधि प्रदान की । प्रथम और द्वितीय विश्व महायुद्ध के उपरान्त सन् 1942 ई0 की राजनैतिक क्रांति में अंग्रेजों भारत छोड़ों के समवेत निदान में इस विशाल भारत भूमि के जन–जन की स्वर लहरी गुंजायमान थी। स्वतंत्रता संघर्ष में प्रस्फुटित यही राजनैतिक क्रांति में आगे चलकर विश्व राजनीति से सम्पर्कित होकर अनेक दलों और संगठनों के रूप में उभरा। कांग्रेस के प्रति उभरते असंतोष ने सैद्धान्तिक रूप से जनमानस को तत्कालीन नवोदित राजनैतिक संगठनों से जोड़ दिया।

पाश्चात्य देशों में उदित साम्यवादी और समाजवादी दर्शन के क्षिप्रगतिक प्रसार और प्रचार ने भारतीय सर्वहारा के मानस को अपनी उग्रवादी विचारधाराओं से पूर्णतः आन्दोलित किया। स्वतंत्रता पूर्व निर्धारित लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक धरातल पर समत्व की प्राप्ति के लिए सर्वहारा वर्ग ने इनकी प्रतिबद्धता स्वीकार की। भारतीय सर्वहारा समाज की प्रतिबद्धता का राष्ट्रीय जीवन पर व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। दलीय सिद्धान्तों कार्यों और व्यवस्थाओं के प्रति अविच्छिन्न

---

1. मैला आँचल : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–245

आस्था और विश्वास से जुड़ने की प्रक्रिया ही दलीय प्रतिबद्धता है। विभिन्न दलों से जुड़े हुए सर्वहारा वर्ग का आनुषंगिक चित्रण स्वातंत्र्योत्तर कृतियों में पूर्ण प्रमाणिकता से चित्रित हुआ है।

स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात की राजनैतिक गतिविधियों को प्रतिबिम्बित करने वाली रेंणु की प्रथम आंचलिक कृति "मैला आंचल" में विभिन्न राजनैतिक दलों से प्रतिबद्ध सर्वहारा वर्ग का सहज और स्वाभाविक प्रत्यंकन हुआ है। "मेरीगंज" को आधुनिक जागरूकता प्रदान करने में विभिन्न राजनैतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अवांछित तत्वों की समादृष्टि के कारण राष्ट्रीय राजनैतिक संस्था कांग्रेस पार्टी का व्यापक प्रभाव शनैः शनैः क्षीण हो रहा है। बालदेव और वामनदेव की गांधीवादी अहिंसात्मक नीति साधारण जनों की युगधर्मी हिताकांक्षा का विस्मरण करती जा रही है, और वर्ग विशेष अपनी मोहभंग की स्थितियों को स्वीकारते हुए दूसरे दलों से प्रतिबद्ध होनेके लिए बाध्य हो रहे है। गांधी जी के नाम पर भूखे बच्चों का पेट काट कर,[1] मुठिया देने में तत्पर सर्वहारा परिवर्तित परिस्थितियों में समाजवादी दल और उसके नेता कालीचरन से प्रतिबद्ध होता दिखाई पड़ रहा है। शदियों से उपेक्षित दलित और शोषित निम्नवर्गीय सर्वहारा समाज में स्वत्वबोध की लहर इतनी तीव्रता से आती है कि वे किसान मजदूरों के नये राज की कल्पना का साकार स्वरूप कालीचरन के भाषण में देखने लगते है। उपन्यासकार दलीय प्रतिबद्धता का प्रखर आलेखन कालीचरन उसके दल और सर्वहारा संदर्भ में प्रस्तुत करता है। गाँव में होने वाली सभा में कालीचरन को ओजस्वी वक्तत्व सर्वहारा वर्ग में गूंजने लगती है। यह जो लाल झंड़ा है आपका झंड़ा है, जनता का झंड़ा है, अवाम का झंड़ा है, इंकलाब का झंड़ा है। इसकी लाली उगते हुए आफताब की लाली है, यह खुद आफताब है। इसकी लाली इसका लाल रंग क्या है? रंग नही। यह गरीबों महरूमों, मजलूमो, मजबूरों, मजदूरों, के खून में रंगा हुआ झंडा है। ....जमीनों पर किसानों का कब्जा होगा। चारों ओर लाल धुंआ मंड़रा रहा है। उठ्ठो किसानों, किसानों के सच्चे सपूतो। धरती के सच्चे मालिकों उठ्ठो। क्रान्ति की मशाल लेकर आगे बढ़ो।[2] दलीय प्रतिबद्धता से नये–नये वर्गों का उदय हो रहा है और विभिन्न वर्गों में द्वन्द्व संघर्ष की नई प्रभाव परिजातियाँ दृष्टिगोचर हो रही है रेणु की दूसरी कृति 'परती परिकथा' का समग्र परिवेश राजनैतिक संदर्भो से गतिशील

---

1. मैला आँचल : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–163
2. वही, पृष्ठ–109

बना रहता है। कांग्रेस, कम्युनिष्ट, सोसलिस्ट आदि राजनैतिक दलों से वर्गीय हितों के अनुरूप जुड़े लोगों का पारदर्शी अंकन इस कृति में भी उभरा है। अशिक्षा, अर्द्ध शिक्षा, बेकारी, अज्ञानता और निर्धनता आदि के बोझ से दबा सर्वहारा वर्ग लैण्ड सर्वे सेटलमेन्ट की आंधी में लुत्तों की कांग्रेस पार्टी से प्रतिबद्ध हो जाता है। स्वतंत्रोपरान्त पूर्वमान्य पार्टी और नेताओं से असंतुष्ट होकर आपदागत होने पर यही वर्ग अन्याय दलों से प्रतिबद्ध होने लगता है। लुत्तो, गरूड़धुज झा,रोशन विस्वाँ और मकबूल की विभिन्न पार्टियों से जुड़ते सर्वहारा की दयनीय स्थिति का अंकन उपन्यासकार बडी कुशलता से करता है। पार्टी पालिटिक्स के इस युग में पार्टी और नेता के मध्य प्रवंचित सर्वहारा कोरे नारे और मिथ्या प्रवादों के मध्य से गुजरता है। कम्युनिस्ट पार्टी का मकबूल सामाजिक कार्यों को भी दलीय दृष्टि से ही भापता है। जितेन्द्र के ग्राम भोज के अवसर पर निम्न वर्ग के लोगों के समक्ष भाषण देता है कि पार्टी यूनिट के सेक्रेटरी को इस मौज में नहीं जाना चाहिए। बाकी सभी सदस्य ग्रामवासी की हैसियत से भोज खाने जाये और वहां यह भी देखें कि अपनी पार्टी से प्रभावित किसानों और मजदूरों के पत्तल में सारी चीजें समान रूप से परोसी गयी है या नहीं[1] दलीय प्रतिबद्धता की विभिन्न मुद्राओं का सहज उपन्यासकार की संतुलित दृष्टिबोध को भी उजागर करता है। आरोपित प्रसंगों की अतिवादिता से शून्य सर्वहारा की यथार्थ मनोज्ञता का सूक्ष्म वृत्तिचित्र उभरता है, दुलारी दाय के पुनर्जीवित होने वाले प्रसंग में। वास्तविकता से दूर रहने वाला जनसमुदाय समाचार मिलते ही हाहाकार करता हुआ इन नेताओ को घेर कर आतूर कण्ठ से कहने लगता है कि उपाय कीजिये जान बचाइये। लुत्तों बाबू[2] इस सामूहिक पुकार पर अधकचरे नेता लुत्तों बाबू न केवल परानपुर में परन सभीपस्थ गांवों के निम्नवर्गीय समूह में उत्तेजना की ऐसी लहर फैलाते है कि वे दलमदा उठते हैं। उपन्यासकार इस दृश्य का साकार बिम्ब चित्र खीचता है। इन शब्दों में कि गाँव–गाँव के लोग जत्थें बनाकर आ रहे है। झंडे लहराते है विभिन्न पार्टियों के।[3] रेणु ने सर्वहारा वर्ग की इस संश्लिष्ट दलीय प्रतिबद्धता का यथास्थिति चित्र रूपांकित किया है। राजनीतिक दांवपेंच में असहाय सर्वहारा वर्ग विभिन्न दलों से प्रतिबद्ध हो रहा है किन्तु उनके हितों की रक्षा का सबल माध्यम कहीं भी दृष्टि पथ में नहीं आ रहा है। राजनैतिक विपथगामिता से संत्रस्त सर्वहारा का सजीव चित्रण नागार्जुन के "बलचनमा"

---

1. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–260
2. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–253
3. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–362

और बाबा बटेसरनाथ में उभरा है। बलचनमा अपनी राजनीतिक प्रवेशावस्था में इस दल के प्रति पूर्ण आस्था और विश्वास से प्रतिबद्ध होकर सोचता है कि मैने सोचा मुलुक से अंग्रेज बहादुर चला जायेगा फिर यही बाबू भैया लोग अफसर बनेगे और तब इस बाबा जी महाराज का भी उद्धार हो जायेगा। इसके हाड़ो पर मांस चढ़ेगा, चेहरे चिकनाई आवेगी। बुढ़ा हो जाने पर पढ़ गुन तो क्या सकेगा–मगर बाकी आराम सुमिस्ता इस रसोइये को भी मिलगा।[1] इन मानसिकता का मोहभंग होते ही बलचनमा अन्य राजनीतिक दंल सोशलिस्ट और समाजवादियों से प्रतिबद्ध हां जाता है। "बाबा बटेसरनाथ" में भी क्रमशः दलीय प्रतिबद्धता की यही स्थिति दृष्टिगोचर होती है। लोहे के पंख का श्रमिक सर्वहारा मंगरू स्वयं को गांधी और गांधी जी को पार्टी कांग्रेस से प्रतिबद्ध कर कहता है कि जो आदमी गांधी बाबा के दल में चला जाता है उसकी सारी बुराइंयॉ दूर हो जाती है।[2] किन्तु दयानाथ और बड़ोदकर बाबू जैसे नेताओं का अवसरवादी मुखौटा उतर जाने पर यही लोग इनकी भंड़ा बरदारी को कबूल करने के लिए अब तैयार नहीं हो रहे थें।[3] हिमांशु श्रीवास्तव लोक मन की इन प्रतिक्रियाओं की सूक्ष्म संश्लेषण प्रस्तुत करते है। मंगरू के बदले हुए राजनीतिक तेवर की यह अभिव्यक्ति उसकी विभिन्न दलों की ओर रूझान दलीय प्रतिबद्धता और अप्रतिबद्धता का सूक्ष्म संकेत प्रस्तुत करती है। वह सोशलिस्ट पार्टी के प्रति प्रतिबद्ध होता हुआ कहता है कि गांधी बाबा में हम लोगों के लिये क्या कर रहे है? अपने साथ दोस्तों को राष्ट्रपति गवर्नर और मुनिस्टर बना दिया उससे हम मजदूरों को क्या?[4] सर्वहारा प्रतिनिधि मंगरू की प्रतिबद्धता कालान्तर में पुनः परिवर्तित हो जाती है। उपन्यासकार इस प्रक्रिया में विशद् राजनीतिक सत्योद्घाटन करता है। कम्युनिस्ट पार्टी की बंधती भूमिका में सोशलिस्ट पार्टी की वास्तविकता की यह व्याख्या कि यह पार्टी और कुछ नही काग्रेंस की छोटी बहन है।[5] बदलते दृष्टिबोध की व्याख्या है। सर्वहारा नेता मंगरू के समक्ष संतरे का रस पीकर मार्क्स और लास्की की कम्युनिस्ट पार्टी की दलील पेश करने वाले नेता अपने दल के प्रति प्रतिबद्ध करने के स्थान पर मंगरू की भावनाओं में विलक्षण निराशा और संत्रास की स्थिति उत्पन्न कर देते है। उपन्यासकार विभिन्न राजनीतिक दलों के परिप्रेक्ष्य में सर्वहारा वर्ग की अन्तर–वाह्य विसंगतियों का तर्कपूर्ण यथार्थ अंकन कर उनकी निस्सारता निरूपित करता है। भारतीय राजनीति और दलीय

---

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–164
2. लोहे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–284
3. वही,पृष्ठ–290
4. वही,पृष्ठ–293
5. वही,पृष्ठ–391

प्रतिबद्धता के प्रति मंगरू के माध्यम से परिवर्तित युग धर्मिता का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और कृतिकार की बेलगाम कलम से उद्घृत प्रस्तुत समीक्षा कि मुझे तो ऐसा लगता है कि देश के नेताओं ने तरह–तरह के सिद्धान्तों की रट लगाकर मजदूरों किसानों के दिमागी कंधे पर लोहे के पंख बांध दिये है। वे इतने बोझिल हो गये है कि सुख और शान्ति के आसमान में उड़ने की बात सोच तो सकते है, लेकिन उड़ नही सकते। वे सोच नहीं सकते कि किस पार्टी का झंड़ा मुझे ऊपर उठायेगा। राजनीतिक दलों के प्रति उभरती और मिटती प्रतिबद्धता का अंकन ग्रामभित्तिक अन्यान्य उपन्यासों में पूर्ण यथार्थता के साथ चित्रित हुआ है। रामदरश मिश्र, भैरव प्रसाद गुप्त, शिवप्रसाद सिंह, धुमकेतू की कृतियों में क्रमशः कांग्रेस, सोशलिस्ट और साम्यवादी दलों से प्रतिबद्ध होते सर्वहारा की प्रतिबद्धता का चित्रांकन हुआ है।

स्वतंत्रोपरान्त समता की संवैधानिक उद्घोषणा सर्वहारा वर्ग को राजनीतिक आयामों से जोड़ती है तो दूसरी ओर यही वर्ग राजनीतिक रथचक्र में विषम पीड़ा भोग की दलन भी भोगता है। हर वर्ग के समानाधिकार, स्वतंत्रता के चौवन वर्षीय वृहद अन्तराल के उपरान्त भी कितनी उपलब्धि करा पायें यह समान्य जनजीवन की वास्तविकता को टटोल कर ही देखा जा सकता है। प्रशासन के विभिन्न अंग नेता, पुलिस और अफसरशाही के शिकंजें में फँसा हुआ सर्वहारा लोकतंत्रात्मक मूल्यों की कितनी उपलब्धि कर सका है इसका अत्यन्त सूक्ष्म अंकन इस अवधि की कृतियों में हुआ है।

प्रख्यात कथाकार शिव प्रसाद सिंह की "अलग–अलग वैतरणी" में नैतिक शोषण की पृष्ठभूमि में पराभूत सर्वहारा की वस्तुस्थिति और नेताओं की घृणित मनोवृत्ति का दृश्य उपस्थित है। करैता में असवर्णो के बटोर में मजदूर संघ के प्रख्यात नेता लच्छीराम रामकिशुन के चलने के आग्रह पर कहते है कि "पर हमारी फीस तो आप जानते ही है?[1] न वकील, डाक्टर, वैद्यों की फीस के उपरान्त इस नयी फीस के विषय में इस असवर्ण नेता का यह अपनी ही जाति बिटोर के लिये दिया गया स्पष्टीकरण कितना घृणास्पद है .... कि पचास रूपयें से कम पर मैं नही जाता ऐसी बटोरों में कुछ कुघट घट गया तो अखबारों में नाम तो मेरा ही छपेगा। बदनामी मेरी ही होगी। औरों को कौन जानता है। ऊपर ऐसी हालत में इधर उधर लोगों को पान–पत्ता केलिए

---

1. अलग–अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ–603

कुछ चाहिये की नहीं?[1] मामला तीस रूपये पट गया।[2] राजनैतिक अनैतिकता की आपाधापी रूपी आकाश वेल ने समग्र परिवेश को ही जकड़ कर उनकी प्रगति अवरूद्ध कर दी है। लच्छी राम उस नेता वर्ग के टाइप्ड प्रतिनिधि है जो हर स्थान पर अर्थ लाभ का रास्ता अपना लेते है। पद और मर्यादा से अनीति का सार्वभौम सत्य इस प्रकार जुड गया है कि उससे विलग नेता वर्ग की कल्पना भी नहीं हो सकती। गरीब सर्वहारा वर्ग का यह प्रतिनिधि उनसे रूपये ऐंठ कर उनकी असमर्थता का उपहास उड़ाता हुआ चला जाता है। पुलिस का दरोगा दलित वर्ग के रामकिशुन को ही बुलाकर सुखदेव राम के जरिये पान पत्ते के लिए सौ दो सौ की मांग करता है।[3] उपन्यासकार तटस्थ होकर राजनीतिक परिवेश में सर्वहारा की विकट स्थिति की वास्तविकता उद्घाटित करता है। अपने ही वर्ग के प्रभुतासम्पन्न लोगों से सन्त्रस्त और भयभीत विपन्नों की विघटनशील स्थिति मार्मिकता सहज द्रष्टव्य है।

"कत तक पुकारूं" में पुलिस प्रशासन के बांके और रूस्तम खां द्वारा निरीह विवश करमठों के शोषण का लोमहर्षक चित्रांकन हुआ है। पुलिस प्रशासन और अफसर शाही से त्रस्त सर्वहारा आदिवासियों की अभिव्यक्ति "शानी" के कस्तूरी में उभरती है। तेज सिंह कहता है कि मैं इन सरकारी अधिकारियों को जानता हूँ आदिवासियों के कल्याण का ढ़िढोरा पीटते है, उसी की रोटी खाते और मजा यह कि उन्हीं की इज्जत पर डाका डालते है।[4] इनकी अनीतियों से परिचित असहाय वर्ग सब कुछ जानते हुए भी कानून और असमर्थता के शिकंजे में फँस कर प्रतिरोध करने में असमर्थत है। थाना पंचायत कानून और नियम उच्चवर्ग के लिए पहले से ही सुरक्षित है। मालिक द्वारा सिर फोड़ देने पर 'बबूल' का महेसवा पूरे गाँव के समक्ष फरियाद करता और गिड़गिड़ाता हुआ पुलिस के भय से कहता फिरता है कि 'देखों' है मालिकों एक तो दोनों माँ बेटे मारकर बेहाल कर दिये गये, दूसरे पता चलता है कि थाने पर गये है न जाने क्या करेगे कोई चलकर समझा दे कि गरीब को सताकर क्या पावेंगें ?[5]

भ्रष्ट अफसरशही के प्रत्यक्ष विरोध में असमर्थ सर्वहारा की वैचारिकता में प्रबल विद्रोहाग्नि धधक रही है। 'सूरज किरन की छांव" का सामान्य ग्रामीण कहता है कि सारे अफसर अपना खींसा भरते है, डास को चूसते है, कहते है आजाद हुए है,[6] "पानी के प्राचीर में" हरिजन नारी विंदिया के प्रति अपने अधिकारों का घृणित दुरूपयोग करने

---

1. अलग–अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह,पृष्ठ–603
2. वही, पृष्ठ–604
3. अलग–अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ–612
4. कस्तूरी : शानी, पृष्ठ–43
5. बबूल : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–25
6. सूरज किरन की छाँव : राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ–83

वाला दारोगा भारतीय प्रशासन की अक्षमता और दुर्व्यवस्था का प्रमाण प्रस्तुत करता है। अक्षम नौकरशाही का ज्वलंत उदाहरण 'बरूण के बेटे' में मिलता है निषाद जाति के आपदाग्रस्त जीवन की सहायता के लिए मछुआ संघ की ओर से भेजे गये लिखित मेमोरेडंम पटना और दिल्ली के महाप्रभुओं का ध्यान आकर्षित करने में अक्षम रहते हैं।

जनजन के कल्याण का गांधी जी का स्वप्न "जल टूटता हुआ" में अधूरा ही रह जाता है। उपन्यासकार इस दुरावस्था को इन शब्दों में उपन्यस्त करता है कि गांधी सत्ता उद्योग सुविधा सबका विकेन्द्रीकरण कर गांवों में विखेर देना चाहते थे लेकिन उनके उत्तराधिकारी नेता लोग गांवों को दूर कर केन्द्रों को सजा रहे है।[1] सत्ता के केन्द्रीयकरण ने जहां समृद्धशाली वर्ग की समृद्धि में गुणात्मक परिवर्धन किया है, सर्वहारा वर्ग हर क्षेत्र में नित्य प्रति अकिंचनता को प्राप्त करता जा रहा है। राम दरश मिश्र ने अपनी कृतियों में शासन सत्ता, नेता भ्रष्टाचार और युगधर्मी ह्यसमान प्रवृत्तियों का राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में यथार्थ विश्लेषण कर सर्वहारा वर्ग की दयनीयता को सुस्पष्ट किया है। मांटी की महक, मैला आंचल, परती परिकथा और कलावे, आदि उपन्यासों में प्रशासनिक भ्रष्टाचार का खोखलापन उभर कर समने आया है किन्तु उदय किरण, "माटी के लोग सोने की नैया" आदि कृतियों में प्रशासनिक क्षमताओं के प्रति ओढ़ी गयी आदर्शवादी आस्था और विश्वास की मानसिकता उभरी है।

भारतीय राजनीति को सर्वाधिक विघटन, क्षति और आघात पहुंचाने वाले वर्णभेद और तज्जन्य वर्ग भेद की प्रवृत्ति का सूक्ष्म और सजीव अंकन रेणु की परती परिकथा में उपन्यस्त है। वर्ग संघर्ष के सूत्रपात का कारण भी यही भेदमूलक प्रवृत्तियां रही है। प्रमुख लंगीबाज जन नेता लुत्तों अपने जोशीले भाषण में इस युगधर्मी विघटनशील प्रवृत्ति को प्रश्रय देता हुआ कहता है कि एक भी गरीब भाई के खिलाफ गवाही नहीं देगा.......... ..धोबी, चमार, नाइ, बढ़ई, और खवासों को विशेष रूप से संगठित होने को कहा है सभापति जी ने,[2] वर्णभेद की विषमता पूर्ण स्थिति ने इन्हें एक सूत्र में बाँधने के लिए विवश किया है। वर्णभेद की नीति से त्रस्त सर्वहारा की यथास्थिति का चित्रण "नदी फिर बह चली" में भी प्राप्त होता है। विभेद मूलक राजनीतिक परिवेश में घोर जातीयता के मध्य पिसती हुई परबतिया का यह कथन उसकी विवशता ध्वनित करता है, 'हाय रे इस जांत–पातं के झगड़े में तो मेरा बुरा हाल हो रहा है'.।[3] उच्च और निम्न वर्णों के

---

1. जल टूटता हुआ : रामदरश मिश्र, पृष्ठ–462
2. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–78
3. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–300

विषम अन्तराल में वर्ग–संघर्ष की गहरी जड़े जमती जा रही है। राजनीतिक एजेन्ट से जनार्दन राय अपने प्रत्युत्तर में वर्गभेद का सारांश प्रस्तुत करते है कि गरीब है। भरपेट खाने को मिल जायेगा, मस्त रहेगा। और कहीं दुखडा–धंधा करके बढ़ गया, तो आगे चलकर वही लोड़ा अखफोंड़ हो जायेगा।[1]

समाज के समर्थ वर्ग की यही मनोवृत्ति राजनीतिक संदर्भो में नये वर्गों के संगठन के लिये उत्तरदायी है। जाति धर्म और सामूहिक हित की भावना से पुर्नगठित होने वाले वर्गो में मूलतः दो ही वर्ग उभरते है, अमीर और गरीब, उच्च, और निम्न। वर्गीय हितों के लिए सामाजिक और राजनैतिक विचारधारा की प्रतिबद्धता को स्वीकार ने वाले सर्वहारा वर्ग की आन्तर वाह्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण अनेक स्वातंत्र्योंत्तर उपन्यासों में उभरा है। प्रजातांत्रिक मूल्यों को स्थिर रखने के लिये विरोधी दलों से प्रतिबद्ध सर्वहारा का चित्रण "बाबा बटेसर नाथ" में चित्रांकित है। भैरव प्रसाद गुप्त की कृति 'मशाल' और 'सती मैया का चौरा' में साम्यवादी दल की प्रतिबद्धता स्वीकार ने वाले श्रमिक वर्ग की झलक अनुस्यूत है। पात्रों के परिसम्वादों में रचनात्मक स्तर पर उभरी दलीय प्रतिबद्धता कथाकार की मानसिकता की बैसाखियों पर टिकी हुई है। सर्वहारा श्रमिकों की सभा में गूंजते व्याख्यान की ये पंक्तियाँ कि आज हमें यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि जब तक रूस को विजय नहीं मिल जाती तब तक फासिस्टी ताकते नही मिट जाती, तब तक हम चैन नही लेंगे।[2] उपन्यासकार की भी दलीय प्रतिबद्धता का तटस्थतहीन संदर्भ संगुफित करता है। रेणु की कृतियों में सर्वहारा वर्ग की सूक्ष्म संश्लिष्ट राजनैतिक प्रतिबद्धता दृष्टिगोचर होती है। युगधर्मी संचेतना की गत्वरता क्रमशः सर्वहारा वर्ग की विभिन्न दलों से प्रतिबद्ध करती है राजनीतिक नेता कालीचरन के उत्तेजनात्मक भाषण से किसान, मजदूर और आदिवासियों में अपने व्यापक हितों की संरक्षा का भाव उदित होता है शोषण, पीड़ा और दलन के प्रतिकार के लिए गांव का निम्न वर्ग लाल झंडे के लिये प्रतिबद्ध होता हुआ अधिकार बोध का स्वर गुंजरित करता है

जमीन जोतने वालों की ?............................

मजदूर राज कायम हो।[3]

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–321
2. मशाल : भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ–117
3. मैला आँचल : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–126

स्वतंत्रता पूर्व लिखे गये उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग को हरिजन अथवा अछूत की संज्ञा मिली हैं और प्रेमचन्द के उपन्यासों में इनके उद्धार, सुधार और उत्थान के गाँधीवादी कार्यक्रम लक्षित होते हैं किन्तु सन् चालीस के बाद जब गांधीवाद मर जाता है तो इस सम्बन्ध में आमूल और व्यापक परिवर्तन लक्षित होता है। क्षुधा सम्बन्धी दृष्टिकोण क्रांतिकारी आयामों में बदल जाता है। इस क्रांतिकारी दृष्टिकोण को सबसे अधिक प्रोत्साहन और प्रतिष्ठा साम्यवादी शिविरों से मिलती है। जिसके फलस्वरूप उपन्यासों में वर्ग संघर्ष के बिन्दु उभरते है और नये सतेज जनवादी साहित्य अथवा प्रतिबद्ध कथा साहित्य सामने आता हैं। वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में बहुत कम ऐसा हुआ है कि राजनीति से पृथक कर सर्वहारा वर्ग के मूलभूत बिन्दूओं को व्यापक रूप से अंकित करने की चेष्टा की जाय। उनकी समस्याओं का एकमात्र हल राजनीतिक दल के रूप में व्याख्यायित हुआ है। एक दृष्टि से यह उचित ही है क्योंकि लोकतंत्र के राजनीति से रहित सामाजिक या आर्थिक समस्याओं का हल बहुत कठिन है। प्राचीनकाल में जो कार्य समाज सुधारकों ने किया है, वही कार्य आज राजनीतिज्ञों के सिर है। प्रश्न राजनीतिक दिशाओं की है। सम्प्रति आधुनिक उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की समस्याओं का हल गांधीवाद से सम्भव होता न देख कर साम्यवाद और उससे लगे विभिन्न वामपंथी कार्यक्रमों में उभर पा रहा है। इसकी अन्तिम परणति समांतर आन्दोलन के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है।

दिसम्बर, सन् 1975 ई0 को राजगिरि विहार में सम्पन्न होने वाले अखिल भारतीय सामांतर लेखकों की पाँचवीं गोष्ठी मे "अजित पुष्कल" ने अपने लेख "ग्रामीण संदर्भ एवं परिस्थितियों में स्वाधीनतापूर्व ग्रामीण खेतिहर और मजदूरों के विषय में उल्लेखनीय विवरण प्रस्तुत किया है।"........ मजदूरों पर अत्याचार अब भी कम नहीं हुआ, खेतिहर मजदूर अब भी विद्रोह नहीं कर सकता, यदि वह संगठित होकर कोई निर्णय लेता है, तो उसे कुचल दिया जाता हैं..............[1] सर्वहारा वर्ग के सर्वेक्षण के उपरान्त इन सम्मेलेनों के घोषणा पत्रों से इस आन्दोलन की तीक्ष्ण प्रतिक्रिया सम्मुख आती है। अगस्त सन् 1976 ई0 की सारिका में दलित और समांतर लेखकों का संयुक्त घोषणा पत्र प्रकाशित हुआ। यह घोषणा पत्र पाँचवें अखिल भारतीय समांतर सम्मेलन में स्वीकृत किया गया और ऐसा लगता है कि इस घोषणा पत्र में कथा साहित्य से अधिक

---

1. सारिका जून अंक 1979 वर्ष 19 : पूर्णांक 182 पृष्ठ—187

वामपंथी राजनीतिक चेतना उभरी हुई है। लेखकगण सर्वहारा के पक्षधर होकर घोषित करते हैं कि वे उनमें शामिल और समबम्द्ध हैं। सर्वहारा के वर्ग–संघर्ष की रचनात्मक भूमिका को सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिलती है। घोषणांक तीन में कहा जाता है कि हम साहित्य की भूमिका को उस सर्वहारा या आम आदमी के लिये समर्पित कर देना आवश्यक समझते हैं जो आज भी धर्म तथा संस्कार की रूढ़ियों में अपनी अधिकार हीनता, अर्थहीनता के कारण जकड़े हुए है।

अंतिम छठवीं घोषणा में वर्ण व्यवस्था, जाति, धर्म, सम्प्रदाय की अवैज्ञानिकता और सत्यं, शिवं, सुन्दरं की आदर्शवादिता को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सर्वहारा के संघर्ष में शामिल, परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध और उसी से सम्बद्ध समांतर रचनात्मकता ही वह कारगर विकल्प हो सकती है। जो हमारे समय में संगत तथा मनुष्य के लिए सार्थक हो। अतः हम अपनी शताब्दी में यह निश्चय कर लेना चाहते है कि सत्य निरपेक्ष नहीं है। हर सत्य मनुष्य और समय सापेक्ष है तथा कोई कला या साहित्य मनुष्य से बड़ा या उससे ज्यादा महत्वपूर्ण नही है।"[1]
प्रख्यात कथाकार धूमकेतु जी ने समांतर साहित्य पर प्रकाश डालते हुए इसी आम आदमी की चर्चा मोतिहारी में आयोजित समांतर साहित्य वार्ता में करते हुए बताया कि समान्तर लेखन आम आदमी की विद्रूप समस्याओं से सीधे टकरा रही है।[2]

कमलेश्वर, मधुकर सिंह, कामता नाथ और रमेश उपाध्याय आदि कथा लेखक समांतर कथा साहित्य को गति दे रहे हैं। इस साहित्य में सर्वहारा की जगह पर एक नया शब्द आया है और वह शब्द है आम आदमी । इस आम आदमी में किसान, मजदूर और मध्यम वर्ग का वह आदमी है जो शोषित और पीड़ित है।

डॉ0 सुमन मेहरोत्रा ने अपने निबन्ध समान्तर कथा साहित्य में आम आदमी की तस्वीर के अन्तर्गत उस आम आदमी का विवेचन प्रस्तुत किया हैं, जिससे कथा साहित्य पूर्णरूपेण प्रतिबद्ध हो चला हैं। आज के कथा साहित्य का अनुभव स्त्रोत्र संवेदना का आग्रह, आधुनिक जीवन दृष्टि की प्रकिया, समानांतर विकास तथा उसके स्तरीय संदर्भो को रचना आदि ने उसे शिव और सुन्दर पर नहीं प्रमुखतः सत्य पर केन्द्रित किया है। कटु, क्रूर और निर्मम सत्य पर।[3]

---

1. सारिका : अगस्त, 1979, पृष्ठ–91
2. सारिका : फरवरी, 1979, पृष्ठ–88
3. वीणा, वर्ष–49, सितम्बर, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर 1979 अंक.9.10.11.12. श्री अ0 मा0 हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर, पृष्ठ–17

यह व्यक्ति जिसे आम आदमी के नाम से पुकारा गया महानगरों को गहरी भीड़ की ऊब, घुटन, शोर में दिग्भ्रमित अकेला घूमता अपने आस-पास की परिस्थितियों से विवशतापूर्ण जुड़ा है, जो तनावपूर्ण और द्वन्दात्मक स्थिति को जन्मदात्री है।[1] आम आदमी का समग्र विश्लेषण करते हुए लेखिका ने लिखा हैं कि इस आम आदमी की तस्वीर कथा साहित्य में अत्यधिक विस्तृत है। आम आदमी वह भी कथा है जो अपाहिज शरीर को ढ़ोता हुआ सड़कों पर भीख मांगता हैं और आम आदमी वह भी जो अपनी डिग्रियों का बन्डल दबाये हर दफ्तर के दरवाजे खटखटाता है। आम आदमी वह भी है जो झुग्गी झोपड़ी में रहता हुआ पेट की ज्वाला शांत करने में ही तमाम जिन्दगी जूझता रहता है, और आम आदमी वह भी है जो आस्थाओं और नैतिकता की गिरती दीवारों से एक सीमा तक जुड़ा हुआ है। आम आदमी वह भी है जो संस्कार, संस्कृति, नैतिकता, मूल्यों को ताक में रखकर केवल अपनी जिजीविषा को सहेजने के उपरान्त भी अपनी ही शिनाख्त के लिए प्रत्येक आदमी के चेहरे को टटोलता है। यह आम आदमी चाहे शहर का हो, या गाँव का या किसी अंचल का, सम्वेदना के स्तर पर समान ही सम्प्रेषित किया जाता है।[2]

लेखिका ने आम आदमी के रूप में भारतीय सर्वहारा के विभिन्न स्तरीय प्रारूपों का सम्यक संश्लेषण प्रस्तुत किया है सदाशिव द्विवेदी ने भी अपने निबन्ध में सर्वहारा के प्रति प्रतिबद्ध आलेखन को भी रचनाकार का दायित्व निरूपित करते हुए लिखा हैं कि उर्द्ध औपनिवेशित देश में सर्वहारा वर्ग समाज का सर्वाधिक शक्तिशाली अंग होता है। ऐसे देश के लेखकों का एक मात्र दायित्व हैं सर्वहारा अर्थात साधारण जनता के लिए लेखन।[3]

उपरोक्त संदर्भो में एक बात उभर कर आती है कि साहित्य के द्वारा इस आम आदमी की चेतना को जाग्रत करना राजनीतिक उत्तरदायित्व समझा जाता है। किन्तु इस समूचे आम आदमी के आन्दोलन और उसकी लड़ाई को एकमात्र वामपंथी राजनीति से सम्पर्क करना कालजयी साहित्य के लिए बाधक है। रोटी की लड़ाई साहित्यिक माध्यम से भी लड़ी जाय, यह तो उचित है किन्तु वही सब कुछ हो जाय ऐसा निर्द्वन्द्व भाव से नहीं कहा जा सकता है। कंथा साहित्य के शुद्ध मानवीय उद्देश्यों में राजनीतिक प्रतिबद्धता सम्भव है बाँधक बन जाय।

---

1. वीणा, वर्ष-49, सितम्बर, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर 1979 अंक.9.10.11.12, श्री अ० मा० हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर, पृष्ठ-17
2. वही, पृष्ठ-17
3. कल्पना : 298, सितम्बर, 1974, वर्ष -25, अंक-9, लेखक का रचना, दायित्व और जन संघर्ष में उसकी सक्रिय भूमिका, लेखक : सदाशिव द्विवेदी

(ङ) वर्ग संघर्ष के विविध आयाम

परतंत्रता की श्रृंखलाओं में सम्बद्ध इस विशाल राष्ट्र की अन्तरात्मा ने मुक्ति संघर्ष में सर्वाधिक जागृत चेतना का अधिग्रहण राजनैतिक परिवेश में ही किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ही भारतीय सर्वहारा वर्ग देशी, विदेशी, प्रभुओं के शोषण का भावनात्मक स्तर पर विरोध प्रदर्शित करने लगा था। पाश्चात्य जीवन दर्शन, आधुनिक शिक्षा और मानवीय अधिकारों की गूँज एवं विभिन्न आन्दोलनों की प्रभावकता ने सर्वहारा को भी अपनी स्थिति के प्रति नवचिन्तन की दिशा प्रदान की। शोषण और दमन के प्रतिकार में ग्रामीण सर्वहारा वर्ग में अंकुरित भावनाओं को राजनैतिक संदर्भों ने विकसित होने में योगदान किया। डॉ0 विवेकी राय सम्भवतः इसे ही लक्ष्य कर अपना अभिमत प्रस्तुत कर रहे हैं कि "गांवों में राजनीतिक उन्मेष का परिणाम ही वर्ग–संघर्ष है।"[1] न केवल राजनीतिक उन्मेष वरन् प्रभुता और प्रतिष्ठा सम्पन्न उच्च वर्ग के प्रति सर्वहारा समाज की अन्तक्रियाओं की प्रतिद्वान्द्विताशील चिन्तनवृत्ति ने भी वर्ग–संघर्ष को गत्वरता प्रदान की है। पाश्चात्य प्रतिस्पर्धापूर्ण व्यक्तिवादी चिन्तन से विकसित असमानता मूलतः को संघर्ष को नया आयाम प्रदान कर रही है। जीवन जगत की प्रतिछवि बिम्बित करने वाली उपन्यास विधा में संक्रमण कालीन भारतीय सर्वहारा की भावनात्मक क्रांति पूर्ण मनः – स्थिति का पारदर्शी अंकन नागार्जुन, रेणू, भैरव प्रसाद गुप्त, हिमांशु श्रीवास्तव, जय सिंह, धूमकेतू और शिव प्रसाद सिंह आदि की रचानाओं में हुआ है।

राजनीतिक उन्मेष में सर्वहारा समाज के विचारों, भावनाओ और मनोवृत्तियों में आमूल–चूल परिवर्तन का दिशा निर्देश किया है। नागार्जुन के "बलचनमा" के व्यक्तित्व में आद्यन्त भावक्रांति के तत्वों का पूर्ण समाहार प्रत्यक्ष लक्षित होता है। बालावस्था में आर्थिक युवावस्था में खेनी के शील भंग के मार्मिक प्रसंग की घृणित अनैतिकता तथा फूलबाबू के सम्पर्क में राजनैतिक जागृति के आलोक में निरन्तर विषम घाट प्रतिघाटों के अनन्तर शोषित सर्वहारा की करूण स्थितियों "बलचनमा" में विद्रोह और विक्षोभ की सचेतना का बीज वपित करती हैं। आहत अशक्त बलचनमा की भावनात्मक क्रांति का यह उद्घोष कि धरती किसकी ? जोते बोये उसकी ! किसान की आजादी आसमान से उतर कर नहीं आयेगी, वह परगट होती–नीचे–जुती धरती के भुरभुरे ढ़ेलों को फोड़ कर.............[2] सर्वहारा वर्ग के अनुभूत्यात्मक संघर्षों की यह प्रमाणिक व्यवस्था उनकी

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–221
2. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–200

भावक्रांति की सशक्त योजना कर प्रखर रूपांकन करती हैं। उपन्यासकार इस पात्र के माध्यम से अपने प्रगतिशील विचारों का निदान प्रस्तुत करता है।

भावक्रांति की क्षिप्रगतिक संचेतना का विस्तार हिमांशु श्रीवास्तवने "नदी फिर वह चली" में उपन्यस्त है। आर्थिक, सामाजिक, और नैतिक कोणों से प्रताड़ित परबतिया राजनैतिक संचेतना का अवलम्ब ग्रहण कर अपरिमित शक्ति संपन्नता का परिचय देती है। विद्यालय के उद्घाटन स्थल पर जमींदार जनार्दन राय की प्रवंचना का प्रतिशोध यह नारी भावी चुनाव अवसर पर लेती है। दासी होकर भी स्वामी का मान खण्डित करने वाली यह अदम्य साहसी नारी उनके विपक्षियों से समंजन कर राजनीति के अखाड़े में उन्हें चारों खाने चित्त कर देती है।

सर्वहारा वर्ग के दारूण जीवन संघर्ष की गाथा जगदीश चन्द के "धरती धन न अपना" में उपन्यस्त है। डॉ0 विशनदास की राजनीतिक और समाजवादी समीक्षाओं से उच्चवर्ग जहॉ व्यर्थताबोध की अनुभूति करता है निम्न वर्गीय चमार वारे में भावपूर्ण क्रान्ति के नये स्वर उभरने लगते है । चौधरी और चमारों के मध्य उभरते जन विद्रोह को वर्ग–संघर्ष की सीमा तक ले जाकर कथाकार उनकी विवशता में पर्यवासित कर देता है। किशनदास की भावी क्लास स्ट्रगल की परिकल्पना "समझौते" का आश्रम ग्रहण करती दृष्टिगत होती है, किन्तु कृतिकार जिस सूक्ष्मता और मनोवैज्ञानिकता से सर्वहारा वर्ग की राजनैतिक भाव क्रान्ति का उत्तरोत्तर परिवर्द्धित संदर्भ रूपायित करता है वह उनकी परिवर्तित मनोवृत्ति का अभिसूचक है।

आधुनिक सर्वहारा समाज की परम्परागत् मान्यताओं को उदात्त करने वाली राजनीतिक संचेतना के अनेक संदर्भों में समाजवादी जीवनदृष्टि का उदय वर्ग–संघर्ष को नया आधार दे रहा है। मार्क्स के अर्थाधारित साम्यवादी जीवन दर्शन के प्रसार और प्रचार से भारतीय सर्वहारा समाज नयी मुद्रा से ग्रहण कर रहा है। युगीन प्रवृत्तियां आधुनिक संचेतना से संपर्कित होकर अपनी प्रतिध्वनि में जिस संघर्षमयी मुद्रा का ध्वनन् प्रस्तुत करती हैं उसका विशद् चित्रांकन सर्वहारा वर्ग के परिप्रेक्ष्य में प्रगतिशील जनवादी उपन्यासकारों की कृतियों में प्राप्त होता है।

जनवादी यथार्थ के प्रस्तोता नागार्जुन की ख्यातिलब्ध कृति 'बलचनमा' में बलचनमा का समग्र व्यक्तित्व समाजवादी जीवनदृष्टि से समन्वित है। सर्वहारा जीवन की विसंगतियों के निवारण के लिये वह सोचता है कि बाबू भैया की तरह ही उन्हें भी

संगठित होकर अन्याय शोषण और दमन का प्रतिशोध करना पड़ेगा। बलचनमा की अन्तश्चेतना आर्थिक स्तर पर समानता का आह्वाहन करती है जहां लोगों को जब यह विश्वास हो जायेगा कि जमींदार महाजन की फाँजिल धन–सम्पदा उन्हीं में बॅट जायेगी, रोजी–रोटी का सवाल हल होगा, बच्चों की पढ़ाई–लिखाई....बुढ़ापें की बेफिक्री..........खान पान और रहन–सहन का ठौर–ठिकाना..........दवा दारू, पथ–पानी का इंतजाम.........यह सब सभी के लिये सुलभ होगा दरभंगा के महाराज ही चाहे पटना के लाट साहब............ ....मुफ्ट का खाना किसी को नहीं मिलेगा...........सब काम करेगा, सब दाम पावेगा.......... लुल, अपंग, बुढ़ बेकार, सबकी जिम्मेवारी सरकार को उठानी पड़ेगी, पैसे के बल पर कोई किसी को बंधुआ गुलाम नही बना सकेगा।'[1] प्रस्तुत संदर्भ को डॉ0 ज्ञानचन्द गुप्त ने समीक्षित करते हुए लिखा है। कि 'समता के लिये विषमता की दुनियां हटे यह आवश्यक है। भूखा पेट विद्रोह रोटी के लिये करता है न कि मात्र विद्रोह के लिये।[2] बलचनमा का विद्रोह न केवल रोजी रोटी का समस्यान्त चाहता है वरन् मानवीय अधिकारों के समत्वपूर्ण संस्थापन का प्रारूप उपस्थित करने के लिये आजीवन संघर्ष वृत्ति को अपनाये रखता है। समष्टि हित चिन्तन की प्रमाणिक उपलब्धियों की प्राप्ति हेतु सन्नद्ध संघर्षशील बलचनमा के कृतित्व में कृतिकार का संदेश भी समन्वित है।

नागार्जुन की अन्य कृतियों "वरूण के बेटे" और "बाबा बटेसर नाथ" में भी समाजवादी मूल्यों का नवीन उद्घाटन होता हैं। सर्वहारा समाज सुनियोजित और सुसंगठित होकर अभिजात वर्ग से अपने अधिकारों को हस्तगत करने के लिये प्राणपण से कटिबद्ध हो रहा है। अपनी शक्ति सपंन्नता को प्रदर्शित करने वाली वाणी के माध्यम से ये गढ़पोखर के स्वामियों और भूपतियों को चुनौती देते हुए कहते हैं कि रोजी–रोटी के अपने साधनों की रक्षा के लिये संघर्ष करने वाले भकुए असहायक नहीं है, उन्हें आम किसानों और खेत–मजदूरों का सक्रिय समर्थन प्राप्त होगा"।[3] संघबद्धता की भावना से अनुप्राणित सर्वहारा समाज दुर्दमनिय स्थितियों का सामना करने के लिये उठ खड़ा हुआ है।

डॉ0 आदर्श सक्सेना ने नागार्जुन की कृतियों को बिश्लेषित करते हुये लिखा है कि प्रेमचन्द्र में आदर्श यथार्थ का द्वन्द्व था जो उनके मजदूर किसानों को आगे नहीं बढ़ने दे रहा था। नागार्जुन में ही पहली बार भारतीय जनता को जगाने के लिये

---

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–164
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना : डॉ0 ज्ञानचन्द गुप्त, पृष्ठ–82
3. बरूण के बेटे : नागार्जुन, पृष्ठ–219

मजदूर एवं किसान आगे बढ़े है। साम्यवादी विचारों से अनुप्रामणित होने पर भी नागार्जुन का स्वर आस्थावादी है, यही उनकी प्रमुख बिशेषता हैं।'[1] सार्वभौमिक दृष्टि का विस्तार ही स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य का लक्ष्य बनता जा रहा हैं । परम्परागत मान, मूल्य और प्रतिमानों के स्थान पर नवविकसित मानवतावाद को रूपायित करने वाले कथाकारों ने अस्पृश्य, अकुटे, अदेख जनों के जीवन की व्याख्याकर साहित्य कलेवर में नया अध्याय जोड़ा है। नागार्जुन जैसे प्रबुद्ध प्रतिभाशाली कथाकार की लेखनी ने मिथिलांचल के जीवन यथार्थ की चक्षुष अनुभूतियों को बड़ी ही मार्मिकता और कोमलता से अंकित किया है।

नागार्जुन के विपरीत भैरो प्रसाद गुप्त की कृतियों में उग्र समाजवादी संचेतना का अभ्यदुय प्राप्त होता है। मशाल सती मैया का चौरा, और गंगा मैया, में साम्यवादी भावधाराएँ बड़ी तीव्रता से सर्वहारा वर्ग को आन्दोलित करती है। कहीं –कहीं कथाकार अस्वाभाविक और प्रच्छन्न रूप से राजनैतिक संदर्भ को स्वयं व्याख्यायित करने लगता है। आर्थिक, धार्मिक, समाजिक वैषम्य के मूलोच्छेदन तक उभरी साम्यवादी संचेतना प्रगतिशीलता को प्रोत्साहित करती है। मात्र आर्थिक सिद्धान्तो पर सुदूर भविष्य में साम्यवादी बनाम समाजवादी व्यवस्था की स्थापना प्रस्तुत की जाती है। "उत्पादन के साधनों पर राष्ट्र अपना अधिकार प्राप्त करके पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों तथा उपभोक्ताओं का शोंषण समाप्त कर दे तो गरीबी, अमीरी का सवाल क्यों पैदा हो और समाज में व्यक्ति की मान–मर्यादा का माप पैसा ही क्यों हो?"[2] भारतीय परिवेश में मार्क्सवादी दर्शन की गहरी पैठ आर्थिकता का अवलम्बन लेकर जीवन के अन्याय पैसों को गौण बनाकर एकांगी समाज व्यवस्था का मापदण्ड प्रस्तुत कर रही है। उपन्याकार आर्थिक समुन्नति का नियोजित स्वरूप लम्बे–लम्बे समाज वादी वक्तव्यों की आड़ लेकर उद्धृत करता है। किन्तु विश्वमानवता का विराट दर्शन उसकी परिधि से सर्वथा दूर रहता है।

इस अवधारणा के सर्वथा विपरित "माटी की महक " में धूमकेतु जी के पात्रों में समाजवादी संचेतना का भारतीयकरण होने से अधिक संतुलनपूर्ण दृष्टिकोण उभरा है। गौरी और कालीचरण दोनों ही सर्वहारा समुन्नति का प्रयास करते है। गौरी अपने गाँधीवादी जीवन दर्शन से प्रेरणा ग्रहण कर सर्जनात्मक स्वर पर रामपुर वासियों का

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि : डॉ0 आदर्श सक्सेना, पृष्ठ–249
2. सती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ–529

कायाकल्प करती है। तो उग्र साम्यवादी कालीचरण रचना धार्मिता का बहिष्कार कर क्रांति का बिगुल बजाता हुआ कहता है कि "मुझे क्रांति चाहिये देश में क्रांति होनी चाहियें जो आर्थिक ढ़ांचे को बदल कर रख दे। समाज के घिनौने चेहरे को खुबसूरत बना दे। पैसे वालो के सामने ये लोग दान मांगने क्यों जायगे? क्यों नही ये लोग इनके धन को जबरदस्ती छीनकर आपस में बांट लेगें?...........अमीरों की बरवारियों में मरे हुये अनाज को जबरदस्ती ले लेने की जरूरत है।"[1] उपन्यासकार सर्वसाधारण की मानसिक अभिवृत्तियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। शान्ति और क्रांति के विरोधी स्वरों के मध्य मानवीय सम्वेदना बिन्दुओं का उभार स्पष्ट करते हुये भारतीय परिवेशानुकूल साम्यवादी विचारों का पर्यवसित निदान प्रस्तुत करता है।

हिमांशु श्रीवास्तव की कृतियों में समाजवादी संचेतना का विशिष्ट अंकन हुआ है। तीक्ष्ण संघातो से आन्दोलित सर्वहारा जन–जीवन में समाजवादी जनचेतना की उदयशीलता वर्गीय स्तर पर विकसित होकर अधिकार प्राप्ति के लिये संघर्ष की सृष्टि करती है। अधिकारहीन सर्वहारा समाज और अधिकार प्राप्त अभिजात वर्ग में संघर्ष की उभरती मुद्राओं का सशक्त चित्रांकन "नदी फिर बह चली" और "लोहे के पंखे " में हुआ है। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिवेश मे संवैधानिक समानता की अप्राप्ति ही वर्ग संघर्ष का मूल है। स्वातंत्रयोत्तर ग्रमभित्तिक उपन्यासों में वर्ग–संघर्ष का प्रामणिक स्वरूप अंकित हुआ है। "बलचनमा" वर्ग–संघर्ष में अपने हक की लड़ाई में घायल हो जाता है। "वरूण के बेटे" मे विशाल गढ़ पोखर पर निषाद समाज अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये प्राणपण से संघर्ष भूमि मे उतर पड़ता है।

हिमांशु श्रीवास्तव की कृतियों में वर्ग संघर्ष का मार्मिक और यथार्थपरक अंकन हुआ है। सर्वहारा नारी परबतिया वर्गीय हितों के रक्षार्थ संघर्ष भूमि में प्राणोत्सर्ग कर देती है और "लोहे के पंख" का मंगरू सर्वहारा जीवन को समता और न्याय का अधिकारी बनाने की अभिलाषा से पग–पग पर घोर यंत्रणायें भोगता है। रेणु की कृतियों में भी वर्ग–संघर्ष का प्रखर रूपाकंन हुआ है।

"मैला आंचल" में डॉ0 प्रशान्त से अपने अधिकारों की परिभाषा ज्ञात होने पर संथालों और भूपतियों में सघर्ष छिड़ जाता है और इस संघर्ष में अपूरणीय क्षति उठाते है, ये निरीह, अबोल प्राणी जो विवशता की सीमा में सिसकते रह जाते है। "परती परिकथा" में तो यह वर्ग संघर्ष इतना तीव्र है कि "चमार टोली का नकेसर चमार

---

1. माटी की महक : सच्चिदानन्द धूमकेतु, पृष्ठ–129

ताल–ठोंक कर नाचता हुआ आगे बढ़ता है। जितेन्द्र के बालों को पकडकर खींचता है–स्साला।[1] मकबूल के विरोध करने पर कहता है कि "यहाँ जमीन जा रही है हम लोगों की और तुम लोग लीडरी करते हो? .... कभी आगे कभी पीछे।[2] भावों की व्यापकता को बिम्ब, प्रतीक और ध्वनिमयी शब्द यन्त्रों की सहायता से पूर्ण उभार देने वाले रेणु ने जनवादी चेतना तथा संघर्ष की प्रभावकता का सूक्ष्म और सुष्ठु अंकन विभिन्न टोलियों के प्रदर्शन में अंकित किया है।

सम सामयिक जीवन यथार्थ के समीपी द्रष्टा रामदरश मिश्र की कृतियों में वर्ग संघर्ष की प्रमाणिक उपलब्धि जल टूटता हुआ में प्राप्त होती है। युग चेतनानुप्राणीत सर्वहारा समाज का जगपतिया महीप सिंह से सीधी टक्कर लेता हैं यह संघर्ष व्यक्तिगत न होकर समाष्टिगत धरातल पर लड़ा जा रहा है। अधिकार हीन निम्न वर्ग अपनी आक्रोश भरी मुद्रा में चुनौती देता हुआ अपने बाहुबल से यह कहकर खेत बांट लेता है कि, "आ जायें महीप सिंह, अगर मां का दूध पीये हो तो आज वारा–न्यारा हो जायेगा।"[3] डॉ0 ज्ञानचन्द गुप्त सर्वहारा वर्ग की इस परिवर्तित संचेतना का यथार्थ आकलन प्रस्तुत करते हैं कि "शहरों की मिलों, कोइलरी कारखानें में काम कर संघर्ष की आग लिये अनेकों जगपतियों शहर से गॉव लौट रहे है और वे तथा उनसे प्रभावित अन्य ग्रामीण मजदूर सामंती जमींदारों के अत्याचारों एवं अनाचारों का शिकार बनना नही चाहते"। "कब तक पुकारू" में धुपों चमारिन की अमानुषिक मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिये उभरे वर्ग–सघर्ष मे निम्न हरिजन जाति का सर्वनाश हो जाता है। मीटो की मृत्यु खचेरा को जेल, शील भंग की लज्जा से कुयें में डूब मरी राधू की बहू, बुद्धा, हीरा, पंगा की नग्नावस्था में पिटाई, उनकी औरतों के मिर्च भर देने से गर्भपात और मृत्यु के संदर्भ भयावह वर्ग–संघर्ष में प्रशासन द्वारा पराभूत सर्वहारा का दृश्य उजागर करते हैं किन्तु इतना तो निर्विवाद सत्य है कि वर्गीय हितों के रक्षार्थ संघर्ष का यह सूत्रपात अपने अधिकारों को किसी भी मूल्य पर छोड़ने वाला नही है। "केलावें" मे भोले साधन विहीन भील जमींदार द्वारा इस वर्ग संघर्ष में उजड़ अवश्य जाते है किन्तु उनकी सुरक्षित सत्ता इस सत्य की द्योतक है कि सर्वहारा वर्ग परम्परागत जीवन परिधि से निकल कर संघर्ष पूर्वक अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने मे सक्षम होता जा रहा है।

---

1. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–367
2. वही, पृष्ठ–367
3. आंचलिक उपन्यास : शिल्प और संवेदना :डॉ0 ज्ञान चन्द्र गुप्त, पृष्ठ–94

वर्ग संघर्ष की इन विषम परिस्थितियों का सर्वेक्षण इस सत्य को प्रतिस्थापित करता है। कि स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में अधिकार हनन से उद्भूत विद्रोह विक्षोभ की स्थितियाँ अपरिहार्य हैं। सर्वहारा समाज और उच्च वर्ग के विषम अन्तराल से उद्भूत इन स्थितियों का समूचित निदान आवश्यक है।

स्वातंत्रयोत्तर "हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग का वर्णन स्वातंत्र्योंत्तर पूर्व से कहीं बहुत अधिक हुआ है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा के प्रसार और राजनैतिक चेतना के परिणाम स्वरूप भारतीय समाज का तथाकथित निर्बल, कमजोर और सर्वहारा वर्ग भी अपने अधिकारों के प्रति पर्याप्त सचेष्ट हुआ, यही कारण हैं कि शिक्षित मध्यम वर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग को अपने साहित्य में सर्वहारा वर्ग पर्याप्त उदारता के साथ चित्रांकित करना पड़ा। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की समस्याओं आर्थिक एवं सामाजिक तथा अन्य समस्याओं का बड़ा ही सजगता के साथ सांगोपांग वर्णन हुआ है।

वस्तुतः आधुनिक युग में सर्वहारा वर्ग राजनीतिक क्षितिज पर नवोन्मेष होता दिखायी पड़ रहा है जो अपने मूल्यों के प्रति सचेष्ट है।

****

पाँचवाँ अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में प्रमुख सर्वहारा पात्र–योजना और चरित्रांकन

सन् 1950 ई0 के आसपास हिन्दी उपन्यास साहित्य में जिस नवलेखन का उदय हुआ उसकी एक पहचान दलित्थोत्थान या दलितोन्मेष की थी। साहित्यकारों ने उन पात्रों का अन्वेषण किया जो समाज में अत्यन्त हीन और दलित हैं। आंचलिकता की प्रवृत्ति से इसको बढ़ावा मिला और अभाग्रस्त अंचलों में गरीबी की मार से बिलबिलाते अभागे जीव उब्त्न कर साहित्य के मंच पर आ गये इन जीवों में अधिकांश हमारे सर्वहारा पात्र है। यह सत्य है कि सर्वहारा पात्रों के कुल निश्चित स्थल हैं जैसे गांव और कुल निश्चित जातियां हैं जैसे हरिजन और आदिवासी, किन्तु देश की वर्तमान दशा देखते ये पात्र देश जाति के बन्धन से परे सर्वत्र फैले है। महानगरीय परिवेश में भी इनका फटेहाल नंगा रूप बहुतायत से मिलता है।

साम्यवादी हवा के विश्वव्यापी प्रसार से यह वर्ग उस राजनीति से जुड़ गया है। वास्तव में इस राजनीतिक धारा से इस वर्ग को बहुत बल मिला है, और इसकी सूखी ठठरियों में प्राण आया है। नर और नारी दोनों रूपों में अंकित आधुनिक उपन्यास के कतिपय महत्वपूर्ण सर्वहारा पात्रों की संक्षिप्त रूप रेखा यहां प्रस्तुत की जायेगी।

(क) चेतनारोपित जड़ पात्र:

बाबा बटेसर नाथ:

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों काकलेवर विविध वृत्तिवाले पात्रों से सम्बद्ध है। कथाकारों ने जीवन और जगत विषयक अपनी बहुविध अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति का माध्यम भी इन्हें ही बनाया है। कथाभूमि में संतरण करने वाले ये पात्र कथाकार की समग्र अन्तः बाह्य अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करते हैं।

प्रगतिशील यथार्थवादी उपन्यासकार नागार्जुन की चरित्र संयोजना का आधार मानवतावादी है। घोर, उपेक्षित, दलित और दीनहीन विशिष्ट पात्रों की मौलिक उद्‌भावना की कृतिकार को वरैण्य है। बाबा बटेसर नाथ की कथावस्तु में पात्र चयन नितान्त गूढ़ और रहस्यपरक होते हुए भी अपने अभिप्रेत को अद्धितीय रूप से प्रस्तुत करता है। वस्तुवृत्ति की नव्यता के साथ समाजवादी विचारधारा से अनुप्राणित लेखक के मनोभावों का मार्गदर्शन मानवीकृत वट वृक्ष करता है जो इस कृति में सर्वाधिक प्राणवन्त पात्र के रूप में उभरता है। प्राणिमात्र में समत्व का दर्शन करने वाले भारतीय समाज की रहस्यात्मक मनोवृत्ति का वैज्ञानिक आकलन रूढ़ि आस्था और पूर्वाग्रही अंधविश्वासों का पारदर्शी अंकन पात्र क्षमता के आधार पर ही कृति में रूपायित होता है।

कथाकार भारतीय जनमानस की बद्धमूलरागात्मकता के केन्द्र विन्दु वटवृक्ष को अपना प्रमुख पात्र बनाता है जिसके असंख्य स्तंभित मूलाधारों में विस्मृत विस्तृत अतीत की घटना प्रवाहित है। सर्वदुखहर्ता बाबा बटेश्वर नाथ अपने पालक के जिज्ञासुभावज्ञ और आतुर प्रपौत्र जैकिसुन को हल्कावधुधारी दिव्यरूप का दर्शन देते हैं। भूत और भविष्य के लीलादर्शक सर्वशक्तिमान देवदुत्य बाबा बटेश्वर नाथ लेखक के मन की कोरी उपज नहीं है वरन यह चरित्र नितान्त प्रगतिशील और यथार्थवादी भावों और विचारों के वहनकर्ता के रूप में उद्भत हुआ है। समाज को पशुतुल्य बनाने वाली व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोह विक्षोभ को स्फूरित करने वाले मानोवृत्त बटेसर नाथ घोर अमानवीय प्रसंगों पर गलदाश्रु जैसे दृष्टिगत होते हैं। व्यष्टि से अधिक समष्टि की चिन्ता करने वाला, समाज और मानवता के उदात्त स्वरूपों का मार्ग निर्देशन देने वाला तथा संस्कृति और सभ्यता में देशकालानुसार परिवर्तन का सूर्यनाद करने वाला यह पात्र हिन्दी उपन्यास साहित्य में अप्रतिम है।

(ख) पुरूष पात्रः–

वीरजाः

आदिवासी जीवन को रूपायित करने वाली जयसिंह की प्रख्यात कृति कलावें का प्रमुख शोषित पात्र है वीरजा। कथाकार ने विभिन्न पात्रों के माध्यम से इनके परिवेशीय यथार्थ की संगति असंगतियों का चित्रण कुशलतापूर्वक किया है। वीरजा दूरदर्शी परिपक्व बुद्धि और प्रत्युत्पन्न प्रतिवाला पाल का मुखिया है। अर्थाभाव और सामाजिक अवहेलनाओं ने इसे तोड़ा अवश्य है किन्तु जाग्रत विवेक वाला वीरजा जीवन रक्षण के लिये अनैतिक मूल्यों को स्वीकारना नहीं चाहता है। परिस्थितिवशात ही वह चोरी–चोरी जंगल काटने के लिए सहमत होता है। सिपाहियों की घायलावस्था पर उसकी कूटनीतिक यथार्थता तर्कसंगत है। जमींदार द्वारा भैंस हडप लेने पर पौने सैंतीस रूपयों की प्राप्ति, मनोवैज्ञानिक स्तर पर इस पात्र को सँक्षूब्ध करती है।

भैंस न देने, शराब पीने और सिपाहियों को पौने दो रूपयां पर रफा दफा कर देने वाले इस पात्र को मनः स्थिति को कथाकार मनोविश्लेषणात्मकता के साथ उद्घाटित करता है। जीवन में मृदु और कटु यथार्थ का संवहन भार वीरजा को लचीला बना देता है। शरणागत की रक्षा और परिस्थिति के अनुकूल सूझबूझ का धनी यह मुखिया जातीय दुर्गुणों से अधिक गुणों से पूरित होकर मनः संघर्ष की कठिन स्थितियों में संघर्षरत चित्रित हुआ है। उद्वेगहीनता और विवेकशीलता उसके सम्बल हैं; परिवर्तित सामयिक संचेतना से अनुप्राणित वीरजा का चरित्र चित्रण प्रभावशाली रूप से जमींदार से लोहा लेते हुए चिंतित हुआ है।

सर्वदा के उपेक्षित, उत्पीड़ित शोषित समुदाय के अधिकार बोध का प्रतिनिधित्व करने वाला वीरजा प्रमाणिक उपलब्धि के रूप में कृति में परस्तुत हुआ है।

बलचनमा :

नागार्जुन की कृति बलचनमा का प्रमुख पात्र वालचन सर्वहारा समाज का शोषित प्रतिनिधि है जिसमें स्वतंत्रतापूर्व और पश्चातग्राम जीवन की समस्त विसंगतियाँ भोगा है। लेखकीय सहानुभूति का सम्बल लेकर चलने वाला यह पात्र भी कृति पर आद्यन्त काया

रहता है। आत्मकथात्मक शैली में कथावस्तु का विस्तार तो होता ही है, प्रमुख पात्र की मनः स्थितियां व अन्तर्द्वन्दों का भी यथार्थतापूर्ण प्रस्तुतीकरण होता है।

कथाकार सर्वहारा वर्ग की स्वाभाविक जीवन स्थितियों की मार्मिकता को संदर्भित कर अभिशापित मानवता के प्रति ध्यानाकर्षित करता है। पिता को अत्यल्प दोषी होने पर पिटते देख कर व्यथामार से बोझिल मनवाले वलनमा के साथ पाठक का सहज ही तादात्म्य हो जाता है। इस निमर्म प्रसंग की सार्थक अवधारणा द्वारा लेखक वलचनमा के अन्तर्गत अन्तर्मन में विद्रोह वृत्ति की रेखा अंकित कर देता है। मां के स्नेहांचल से दूर बालश्रमिक वलचनमा मालकिन की कोढ़िया, सुअर जैसी गालियों को सुनता हुआ सोत्साह कर्माभिमुख होता है किन्तु अनेक प्रसंगों पर उसके व्यक्त्वि में विद्रोह की चिनगारियाँ छटकने लगती है। कोसो दूर स्टेशन पर मालिक को पहुँचाने के उपलक्ष्य में मिला दो पैसा........... उसे असन्तुष्ट तो करता है किन्तु विवशता ऐसी है की स्वीकारना ही पड़ता है। चौकोर कलम बाग की इच्छा की पूर्ति के लिए पिता की निशानी दो कट्ठे जमीन को बलात हस्तगत करने वाले स्वामी की नियति पर उसका मन विक्षोभ से भर जाता है तो अपने कनकजीर और तुल्सीफूल की भोजन व्यवस्था में गरीब की गुठलियों के चूर्ण की व्यवस्था को छिन्न–भिन्न कर देता है। चरवाहे के साथ बछिया होने की बिडम्बना को संतप्त तेवरों में मुखरित करने वाला बलचनमा का कथन ह्रदयस्पर्शी है कि मेरी हड्डी–हड्डी मेरी नस–नस और रोये–रोये पर उनका मौरूसी हक था पालने पोसने सड़ाने गलाने और मारने पिटने का भी पूरा हक था। मानों यह मनुष्य नहीं कोई ऐसा निर्जीव पदार्थ हो जिसे अपनी इच्छा और आवश्यकतानुकूल स्वामी वर्ग प्रयुक्त कर सके। तीक्ष्ण वेदनानुभूति को प्रारम्भ से स्वीकारने वाला वलचनमा अडिग और निर्भीक भी कम नहीं है। कैर्श्य की प्रारम्भिक वेला में मालकिन की मुंह लगी दागी मुखिया को वैहया कहीं की लाज शरम सब धो धाकर पी गई है........ कहकर अपनी नैतिकता को सुरक्षित रखता है। दुर्निवार परिस्थितियों में रोते–रोते मालिक की दुलती की झाड़ बर्दाश्त करने वाला बलचनमा परम्परागत मूल्यों में परिस्थिति और परिवेशानुकूल परिवर्तन कर लेता है। डॉ0 विवेकी राय ने सम्भवतः इसी चारित्रिक जीवंतता लक्ष्य इन स्वतंत्र भारत के रूप में लक्षित होने वाला अखण्ड शक्तिमत्ता सम्पन्न विशिष्ट पुरूष माना है।[1] अपरिभाषित द्वन्द्वों से संघर्षरत बलचनमा के लिए यह कथन अत्ययुक्ति रचित है। फूलबाबू के साथ नगराभिमुख होने पर तो उसे अपना आन्तरिक

1. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–119

प्रतिविम्ब भी आत्मविश्वास के स्वच्छ फलक पर दिखाई देने लगता है। मां और बहन की लुटती प्रतिष्ठा देखकर उसका अदम्य पौरूष धधक उठता है।

पूर्वार्द्ध का अन्तर्मुखी व्यक्तित्व उत्तरार्द्ध में वहिर्मुखी बन कर समाजवादी संचेतना का प्रथम दर्शन सीखता है। अन्याय के विरूद्ध सक्षम बन कर उठ खड़े होने वाले इस व्यक्तित्व द्वारा कृतिकार का अत्यंत संकेत आभासित होता है। कठोर श्रम का पार्थय लेकर अलंकृत सहज सरल जीवन पथानुगामी वलचनमा का आन्तरिक जगत नितान्त मधुर मंदिर है। वैवाहिक पृष्ठभूमि में सम्वेदनशील बलचनमा के रस सिक्त जीवन की कमियाँ इसकी साक्षी हैं।

नागार्जुन ग्राम जीवन की निर्ममता के प्रति आसक्त बलचनमा के मनोभावभिव्यक्तियों में नगर बोध पर ग्रामबोध को अंकित तो करते हैं किन्तु यह वर्तमान 'सर्वहारा' के परिप्रेक्ष्य में अपवाद सा ही लगता है। आर्थिक स्तर पर सुविधाओं का आकर्षण सर्वहारा को ग्राम से विरक्त बनाकर नगरों से अनुरक्त कर रहा है फिर यह अभिव्यक्ति किसकी है ? बलचनमा की या नागार्जुन की ? कथाकार पात्र की आदर्शमय सर्जना में इतना लीन हो जाता है कि आस्था, धैर्य,कर्मनिष्ठा का प्रतीक वन कर उभरता है। यहीं पात्र की एक पक्षीय प्रस्तुति खटक जाती है। दलित वर्ग की निरन्तर ह्रासोन्मुख कार्यक्षमता आज का ज्वलन्त यथार्थ है फिर लेखकीय सम्वेदना के आवरण में लिपटा यह व्यक्तित्व मात्र आदर्श पुंज भी प्रतीत होता है। आश्चर्य तो तब होता है, जब समाज के दलित वर्ग में इतना ईमानदार कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तित्व प्रतिनिधित्व करता हुआ शीघ्र नहीं मिलता।

निरन्तर एक ही पात्र की हर मोर्चे पर व्याख्या भी घटनात्मक गतिशीलता को व्याधातित करती है। कहीं—कहीं समाजवादी नारों की संचेतना को नाटकीय स्थिति में ग्रहण करता बलचनमा व्यवहार में अस्वाभाविक सा लगने लगता है यथा कामरेड की व्याख्या वाले प्रसंग में फिर भी सीधी सरल रेखाओं में व्यंजित यह व्यक्तित्व कथाकार की रूढ़िमुक्त भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। नवयुग के परिप्रेक्ष्य में जमींदार मजदूर संघर्ष में आहत जाल में बंधा 'बलचनमा' सामन्ती मनोवृत्तियों के दलदल में फंसे दलित वर्ग की असहाय स्थिति का प्रतीक है। राजनीतिक परिवर्तनशीलता ने इसे नया जीवन दर्शन अवश्य दिया है किन्तु इन अधिकार हीनों का जाग्रत बोध संघर्ष सीमाओं को लांघ कर आगे नहीं बढ़ पाया है।

दूखनः

डॉ0 विवेकी राय की दूसरी कृति 'पुरूष पुराण' का चरित्र नायक है एक विशिष्ट सांस्कृतिक पुरूष 'दूखन' सांस्कृतिक परिवेशोपजीवी लोकधर्म' व्यक्तित्व में सनातन धर्म की जड़ें इतनी गहरी है कि इनसे अलग उसके जीवन का कोई मूल्य ही नहीं कथाकार इस श्रमोपजीवी पात्र का परिचय प्रस्तुत करता है गांव का गांधी, देह के बेंठन में बंधी एक पावन पोथी तथा जराजर्जर श्वेतकेशी, आयुआहत व्यक्तित्व के रूप में यह रहस्यात्मकता में कबीर का समकक्षी है, उसकी भाषा प्रतीकात्मक,अबूझ और नितान्त गूढ़ है। कथाकार इस विशिष्ट पुरुष को स्वयं अतीत में ठहरा हुआ प्राणी मानता है।

वर्तमान अर्थमूला संस्कृति और परिवेश से नितान्त दूर सुदूर अतीत की घाटियों में विचरण करने वाले कलातीत पुरूष की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी निगूढ़ विश्वासधर्मिता और अपूर्व सम्मोहन क्षमता। इस धर्म प्राण देश में जहां उल्टे रामनाम का भी अमिट प्रभाव व्याप्त है; यह 'दूखन' अपने ज्ञान रहस्य का पिटारा खोल देता है। सांसारिकता से उपराम हुआ दुखन ककहरा, अर्जुन, गीता और स्वरचित दोहे, चौपाइयों की व्याख्या में पारलौकिक सत्य की व्याख्या करता है। कथाकार दूखन के माध्यम से भारतीय लोक मानस में विजड़ित धर्म की उदास मूल्यवत्ता के साथ रूढ़ और पूर्वाग्रही मनोभाव का प्रस्तुतीकरण सहज गति से करता है। कठोरतम जीवन स्थितयों में भी रामाश्रित रहने वाला दूखन भारतीय दर्शन का ज्वलंत प्रतीक पुरूष है। आधुनिक परिवेश में बालकों द्वारा संत्रस्त किये जाने पर पूर्ण आस्था के साथ यह पुकार लगाता है कि दौड़ो–दौड़ो रघुवर नाथ हो रावण के निशाचर कुट्टा नाश कर रहे है। कथाकार ग्रामीण श्रमजीवी की अंतरंगता में डूब कर धार्मिक, सांस्कृतिक और पौराणिक मूल्यों का पुनरूद्धार करता दृष्टिगत होता है। नगर की अपेक्षा ग्रामीण जनजीवन में आस्था के प्रवल सूत्र आज भी वर्तमान हैं। साधारण सांसारिकों की दृष्टि में यह नया प्रयोगवादी, प्रमाणिक पुरूष भले न लगे, जो तृष्णां को मारने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील हो, कुत्ते की आयु भोगने की अपेक्षा उम्र घटाने का नया प्रयोग करने वाला हो किन्तु ग्रामीण पृष्ठभूमि में ऐसे पात्रों की आज भी कमी नहीं है।

मूल कामता और उपरामता में जीवन रहस्य का दर्शन करने वाला यह पात्र वर्तमान संदर्भों और समस्याओं का सूक्ष्मनिदान भी सात्विकता पूर्ण मनोभावों के आधार पर ही करता है। अभाव को अभाव न मानकर परमतोष से समाधान प्रस्तुत करने वाले दूखन के संदर्भ में कथाकार पूर्व ही सूचना दे देता है। इस पात्र को लेकर तो कथाकार का एक दृष्टिकोण मात्र इतना ही रहा है कि जीवन और जगत के प्रति विशिष्ट भारतीय दर्शन की लुप्तप्राय लोकानुग्रही चेतना का चटक चित्रांकन।

महेसवा :

डॉ0 विवेकी राय कृत 'बबूल' का प्रमुख सर्वहारा पात्र है महेसवा। स्वातंत्र्योत्तर भारत की बहुआयामी विपुल विघटनशीलता से प्रभावित लघुमानवों का मर्मस्पर्शी चित्रांकन रेणु, नागार्जुन, और राम दरश मिश्र की कृतियों में उभरा किन्तु सहृदयता का अवलम्ब लेकर उभरे भारतीय सर्वहारा का जैसा मार्मिक और करण चित्र प्रस्तुत कृति में उपन्यस्त हुआ है वह अपनी यथार्थता तथा मौलिकता के कारण अनुठा है।

घुरबिन का पुत्र महेसवा प्रस्तुत कृति का सर्वाधिक प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व है। ग्रामीण पृष्ठभूमि में निर्वस्त्र, मिट्टी और राख लिपटे गर्दीले शरीर के साथ दुपहरी में जलावन इकट्ठा करने वाला महेसवा स्वतंत्र भारत का ऐसा 'सर्वहारा' प्रतिनिधि है जिसका यौवन शैशव की देहरी पर अंगड़ाइयां ले रहा है। श्रमशील देहयष्टि पर उच्च समाज की टकटकी लगी है क्योंकि इनकी प्रगति का सिंह द्वार अपनी श्रम कुंजिका से यही तो खोलेगा ?

श्रमजीवी के जीवन की अर्थहीन मर्मान्तक स्थिति की वेला उपस्थित हैं दीन–हीन विवश महेसवा को कन्ट्रोल पर साड़ी नहीं मिलती और चोरी के कपडे लेकर घर आने तक मां दरपनी अपनी लज्जा बचाने के लिए कुऐं में डूब कर मर चुकी होती है। मां की ममता का संसार लूट जाने के कारण या लज्जास्पद मृत्यु की व्यथा से वह घाड़े मारकर रो उठता है। अनाथ महेसवा की परिणीता अभी उसकी कुटियां में रोचक आभा विखेर ही पाती है कि मृत्यु कमयावनी काया असमय में ही महेसवा से उसे छीन लेती है। पत्नी की मृत्यु के विषाद से संतप्त महेसवा आशुछवि बन जाता है। विरह की अकथ व्यथा को विरहा के सुरीले तारों में झंकृत करने वाला यह बहकुवा दूसरों के मन प्राणों को भी झकझोर कर रख देता है। कथाकार प्रस्तुत बिम्ब के माध्यम से अंचल

विशेष की समग्र परिस्थितियों का नितान्त सहज और स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत करता है। पलकी के प्रणय डोर में बंधकर पुनः महेसवा के सूने संसार में इन्द्रधनुषी अभिराम घटा छा जाती है किन्तु परिवार के बढ़ते बोझ तथा अवर्षण और अकाल की विपत्ती में श्रम सहिष्णु शरीर विपन्नावस्था में गलने लगता है। विषम अर्थव्यवस्था की मारक व्याधि ने महेसवा को हड्डियों का ढ़ांचा बना दिया है। कर्मठ, कर्तव्यनिष्ठ भारतीय श्रमिक की अधोगति का यह चित्र केवल महेसवा का ही नहीं उस पूरे 'सर्वहारा समाज' का है जो न जाने कितने काल तक जीवन का अभिशाप भोगता रहेगा।

दो दिन में अन्नाभाव में उपवास किया हुआ उसका शरीर औषधि और चिकित्सा के अभाव में दम तोड़ देता है। जीवन भर जिस समाज के लिए नाना विपत्तियों के मध्य स्थिर चित्त होकर 'महेसवा' कर्मशील बना रहता है उसी समाज के इस व्यक्ति के पास कफन तक के पैसे नहीं है, परिवार की भरी हुई नवका को मझधार में छोड़कर प्रयाण करने वाले इस पात्र की प्रणायिनी पत्नी पलकी के चीत्कारों से हृदय में एक करूण हूक ढुढ़ती है कि भारत का यह सर्वहारा श्रमिक कब तक इन निर्मम स्थितियों से जूझता रहेगा? कृतिकार ने स्थान–स्थान पर मर्मघाती स्थितियों की सर्जना कर इन उपेक्षित, और उत्पीड़ित जनों की यथार्थ जीवन स्थितियों की ओर संकेत किया है।

हीतलालः

मायानन्द मिश्र कृत 'माटी के लोग सोने की नैया' का प्रमुख सर्वहारा पात्र है हीतलाल। बिहार अंचल के कोसी तटानुवर्ती निषाद टोली के जनजीवन के सघन बिम्बों को रूपायित करने वाली कृति का प्रस्तुत पात्र युग संदर्भित विसंगतियों से आहत प्रगतिशील मनोवृत्तियों वाला व्यक्ति है। कथाकार ने परिवेशीय यथार्थ के जीवन्त संघर्षो के माध्यम इस पात्र की जटिल मनोवृत्तियों का सूक्ष्म और प्रमाणिक मूल्यांकन किया है।

आर्थिक विवशताओं के मध्य पत्नी अनुपी के नथुनी पान वाले के यहां मांगे जाने पर तथा अपने कहने पर भी न लौटने वाली पत्नी के प्रति विकार रहित हीतलाल उसके प्रति अशोभनीय व्यवहार को सहन नहीं कर पाता है। समाज, जाति, धर्म सभी की अपने प्रतिवर्ती गयी उपेक्षा को वह भरी पंचायत में कह सुनाता है। भगत की वाणी का पूर्ण तिरस्कार करने पर भरी सभा में अपमानित होना स्वीकार करता है परन्तु पत्नी के प्रति खुले व्यंग्य को वह सह नहीं पाता है।

परम्परागत मूल्यों की उपादेयता का मूल्यांकन करने वाला हीतलाल रमेसर की विध्वंसात्मक प्रवृति को कठोर और युक्ति पूर्ण तर्कों से खण्डित कर देता है। कथाकार इस पात्र के अन्तर्मन्थन को बड़ी गहराई से आंकता है। अपनी भूल और अक्षमता को स्वीकारने वाला हीतलाल आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ के प्रति समर्पित है। भूमि व्यामोह में डूबा हुआ यह पात्र आन्तरिक स्तर पर बड़ा जीवट वाला व्यक्तित्व है। राजदरभंगा के कैम्प में पटवारी की गर्दन दबोच लेता है। इसी भूमि सम्बन्धी ललक में वह नथुनी के संसर्ग में आकर पत्नी अनूपी को खो देता है। कथाकार पात्रों के चरित्र चित्रण में परिस्थिति जन्य स्थितियों की प्रभावक्ता इतनी तत्परता से आयोजित करता है कि पात्रों का सरलीकरण बड़ी सुविधा से हो जाता है। पति को छोड़कर चली जाने वाली अनूपी एक वाक्य में हीतलाल से ही नहीं वरन समग्र पाठक समुदाय से अपने प्रति सम्वेदना अर्जित कर लेती है। पूर्वपति से मिलकर यह कहती हुई कि यह तुम्हें जमीन का लोभ न दिखाता तो शायद मैं इसके साथ नहीं आ पाती । मुझे लगता है कि अगर तुम उससे जमीन ने लो तो मेरा पाप छूट सकता है।

भूमि व्यामोह से उत्पन्न विसंगतियों की यह पराकाष्ठा ग्रामीण सर्वहारा जीवन में विष घोल रही है। सरल चेतनाशील और भावुक हीतलाल दाम्पत्य जीवन की इस विकटता से जितनी सूझबूझ और दूरदर्शिता से समायोजन स्थापित करता है वह उसके व्यक्तित्व को प्रभावशाली निखार देती है।

पत्नी के सत्य संभाषण और उसमें छिपी पीड़ा को अंगीकार करने वाला हीतलाल परमगांधीवादी विचारधारा से सम्पृक्त होकर मानवता की रक्षा में कहता है कि तुम्हारे हाथ मेरे लिए आज भी वही है; तुम भी वही हो............। कथाकार हीतलाल के माध्यम से कर्मनिष्ठ और संघर्षशील जीवन्त पात्र की सर्जना करता है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की बहुमुखी समस्याओं के निदान के प्रति उसका दृष्टिकोण उदार और मानवतावादी है। कृषि क्रांति के विकसित संदर्भों द्वारा कथाकार अभिशप्त निषाद समाज का सम्भावित, परिकल्पित भविष्य रूपायित करता है जिसकी रूढ़ियों के प्रति टूटते संदर्भ हीतलाल के चरित्र माध्यम से कथा भूमि पर उतरते हैं।

देवजू

:वृन्दावन लाल वर्मा कृत 'कभी न कभी' का प्रमुख सर्वहारा पात्र देवजू है। वर्मा जी जैसे प्रगतिशील और प्रबुद्ध साहित्यकार ने श्रमिक जीवन की अन्तरात्मा को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में देवजू के माध्यम से उत्कृष्ट किया है। श्रमिक जीवनाधारित संरचना में देवजू और लछमन की जीवनी विसंगतियां और मार्मिक प्रसंग पूर्व साम्वादनिकता के साथ उभरते है। कथाकार इन उपेक्षित अँदेख और समाज द्वारा तिरष्कृत पात्रों की मनः स्थितियों में अंकुरित उद्वेलनशीलता को साक्षात्कार कर घोर सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न को मुखरित करता है।

मानवीय भावों से अनुप्राणित देवजू के चरित्र में पर्याप्त दृढ़ता है। वह अपने से छोटे और अशक लक्ष्मन के प्रति नितान्त सदय है तो निरीक्षक जैसे कुटल स्वामियों का प्रत्युत्तर देने में भी पूर्ण सक्षम है। निरीक्षक द्वारा अकारण बल प्रयोग का संकेत पाकर मजदूरों के विकीर्ण समूह में उसकी आंखों में लाली दौड़ जाती है। भूजाएं फड़कने लगती है। मिथ्या अपराध दण्ड से विचलित न होने वाला देवजू अद्‌भूत मानवीय कोमलता से संस्पर्शित पात्र है। श्रम के प्रति समर्पित पाप और अन्याय के प्रति उद्धृत देवजू की संघर्षात्मक मनः स्थितियों को कथाकार उसके विवाह संदर्भ में रूपायित करता है। लीला के प्रति अत्यक्त अनुरक्ति रखने वाले देवजू को जब लंकमन और लीला के विवाह का सम्वाद मिला है तो सामान्यतः पहली बार लकमन के लिए उसके ह्रदय में अज्ञात ईर्ष्या आविर्भूत होती है।

अपूर्व जिजीविषा वाला यह पात्र आन्तरिक स्तर पर इतना टूट जाता हैकि वह हीरालाल कम्पाउण्डर से मरने की औषधि मांग बैठता है। मानव चित्र वृत्ति की विविधता की एक सूक्ष्मफलक देवजू के चरित्र चित्रण में मिलती है। लीला से अभद्र व्यवहार करने वाले दोनों श्रमिकों को मारकर तथा मेठ की अभद्रता से लीला को बचाकर प्रोत्साहन और प्रीति के स्थान पर मिला फटकार उसे अत्यधिक दुखी करता है। और इस दुखाधिक्य में वह अपना कर्तव्य निश्चित कर लेता है।

अन्तःकरण की दुर्बलता, मन की कूंठा और अस्वस्थ मनोवृत्तियों का त्याग कर उदात्त आदर्शमयी विचारधारा को स्वीकार ने वाला देवजू कभी न कभी सुखी होने की भविष्य की प्रतीक्षा में डूब जाता है ।

जयदेवपुरीः

प्रगतिशील उपन्यासकार यशपाल की सुप्रसिद्ध उपन्यास "झूठासच" में प्रमुख पुरूष प्रधान नायक जयदेवपुरी है। वह आज की विषम परिस्थितियों में राजनीतिक नेताओं द्वारा अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए विभ्रांत किये जाने का प्रतीक है। अस्थिर विचारों के आदर्शवादी युवक के रूप में उपन्यास में उसका प्रस्तुतीकरण हुआ है। उसका प्रेम छलपूर्ण है। वह एक दुर्बल व्यक्ति है जो आदर्श, सम्मान और प्रतिष्ठा के लोभ में बुराइयों और दुर्बलताओं के गर्त में गिर पड़ता है।

कालीः

जगदीश चन्द्र की असवर्ण जीवनाधारित कृति "धरती धन न अपना" का पुरूष पात्रों में सर्वाधिक सवल पात्र है कालीं कथाकार प्रस्तुत चरित्र के माध्यम से शोषित सर्वहारा की अधोगति का प्रमाणिक अंकन करता है। आंचलिक कृतियों में उभरे नगराकर्षित व्यक्तित्व का विपर्यय है काली जो वर्षोपरान्त गांव की धरती पर लौटता है। किन्तु गांव में रहने का संकल्प सद्यः घटित सन्तू और जीतू के घटनाक्रम में कज्जू शाह के समक्ष इस रूप में प्रस्तुत होता है कि गांव का जो हाल आज देखा है उसमें तो जी चाहता है कि रात की गाड़ी सें ही वापस लौट जाऊं?

नगर की स्वावलम्बित काली के जीवन में अनाचार के प्रति आक्रोश उत्पन्न कर चूकी है। कसूर न होते हुए भी मार खाने वालों पर उसे आश्चर्य होता है। मंगू की शिकायत पर चौधरी के समक्ष स्पष्ट शब्दों में उसका मह प्रतिवाद कि...........मैं उस समय चुपचाप नहीं रह सकता जब पानी सरसे गुजरने लगे ?.......युग चेतना की नयी दीक्षित मुखरित करता है। चाची की मृत्यु, रूपयों की चोरी और अधूरे मकान की सिसकती वेदना के उपरान्त पारिश्रमिक के अभाव में मिली गालियां उसके पौरूष को भड़का देती हैं। अपने उद्धत स्वरूप का परिचय देता हुआ वह कहता है कि चौधरी ये गालियां मुझे भी आती हैं मुंह सम्भाल कर बात कर हम मेहनत बेचते हैं इज्जत नहीं।'
सुपुष्ट देहयष्टि में अकूत बल,श्रम के प्रति अपार निष्ठा और मानवीय संवेदनाओं से भरा यह पात्र गांव की धरती पर आकर टूटने लगता है। प्रणयिनी ज्ञानों की मृत्यु और चौधरियों के अनाचार से संक्षुब्ध पलायित काली इस सामयिक यथार्थ को संकेतित करता

है कि सर्वहारा शोषित समाज आज भी सामन्ती अत्याचारों में पिस रहा है। अनन्त सम्भावनाओं से भरा यह नवोदित व्यक्तित्व प्रतिकूल परिस्थितियों में मुरझा जाता है।

जागलाः

उदयशंकर भट्ट की बहुचर्चित कृति 'सागर लहरें और मनुष्य' के प्रमुख सर्वहारा पात्र जागला का चित्रण अत्यन्त प्रमाणिक है। सागर तटानुवर्ती लोक जीवन का प्रतिनिधित्व करने इस पात्र के माध्यम से कथाकार अभिनव प्रयोगधार्मिता का आश्रय लेकर मछुआरे समाज की अन्तः और बाह्य जीवन स्थितियों का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है।

युगीन संदर्भों में नर–नारी के बनते बिगड़ते मूल्यों सम्बन्धों, आर्थिक एवं सामाजिक विरूपताओं तथा सांस्कृतिक आस्था और निष्ठा से प्रतिबद्ध पात्रों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यथार्थता के साथ कृतिकार करता है। आर्थिक संक्रमणशीलता से प्रभावित सर्वहारा पात्रों में जागला के व्यक्तित्व की अन्तर्मुखी मनोवृत्तियों की वहिर्मुखता को लक्ष्य करके प्रकाश बाजपेयी ने लिखा है कि जागला में श्रमिकों की दबी चेतना है जो क्रमशः विद्रोही भूमिका पर संस्थित हो रही है।

मछुवारे समाज की यह शोषित श्रमिक बरबस ही पाठक का ध्यान आकर्षित कर लेता है। अपने ही समाज के सम्बृद्ध परिवार से प्रतिपल शोषित होने पर भी उसे इसका भान नहीं हो पाता है। उसे खाना और कपड़ा मिलता और वह जानवर की तरह घर का काम करता। अपने पति विटठ्ल को समुद्र में भेजकर जागला को दस–दस रूपये के नोटो और मछली ताड़ी का उत्कोच देने वाली वंशी जब यह कहती है कि जागला क्या तुम अब भी शादी करेगा? तो वह कह देता है कि जैसा तुम बोलेगी। 'तो हमारे पास रे' एक विटठ्ल और दूसरा तू समझा।'

वंशी द्वारा न केवल जागला का श्रम ही शोषित होता है वरन वह उसके समग्र व्यक्तित्व का ही शोषण करती है। कथाकार इस शोषित चरित्र के माध्यम से सर्वहारा जीवन की अर्न्तव्यथा संकेतित करता है। इट्ठा से विवाह के अवसर पर वंशी द्वारा उपस्थित की गयी बाँधा जागला की दमित प्रतिकार क्षमता को उभार कर विद्रोह के लिए अग्रसर करती है।

नितान्त बुद्धिहीन ईमानदार और परिश्रमी जागला को वंशी की कुटिल शोषणनीति संघर्षशील तो बनाती है, किन्तु विवशताओं से घिरे अवश जागला के समक्ष आजीविका की समस्या इतनी दुरन्त है कि वह कुछ कर नहीं पाता।

जागला सर्वांगं शोषित श्रमिक के रूप में उभर कर अपने प्रति पूर्ण सम्वेदनशीलता अर्जित कर लेता है।

सुखरामः

रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूं का प्रमुख सर्वहारा पात्र है–सुखराम। जरायम पेशा करनट जाति के जीवन्त परिवेश को कथा फलक पर अंकित करने वाली यह कृति महत्वपूर्ण है। कथाकार करनट जातीय चरित्रों यथा–प्यारी, कजरी और सुखराम के त्रिकोण को कथा का केन्द्र विन्दु बनाकर इस वृहत्काय कलेवर वाली कृति की सर्जना करता है। शिक्षा, सभ्यता और वैज्ञानिक चकाचौंध से दूर निविड़ प्रान्तर के इन वारियों का विलक्षण प्रतिनिधि में सुखराम, जिसके अन्तर्मन में आस्थाओं विडम्बनाओं, विश्वासों और विगत समृद्धि तथा अभिजात्य के प्रति व्यापक व्यामोह संचित है।

पिता द्वारा स्वयं को ठाकुर का वंशज बताये जाने पर सुखराम उसी दिन से मनोवैज्ञानिक स्तर पर द्विविध भावनाओं का आलम्बन बन जाता है। नट शिविरों में रहने वाला सुखराम अधूरे किले की स्वामित्व प्राप्ति के लिए अद्विग्न बना रहता है। नटों के स्वच्छन्द यौनाचार को अवचेतन में दबा उसका ठाकुरत्व स्वीकार नहीं कर पाता है। कथाकार पूर्वाग्रह गस्त अहंभाव दीप्त पुरुष के रूप में इस पात्र का कुशल चित्रांकन करता है। रूस्तम खॉ के घर मे बैठी प्यारी की कमाई पर जीवन यापन का प्रस्ताव उसके सुसुप्त ठाकुरत्व को एक बार और जगा जाता हैं पौरूष की प्रखर आभा से दीप्त सुखराम का सम्वेदनशील मन उसके व्यक्तित्व की महती विशेषता है। प्यारी द्वारा अपनी अवहेलना करके सुविधाजनक परिवेश अपना लेने पर भी सुखराम के जिस मर्यादित और गौरव पूर्ण औदार्य का चित्रण कथाकार करता है वह उसके चरित्र को और ऊंचाई पर पहुंचा देता है। प्यारी के प्रति अडिग निष्ठा वाला यह पुरूष नारी मनोविज्ञान कैपरम पर पारखी के रूप में प्रस्तुत होता है। प्यारी की मन की गहराई को छलकते अश्रुकणों के माध्यम से पहचान कर ही वह कजरी की ओर उन्मुख नहीं हो पाता है। अपने पर छा जाने वाली कजरी को स्वीकारने के उपरान्त भी प्यारी के प्रति उतना ही सदय बना

रहता है किन्तु भावना से अधिक कर्तव्य को प्रधानता देने वाला सुखराम दलित मानवता के प्रति पूर्ण जागरूक है।

धूपों चमारिन की वदजवानी का प्रतिशोध लेने वाली प्यारी के प्रति तिरस्कार को अभिव्यक्त करने वाले उसके ये वाक्यांश कि प्यारी तू है क्या आखिर? नटिनी हो न? और सो भी कर नटिनी। हरजाई अपने मरद के रहते दूसरे के घर रखैल बनकर बैठी है ? सो तेरी नाक कहां? भगवान ने हमें नीच बनाया है सो हम भोग रहे है; अब सूवर यों कहे कि नहा धो कर मैं गैया हो गया सो कभी हुआ है। शशक्त आंचलिक भाषा में गहरे मनों भावों की अभिव्यक्ति में पात्रीय विशिष्टता के साथ कथाकारीय कौशल भी उभरा हैं। अपने लिए प्यारी को कभी दोष न देने वाला उसका पूर्व पति परार्थ के लिए कितना आकुल है। मानवीय सहानुभूति से भरा यह पात्र कथाकार के भावों, विचारों और दृष्टिकोणोंका वाहक बनकर उपस्थित हुआ है। अन्याय के विरोध में जीवन का मोह त्याग कर सक्रिय सुखराम धूपों चमारिन की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है।

गरीबों के ऊपर टूटते हुए कहर मार्मिक स्वरों में मुखरित करता हुआ कहता है कि तू देख रहा है? यह है तेरी दुनिया। यह है तेरा न्याय। कहने को हम कमीन हैं। ये लोग जात केवल पर गरीबों की खाल खैंचते हैं। इनका घमंड सबको कुचल कर रख देता है। 'सामाजिक असमानता और विद्रुप के संदर्भ में उभरी यह प्रतीति उसी व्यक्ति की हो सकती है जो मानवता के रक्षार्थ पूर्ण समर्पित हो। कथाकार सुखराम की चारित्रिक विसंगतियां को भी जीवन की गहन स्थितियों में अनावरित करता है। दरोगा से प्रियतमा प्यारी की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए सुखराम के हृदय का अंधविश्वास डाकिन और वैताल पर केन्द्रित होकर चंदन से उपाय पूछता है।

अंधविश्वासों से घिरा सुखराम इस स्थिति के भंग होने पर आस्था ही अपरिसीम गहराइयों में डूब कर मानवता का ही वरदान मांगता दिखाई पड़ता है कि .... भैया किला नहीं मिला तो न सही, पर मानुष तो बना रहने दे भैया'.......... ।

मानवता की रक्षा में संगिनी कजरी को खोकर मैम सूसन की अवैध सन्तान चन्दा को यह प्राणपण से पालता है किन्तु जो पूर्वाग्रह अंधविश्वास बन कर उसके मनः पटल पर अंकित हो जाता है वह चन्दा की हत्या के उपरान्त ही शान्त होता है। जेल की कोठरी मेंहत्या का अपराधी बनकर भी सुखराम के मनोभाव मानवीयता के धरातल

पर ही संतरण करते रहते हैं। अर्द्धविक्षिप्तावस्था में उसका यह कथन मानवीय दृष्टि से बोध को ही मुखरित करता है कि मैंने चन्दा को नहीं मारा, वह तो मेरे जिगर का टुकड़ा थी; मैंने तो ठकुरानी की भटकती आत्मा को आजाद कर दिया है..........। 'कथाकार अन्त तक इस पात्र के जीवन्तता, मानवीयता और यथार्थता को अक्षुण्य बनाये रखता है।

(ग) नारी पात्र :

अलग–अलग वैतरणी की सर्वहारा नारी पात्रः

डॉ0 शिव प्रसाद सिंह कृत 'अलग–अलग वैतरणी' में असवर्ण सर्वहारा नारी समाज का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म चित्रांकन प्रस्तुत हुआ है। धनेसरी, सुगनी, दुलरिया, सोनवाँ, सवर्ण समाज द्वारा तोड़ी गयी या स्वयं टूटने के लिए समर्पित नारियों के रूप में उपन्यस्त है। कथाकार में इनके पारदर्शी जीवनांकन की अपूर्व क्षमता है। नाना प्रपंची विश्वरूपी वैतरणी को अपनी विशिष्ट युक्ति से तिरने वाले पात्रों का चरित्रांकन संश्लिष्ट, गहन और नितान्त गूढ़ है। कथाकार वृद्धा धनेसरी के माध्यम से मानवमन की गूढ़ रहस्यात्मकता को रूपायित करता है।

धनेसरीः

गांव की निम्न वर्णा यह नारी जातिगत भय से हीन अव्यक्त दवे से भेंट विलक्षण व्यक्तित्व की स्वामिनी है। गृहस्थों तक को वह फटकार देती है यह कह कर कि मैं किसी की जर–खरीद नौकरानी हूँ क्या? हास परिहास वाले उसके पैरों पर लौटते हैं पर वह किसी को मुंह नहीं लगाती । स्वाभिमानिनी पर दुखकातरा धनेसरी ढलती उमर में सहर्ष सेवा भाव स्वीकार कर लेती है। प्रसूति वेदना से तड़पती गर्भिणियों और शिशुओं के प्रति उमड़ता उसका वात्सल्य बड़ा वेगवान है।

अस्पृश्य समझ कर दुरदुराने वाले समाज के प्रति हर्ष अमर्ष से दूर जैसे उनकी इज्जत वैसी अपनी इज्जत समझने वाली धनेसरी बड़ों बड़ों के दागदार पहलू को छिपा लेती है। गांव की मर्यादा को कलंकित करने वाले संदर्भों पर सर्वदा के लिए पर्दा

डालकर निर्लिप्त भाव से मानवता के प्रति सम्वेदनशील इस नेत्र पति और पुत्र वीहीना की मनोव्यथा बड़ी मार्मिकता के साथ भगत की मृत्यु पर उमड़ पड़ती है। धनेसरी के माध्यम से कथाकार गांव की घृणित स्थितियों का यथातथ्य चित्रण रूपायित करता है। दागदार कमाई की उपेक्षा आत्मबल से श्रम सम्भवी जीवन यापन करने वाली धनेसरी बड़ी कुशलता के साथ कृति में उभरी है।

सुगनीः

'अलग–अलग वैतरणी' की दूसरी प्रमुख सर्वहारा नारी पात्र सुगनी के माध्यम से कथाकार धनेसरी के सर्वथा विपरीत चरित्र वाली नारी का चित्रांकन प्रस्तुत करता है। सूरजू सिंह की मजूरिन सुगनी अपने प्राणयी वुफारथ और सुरजू सिंह दोनों से यौन सम्बन्ध बनाये रखती है। आधुनिक सुविधाओं के प्रति लालायित यह नारी स्वयं तो गिरी हुई है ही पुष्पा जैसी निरीह विवश और कुलशीला तरूणियों को भी कलंकित करने में योगदान देती है।

सवर्ण समाज द्वारा भोगी जाने वाली यह असवर्णा, चतुर भी कम नहीं है। प्रणय तो नहीं किन्तु इस व्यापार में निष्णांत आवश्यक है। रूप जाल में आवद्ध रसिकों से अपना पूरा पूरा मूल्य उगाह लेती है। इसकी सर्वाधिक दयनीय दशा उस समय साकार होती है जब यह समसामूहिक रूप से व्यभिचारिणी घोषित की जाती है। चरना द्वारा साड़ी खीचें जाने पर........पसीने से सने उसके मुंह को देखकर लगता है जैसे कोई जिन्दा लाश है। वह एक क्षण ठिठकी खड़ी रही। फिर हाथों से मुंह ढ़के अपने घर की ओर भागी। अपने नारीत्व को समाज के आगे नग्न होते देख कर मानसिक मृत्यु की प्रत्यक्ष अनुभूति करने वाली सुगनी जीवितावस्था में ही मरणासन्न प्रतीत होता है। किन्तु सुरजू सिंह जैसे पुरूष इस स्थिति में भी जिस निर्लज्जात का परिचय देते हैं उसमें कथाकार इन अवैध सम्बन्धों की एक झलक प्रस्तुत करता है। चमारों के दल के निर्णयानुसार सुरजू सिंह के घर की ओर अग्रसर होने वाले जनसमूह में सूगनी चटक साफ लुगा पहने है........किन्तु सुगनी की आंखें ऊपर नहीं उठती। दैन्य और अवसाद सुगनी के कलुषित अर्थलोभी जीवन का प्रतिफल है। उस गांव में जहां सवर्ण और अभिजात कुल अपनी–अपनी मर्यादाओं की सीमा खो चुके हैं; निम्न जाति की स्त्रियां

अपने उपेक्षित और अभावग्रस्त जीवन में कुछ विमुक्तता के क्षण पाक विभ्रम में पड़कर अपने अस्तित्व का सौदा तो कर बैठती हैं किन्तु क्षति भी इन्हें ही उठानी पड़ती है।

सुगनी के ठीक विपरीत है सर्वहारा नारी पात्र दुलरिया जो पतली छरहरी छड़ी की तरह लचकदार हैं। पर काम पड़े तो लोहे की तरह कठोर। कथाकार इस नारी चरित्र के द्वारा सर्वहारा नारियों में उज्जवल चेतना का आवेश विस्फोट होते रूपांकित करता है। देहभोग की ईहा और वासना से दूर अन्याय ओर शोषण का प्रतिरोध करने वाली दुलरिया यदि आकाश कुसुम है तो सुगनी जैसी वासनाकुल नारियां कुछ स्वेच्छतया कुछ विवशतावश लुंटिता, वंचिता और प्रताड़िता के रूप में उभरती दृष्टिगत होती है।

झूठा सच की नारी पात्र :

कनक और ताराः

झूठा सच उपन्यास की मुख्य नारी पात्र में कनक एवं तारा का नाम महत्वपूर्ण है जिन्होंने उपन्यास के माध्यम से नारी मुक्ति चेतना का उन्मीलन किया है एवं मार्क्सवादी विचारधारा का प्रश्रय भी दिया है। ये दोनों पात्र नवीन चेतना को आत्मसात करने वाली नारियां है। परम्परागत मूल्यों के पालन मे वे विश्वास नहीं रखती हैं। पुरूष के अन्यान्य को बर्दास्त करने के लिये वे उद्यत नहीं हैं। वे पुरुष की दासी बनकर अपना व्यक्तित्व विश्रृंखलित नहीं होने देना चाहती है।

तारा का दृष्टिकोण एकदम आधुनिक है लेकिन एक अवांछित व्यक्ति सोमराज से उसकी शादी होती है। यशपाल तारा की दुर्गति से यह रेखांकित करना चाहते है कि नारी इस प्रकार शोषित रहेगी, जब तक कि दृष्टि की संकीर्णता एवं संकुचित मनोवृत्ति का समूल नाश नहीं हो जाता और नारियों को भोग्या के स्थान पर मानवीय ढंग से नहीं देखेंगे। रूढ़िग्रस्त परिवार मे उत्पन्न तारा प्राचीन संस्कारों और विचारों को तोड़कर छिन्न–भिन्न कर देना चाहती है, परन्तु परिस्थितियों से विवश तारा को अयोग्य सोमराज से विवाह के लिए बाध्य होना ही पड़ता है। उसके जीवन की सबसे बड़ी मुसीबत उसकी प्रगतिशीलता है।[1]

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : आर० सुरेन्द्रन, पृष्ठ–123

डॉ० पारसनाथ मिश्र का कथन है–"भारतीय बुर्जुआ में नारी और उसकी अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हुए भी तारा विशिष्ट है। एक तरफ उसे जहां नारियों की भांति समाज की बुर्जुआ मनोवृत्ति का सामना करना पड़ता है, वहीं दूसरी तरफ वह निर्जीव परम्पराओं और सड़ी–गली मान्यताओं का उल्लंघन कर वैज्ञानिक जीवन दृष्टि अपनाने के लिए आकुल दिखायी पड़ती है। उसकी विशिष्टया की झलक प्रारम्भ में ही दो रूपों में देखने को मिलती है।"[1]

परती परिकथा की नारी पात्रः– निम्न वर्गीय नारी समाज का यथार्थ चित्रांकन रेणु की 'परती परिकथा' में सामूहिक रूप से उपन्यस्त हुआ है। कृतिकार कुशलता के साथ आनुभूतिक स्तर पर रूपाजीवाओं हवेलियों की रखैलियों कलंक स्वरूप वीरांगनाओं की आर्थिक परभवता एवं संघर्षशील यथार्थ स्थिति का प्रमाणिक एवं संवेदनशील चित्रण प्रस्तुत करता है। अर्थ संघर्ष की पारदर्शी फलक मिलती है, जहां नट्टिने विगत की अपेक्षा वर्तमान को कोंसती हुई कहती है कि मेला में तम्बुक लेकर नहीं जाएंगे तो खायेंगे क्या? गांव क्या वही गांव रह गया है कि बबुआन टोली के एक एक घर में चार चार नट्टिने गुजर करती थी। अब तो बवुआन टोले का लड़का कब जवान होता है नट्टिन टोली की पंखा पंखी भी नहीं जानती।'

गंगाः

प्रस्तुत कथन इनकी अर्थहीन स्थिति की सच्चाई का आनुषंगिक रेखांकन के साथ ही समाज और संस्कृति के संदर्भ में चित्र भी प्रस्तुत करता है। मौज मस्ती का आधार अर्थ है। नट्टिन टोले की गंगाबाई तो आधुनिक नेताओं से किसी बात में कम नहीं है। अपने समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली यह नारी साम, दाम, दण्ड, भेद सब में प्रवीण है। स्पष्ट वक्तृता तथा बुद्धि कौशल के बल पर मेले में अपनी बुलन्दी का झंडा गाड़ देती है। गंगाबाई की नाटकीयता ने तो हाकित को भी मात दे दिया। यह अपने निर्भीक स्वरों में कहती है कि एक बार चलके देख लिहज जाऊ अपनी चसम से। झूठ साबित हो तो हुजूर की जूती और मेरे ये ओठ........ठेठर नौटंकी से भरी हुई मुजरावालियां पकवरमियां कौड़ियां। वाहर में बड़की–बड़की सैनवोट में नाम लिख रखा है मिच अलानी तो मिच फलानी.......... सो सब क्या है? मालिक से पुर असर शब्दों में इजहार करती गंगा पुनः कहती है कि इंसाफ कौन करेगा गरीबों का दिखवैया कोई

1. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल : डॉ० पारसनाथ मिश्र, पृष्ठ–117

नहीं है। फुलझड़ी की तरह टूटती गेंदाबाई का व्यक्तित्व उसके द्वारा गाये जाते गीतों में बिखरा पड़ा है।

रेणू के पात्रों में परिवेश को साकार करने की अद्‌भुत क्षमता है। वस्तुस्थिति को साकार करने में गतिशील चरित्रों का अंकन इतना सहज और स्वाभाविक है कि न तो कहीं अत्युक्ति प्रतीत होती है और न तो अशेपण । विवृत्ति वाले पात्रों का यथार्थ और सामयिक बोध नितान्त जीवन्त हैं। रेणु की इन यात्राओं में अद्‌भूत गति ओजस्विता एवं वास्तविकता है। पात्रानुकूल प्रयुक्त भाषा नें उनकी प्रभावकता को द्विगुणित कर दिया है। जीवन और जगत के भिन्नत्व को मानव मन की अभिव्यक्तियों द्वारा निरूपित करने में रेणु सिद्धहस्त हैं। यह एक अलग बात है कि इन पात्रों की मनः स्थितियों का विश्लेषण द्वन्दात्मक संघर्षशीलता में न होकर अपने अस्तित्व के स्वतंत्र विकास में उभरता है।

मलारीः

फणीश्वर नाथ रेणु की बहुचर्चित कृति "परती परिकथा" की असवर्णा मलारी अनिद्य सुन्दरी, शिक्षिता, कलागत रूचिसम्पन्ना तथा प्रखर प्रतिभावाली नारी के रूप में उभरती है। रेणु की दूरगामी दृष्टि ने सदियों के मर्दित और अवहेलित समुदाय में उभरती संचेतना का स्फूरण मलारी के माध्यम से किया है। किशोर्य और यौवन के चंचल आवेग से थिरकती मलारी में दूरदर्शिता भी कम नहीं है । अपने अज्ञानी समाज के बंधनों को काटने की क्षमता उसके पास है।

दीवाना जैसे प्रेमी, महीचन जैसे मूढ़मति पिता, बालगोविन जैसे दुराग्रही संरक्षक और लुचों जैसे दुरभिसंधि शील व्यक्तित्वों का साहसपूर्वक सामना करने वाली यह पात्र परम्परागत श्रृंखलाओं को तोड़ दुलारी दाय की भांति देदीव्यमान होने की क्षमता रखती है।

रेणु की नारी पात्रों में जो अभिनव स्वरूप उभरा है, उनकी सहज गतिमत्ता का निदर्शन मलारी, आधुनिक असवर्ण समाज का यथार्थ है। शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति के विकासशील संदर्भ में उदीयमान सर्वहारा नारी मलारी का व्यक्तित्व अप्रतिम है। कथाकार आरोपण प्रत्यारोपण से विमुक्त होकर निरपेक्ष भाव से सर्वहारा नारी जागृति की रूपरेखा प्रस्तुत करता है ।

परबतिया :

प्रख्यात यथार्थदर्शी प्रगतिशील कथाकार हिमांशु श्रीवास्तव के "नदी फिर वह चली" की अप्रतिम पात्रा है परबतिया । कृति का समग्र कलेवर इसी चरित्र से सम्बद्ध हुआ है। ग्राम मनोभावों का जीवन्त प्रस्तुतीकरण करने तथा भारतीय निम्न वर्गीय नारी का प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करने के लिये ही कथाकार इस नारी चरित्र की उद्‌भावना करता है। यों तो पुरुष पात्र भी उभरे हैं किन्तु जितने मनोयोग से विभिन्न नारियों का चरित्रांकन कथाकार सहजगति से करता है। उतनी तत्परता से पुरूषों का नहीं । पुरुषों के चरित्र की गौणता ही नारी पात्र की प्रखरता का कारण बनती है।

मातृहीन परबतिया ननिहाल आती है तो मां के उपरान्त नानी की असामयिक मृत्यु उसके दुखों को द्विगुणित कर देती है। भर पेट अन्न के बदले मामी की असह्य ताड़ना से मर्मोदिधा तक संदर्भों में परबतिया के प्रति अपार संवेदनशीलता उमड़ने लगती है। दुखद परिस्थितियों में स्वतः विकसित यह चरित्र पाठ्क की विश्वसनीयता प्राप्त कर लेता है। पिता के पुर्नविवाह से परवतिया के दुखों की कोई सीमा नहीं रह जाती। विमाता और पिता के मध्य विपत्ति की दुर्निवार संज्ञा पा कर खड़ी बालिका पिता के पुचकार पर फफककर रो पड़ती है तो ईर्ष्यालु सुगिया उसे दुगना दण्ड देती या चुल्हे पर पानी डालकर पति और पुत्री को भूखा ही सुला देती है। कथाकार इस बालिका के दुखें की यथार्थता मार्मिक चित्र उरेहते समय निम्नवर्गीय ग्रामीण समाज की उन स्त्रियों को चरित्रांकन करना नहीं भूलता जो ग्राम जीवन को वस्तुतः नरक तुल्य बनाने में विरत है।

कृतिकार इन अंचल वासियों का इतना सूक्ष्म और पारदर्शी प्रत्यंकन करता है कि शब्दों के माध्यम से घटना संदर्भ मूर्तमान हो जाते है। भावों की अनुगामिनी आंचलिक भाषा चरित्रों पर भी भरपूर प्रकाश डालती है। विमाता या बच्चा परबतिया द्वारा दूध पिलाने पर उल्टी कर देता है तो यह सहसा चिल्ला पडती है, अरे सुगिया लगउनी तूने यह क्या किया कैसे मुंह में तूने पियरी ठूंस दी कि बच्चे ने सारा दूध ओक दिया। और कुंठा, ईर्ष्या तथा अमानवीयता की अधिकारिणी सुगिया परबतिया के पेट पर पद प्रहार कर मातृत्व की पवित्र प्रतिमा को खण्डित कर देती है। अंध मनोवृत्तियों वाली इस

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–153

नारी का चरित्रांकन करने में कथाकार पूर्ण सफल रहा है। शैशव की लघुवीथियों से निकल कर कैशौर्य के राजपथ पर चनले वाली परबतिया में परिवर्तन स्वाभाविक है। कथाकार इसे निसर्गवाला के रूप में प्रस्तुत करता है जो सांसारिक प्रपंचों से दूर समय से पूर्व ही परिस्थितियों के प्रति सचेष्ट हो जाती है। गांव में घटने वाली अश्लील घटनाओं से मुहमोड़ कर अन्य समवयस्क सखियों से यह भिन्न चित्तवृत्तिवाली परबतिया अपनी विमाता द्वारा ही लांक्षित होती है। कथाकार शशक्त आंचलिक भाषा मुहावरे उक्ति व्यंग्य द्वारा अकथनीय को भी सांकेतिक कर देता है जो सुगिया जैसी नारियों की आन्तरिकता को सहन हो उद्घाटित कर देता है। परबतिया का अपमानित करने वाली सुगिया का यह वक्तव्य कि...........खूब खेल लो नानी, अब तो सेनुर लग गया न। मजा मारेगा कोई और माथे ठोकायेगा जगलाल महतो के प्रतिवाद करने पर तो कुत्सित आछेपों की झड़ी लगा देती है सुगिया कि तेरा ब्याह क्या हुआ छिनरपन करने का लहसंस मिल गया। कथाकार इन चुटीलें और मर्माहत करने वाले कथोपकथनों का इतना सार्थक प्रयोग करता है जो उसके चरित्रों को स्वतः गतिमान प्रदान करती है। भाषा भावों की गहराई को मूर्तित कर देती है।

जन्म से ही अवमानना, प्रताड़ना और विद्रूपता की स्थितियों का दुर्वह बोझ उठाने वाली परबतिया गौने के बाद नारीत्व की गरिमा से स्वयं को और उदास बना लेती है। पति परिवार के प्रति कर्तव्यनिष्ठ यह नारी, अन्ध आधुनिक मनोवृत्तियों वाले पति जगलाल से संमजित नहीं हो पाती । परम्परागत आदशों से जुड़ी इस नारी के आर्द–मनोभाव पूरी सच्चाई के साथ उभरते हैं। धर्मपरायण परबतिया पति की वासनात्मक कलुषता को लक्ष्य कर कहती है कि पराये घर की औरतों को देखकर मुंह में पानी भर आना बेकार है फिजूल आदमी का अपना धरम और इमान चला जाता है।[1]

सोहाग की सच्चाई निभाने वाली दुविधा ग्रस्त नारी की स्थिति विषम हो जाती है जब कि उसकी संस्कार सीमाओं को तोड़ने में उसका पति ही आगे रहता है। भारतीय धर्म और दर्शन से अनुस्यूत पाप और पुण्य के मध्य भटकती परबतिया के आस्था और विश्वास की गहरी नीवें अधिकार बोध टुकड़े हो जाता है। पति के जूतों पिट कर आपन्नसतवा नारी चुरामन पुर तो लौट आती है किन्तु पुत्र जन्मोत्सव पर भी उसकी सुधि न लेने वाले पति के बिषय में यह सोचकर कि सिर नवा कर रहने से कौन मरद होगा जिसका करेजा न पसीजेगा।[2]"वह पुनः नगर आ जाती है। नारी मन की यह

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–176
2. वही, पृष्ठ–223

कातर मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति बड़ी बिलक्षण है। कथाकार परबतिया के ह्रदय में नारी का सहज विश्वास चिन्तन में अगाध गरिमा और व्यक्तित्व में शुभा वह औदार्य की पराकाष्ठा चिंहित करता है।

परस्त्री गामी मद्यपी पति के आगे अपनी स्पष्टवादिता, नैतिकता और नगर प्रभावी पतिवर्तित वामिता के कारण जूतों की नाल से सिर फोड़वा कर भी वह घृणित विकृतियों को स्वीकार नहीं कर पाती है। भूखे अबोध शिशुओं के सम्मुख उभरी व्यथा कि तेरे खानें के लिए क्या मैं घिनरपन करने जाऊं?[1] मैं परबतिया के परम्परागत जीवन मूल्यों के प्रति प्रबल आग्रह स्पष्ट है।

दुख और क्रोधाधिक्य में उसने ललुआ के जबड़ों को कसकर दबाया और उठाकार इस तरह पटका कि लोडा हकर–हकर कर रोने लगा।[2] दुश्चरित्र पति के कुकर्मों का फल और अबोध शिशुओं का मार परबतिया को नगर से गांव की ओर प्रत्यावर्तित करता है। गांव आने पर पिता की सर्पदंश से मृत्यु हो चुकी है फिर विभाता सुगिया की एक रात की शरण भी मंहगी पड़ती है –'तुम बेटी नहीं, खानगी और कसबिन हो...............चुरामन पुर में तिलेखरा जैसा यार नही मिला ?[3] की कटुक्तियों के कारण चेचक के भीषण प्रकोप से ग्रस्त पुत्री के साथ असहाय नारी फुफरे भाई हरि द्वारा पर आश्रय लेती है तो नारी मन को विदीर्ण करती ध्वनी सुनाई देती है...........मरद ने इसे निकाल दिया है।[4] वह सुबह के शलफले में अंतिम शरण स्थल पति के गांव चली आती है । भसूर उसका बोझ उठाने को तैयार नहीं है। दूरगामी परिणाम सोचने वाली परबतिया मुकदमा और भसुर की बेइज्जती से डरती है। कथाकार परम्परागत आदर्श और नूतन जीवनीय प्रतिमानों के कुशल सगुफन द्वारा परबतिया का चरित्र निर्मित करता है। मुकदमें में मिली विजय और मालिक द्वारा सुझायें गये जगलाल प्राथमिक विद्यालय की स्थापना के संयोग से उसकी आशालता पुनः पल्लवित हो जाती है पति की सुकीर्ति में विगत कलूष प्रच्छालित होने का स्वप्न नारी के अवचेतन में स्थित पति के प्रति मृदुल प्रगाढ़ आस्था की परिचायक है किन्तु मालिक द्वारा छली गयी नारी अब अनाचार और प्रतिकार के लिए उठ खड़ी होने का निश्चय कर लेती है।

सुहाग की अंतिम निशांनी बेचकर चुनाव में वह प्रतिद्वन्दी को पछाड़ देती है। पति के नाम का साइन बोर्ड विद्यालय पर चमचमाने लगता है। प्रजातंत्र की विजय होती है। गांव में सरकारी वसूली आती है और विरोध में आगे–आगे रहने वाली निर्भयमना

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–172
2. वही, पृष्ठ–272
3. वही, पृष्ठ–285
4. वही, पृष्ठ–294

परिबतिया विधान सभा में प्रदर्शनार्थ पटना जाती है तो परित्यक्ता होने पर भी जगलाल का कुशल छेम पूंछना नहीं भूलती। प्रजातंत्र की बलिवेदी पर वर्गीय हितों की रक्षा में बलि चढ़ने वाली परबतिया प्रखर उद्यम बेगवाली नदी की ही भांति निर्वाध गति से बहती रहती है। उसकी प्रखर धार में आने वाली बाधा स्वयमेव प्रवाहित हो जाती है।

लवंगी :

रामदरश मिश्र कृत 'जल टूटता हुआ' की यह असवर्ण नारी भी दुलरिया के ही समान प्रखर दीप्ति वाली है। अपने भाई हंसिया और ब्राह्मण कन्या परवती के अवैध यौनाचार से सवर्ण समूह में निरपराध पिटते हंसिया को देखकर दहक उठती है। सत्या सत्य से परे जाँतिगत मानदण्डों पर स्थिर समाज के निर्णय की भर्त्सना करने वाली लवंगी में आधुनिक संचेतना का प्रबल ज्वार उमड़ रहा है। सवर्णो का यौवन यदि उद्वेलित होकर असवर्णो से तृप्ति की आकांक्षा रखता है तो क्यों नही असवर्ण समाज भी इसका अधिकारी हो इसकी व्याख्या करती लवंगी कहती है कि क्या हुआ अगर मेरे भाई ने एक बाँमन की लड़की से भला बुरा किया?..........चमार का खून, खून नही है? राजनीतिक चेतना सम्पृक्त यह नारी सभा में खड़े अपने हरिजन नेता जग्गू को लताड़ती है और अपनी इस समस्या के प्रति प्रत्युत्तर भी मांगती है।

मूल जीवनयथार्थ की बखिया उघेड़ने वाली लवंगी मत्स्य न्यायवादी इस घोर उत्पीड़क समाज व्यवस्था पर कठोर और तीक्ष्ण प्रहार भी करती है । प्रतिशोध की ज्वाला से निकलती भयंकर लपटों से कुलीन समाज को दग्ध करती लवंगी एक–एक सत्य को इनके सम्मुख उभारती है, जिसे सुनने के लिए ये तैयार नहीं हैं। भला ऐसे समाज में जहां बाप बेटे एक ही साथ एक ही नारी को भोगने के लिए तत्पर हो उनसें बचाव की क्या आशा की जाय। लवंगी के कथन की आंच से कितने ही लोगों के श्वेत आभावान मुखमण्डल श्याम होने लगते हैं। लवंगी असवर्ण नारियों की विवशता और स्वर्ण समाज की विद्रूपता का सजीव चित्र प्रस्तुत करती है कि काम करती हुई मजूरिनों का मजाक कर लेना, बांह पकड़ लेना..........बड़ा आसान है............और बाप बेटे दोनों का चारित्रिक सत्योद्घाटन करंने वाली लवंगी को रामबहादुर लाठी तान कर मारने के लिए दौड़ता है। कथाकार लवंगी के माध्यम से उस शोषित सर्वहारा नारी की अन्तर्व्यथा साकार करता है जो विषमता मूलक वर्णभेदी समाज व्यवस्था का अभिशाप भोग रही है।

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ –294

इंजोरियाः

धूमकेतु कृत 'माटी की महक' की असवर्ण सर्वहारा नारी पात्र इंजोरिया भी बसमतिया के समकक्ष सवर्ण समाज द्वारा भोगी गयी ऐसी नारी पात्र है जो इन शोषकों से अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहार का पूरा–पूरा प्रतिशोध लेती है। राधा–कृष्ण के शयन कक्ष में रूग्ण पिता के लिए घृत कुमार के पत्ते लाई गयी इंजोरिया महंथ गजानन और मुखिया जगधारी की वासना का शिकार तो बन जाती है किन्तु भरी पंचायत में इनकी पोल खोल कर रख देती है।

गांव के ही सवर्ण युवक मोहन का सम्बल पाकर सत्योद्‌धाटन करने वाली इंजोरिया जज की अदालद में अपने पिता गुलेटन के साथ अर्थलोभ में बयान बदल देती है । डा0 विमल कुमार ने कथाकार की प्रस्तुत कृति के पात्रों को समीक्षित करते हुए भूमिका में लिखा है कि 'जैकिल एण्ड हाइड' की तरह के कभी निर्माण कभी विंध्वस में लीन चरित्रों की उत्सृष्टि मूक भाव से प्रस्तुत करते है।' इंजारिया के विषय में यदि इस विश्लेषण को घटित किया जाय तो निश्चय ही अपने सतीत्व और अस्तित्व के प्रति सजग इंजोरिया का इस घटना के प्रश्चात का जीवन प्रतिशोध और अर्हतुष्टि के लिये ही समर्पित दृष्टिगत होता है।

इंजोरिया या तो लुटे सतीत्व का प्रतिशोध सवर्ण समाज से ले रही है या अंहतुष्टि व अर्थ लोभ से उत्प्रेरित होकर अपने जीवन की गतिविधियों को नया मोड़ दे रही है। कथाकार दोनों स्थितियों को प्रमाणिक और स्वाभाविक रूप में बिम्ब कृत करता है । इस दलित नारी का विक्षोभ उस समय स्पष्ट हो उठा था जब आपरणों की दीप्ति उसके अभावमय जीवन को क्रय न कर सकी थी और महन्थ के सुख सुविधाओं के प्रलोभन पर लात मारकर यह इंजोरिया अपने घोर उत्पीड़न की कथा भरी सभा में दुहरा रही थी। किन्तु पति और समाज दोनो की दृष्टि मे अधः पतिता के रूप में यह उपेक्षिता, अब मोहन की साकी बनकर फरदी धोती पहन कानों में झुमके हांथ में कंगन पहने अपनी टोली की औरतों में अभिमान प्रदर्शित करने में नही चूँकती है।

कथाकार ने इस नारी को अपना अवमूल्यन करने वाले सवर्ण समाज से पूरा–पूरा मूल्य उगाहते चित्रांकित किया है । इस क्रिया में कितना दोष इस लुंठिता, बंचिता नारी का है, और कितना उस समाज का जो इनकी विवशताओं के कारण उन्हें

इस दशा में पहुंचा देता हैं। इसका पिता गुलटेन अवश्य उपन्यासकार की तीक्ष्ण विवेचना का मानदण्ड बनकर उभरा है। जो हेय, लोलुप और दुराचारी है।

रूपजीवा पुत्री के बल पर स्वयं की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला गुलटेन सुस्वादु भोजन और नैतिक अधःपतन को ही अपनी सीमा स्वीकार कर चुका है भौतिक परितृप्ति के लिए छटपटाते निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला गुलटेन इस समाज का टाइप पात्र बनकर उपन्यस्त हुआ है।

वंशी:

उदयशंकर भट्ट कृत 'सागर लहरें और मनुष्य' की प्रमुख नारी पात्रा वंशी का चरित्र पूर्ण प्रभाव वक्ता के साथ अंकित है। कुशाग्र बुद्धि कर्मशीला साहसी नारी के रूप में चित्रित वंशी मछुवारे जीवन की विकट समस्याओं को अपनी समर्थय से स्वतः सुलझाने की क्षमता रखती है। पुरूष प्रधान अहंवृत्तिवाली यह व्याहता नारी जागला के प्रति अपनी अनुरक्ति में यौनाचार की वर्जित श्रृंखलाओं को तोडती दृष्टिगोचर होती है।

जागला और वंशी के सम्बन्ध संदर्भ में आर्थिक स्तर पर स्वतंत्र कोलिन नारियों का स्वेच्छाचार, उनकी चारित्रिक यौन विसंगतियों की विवशता के रूप में उभरता है । जागला के भांति उसकी आशक्ति न तो मात्र कामाशक्ति है न अर्थाशक्ति ही वरन् विगत सम्बन्धों के जो स्नेह का तन्तु उसके ह्रदय में आबद्ध हो गया था वही रह रह कर कचोटता रहता है । उसे अपने अवैध प्रेम सम्बन्ध का निर्वाह किसी भी मूल्य पर करने वाली वंशी में नारी सुलभ स्वाभाविक दुर्बलता उपस्थित है। अकर्मण्य पति की पत्नी वंशी को आर्थिक दृष्टि से भी जागला की आवश्यकता है। जागला और इट्ठा की समीपता से व्यग्र होने वाली वंशी अपने अवचेतनीय निर्देश पर ही यशवन्त को रतना के लिए चुन लेती है किन्तु आर्थिक मोहवश किंचित नकार के साथ माणिक को दामाद बनाकर जब उसे भूल का पता चलता है तो अपनी ही भांति स्वतंत्र नारी सत्ता की स्मृति दिलाकर, पुरूष की अनिवार्यता विसर्जित करने का आदेश वह रत्ना को देती है। कथाकार मछुवारे समाज की इन दो पीढ़ियों की नारी रत्ना और वंशी के चित्रण में पर्याप्त अन्तर निरूपित कर परम्परागत और अधुनातन मूल्यों की स्थितियों को रेखांकित करता है।

बिंदिया :

रामदरश मिश्र की प्रख्यात कृति 'पानी के प्राचीर' की सर्वहारा नारी पात्र बिंदिया का चरित्रांकन युगीन यथार्थ की विद्रूपताओं का प्रतीक बन कर उभरता है। तरल यौवन सम्वेग, अर्थमयी विभीषिका और सहज सरल रागात्मक जीवमूल्यों से उद्वेलित बिंदिया उच्चवर्णीय वैजू की प्रणायिनी बन कर ग्रामीण जीवन की मुखर सत्यता को उपन्यासिक फलक पर बिम्बित करती है।

सम्पूर्ण ग्राम स्तर पर लाक्षित, उपेक्षित और कुख्यात वैजू से अन्तस्थल पर आने वाली असवर्ण, नये परिवर्तित सामाजिक दृष्टिकोण वाले नीरु और मलिन्द को भले न खटकती हो किन्तु पाण्डेयपुरवा के अभिजातीय सदस्य इसे सहनें करने की मनः स्थिति में कदापि नहीं है। सत्य को स्वीकारने में विश्वास रखने वाली रूप और लावण्य से भरी यह तरूणी अपनी जातीय विवशताओं को हर स्तर पर गॉव में भोगती है। रसाकुल भ्रमरों से भिन्न रूचि, वैजू से सम्बन्ध भी वह इसीलिए जोड़ती है। रक्षक के रूप में इन भक्षकों से अपनी सुरक्षा के लिये ही वह बैजू का दामन थाम लेती है।

कथाकार पूर्ण मनोयोग के साथ सवर्ण सामज की ह्रासोन्मुख नैतिकता को विंदिया के संदर्भ में रूपायित करता है। असहाय दलित नारी के साहचर्य सुख की लौलुपता में भटकते समाज की कुत्सा का सशक्त चित्र दारोगा वाले संदर्भ में उभरता है। प्रशासनिक स्तर पर अनाचार और भ्रष्टाचार की रोकथाम करने वाले स्वतः कितने अधःपतित है। दुराचार उन्मूलन का डंका पीटने वाले भोग वृत्ति प्रधान अधिकारी किस प्रकार इन निःसहाय और विवश सर्वहारा वर्ग की नारियों का शीलहरण करते है इसे बिंदिया के कपोलों का स्पर्श करने वाले आतुर दारोगा की अभिनेयता में सहज ही देखा जा सकता है। कथाकार प्रस्तुत चित्रण द्वारा यदि सर्वहारा समाज की असहाय स्थिति का साक्षात्कार कराता है तो वहीं उच्च समाज के खोखलेपन को भी प्रत्यक्ष करा देता है। तथाकथित सवर्ण और उच्चस्तरीय समाज की पहचान इस नारी को अच्छी तरह है। रात्रि के अन्धकार में नारी देहयष्टि का समुपभोग करने वाले प्रकाश निकलते ही उसकी छाया मात्र से भागने लगते हैं। गांव के धर्मध्वजी मुखिया दुश्चरित्रता के आरोप में जब झोंपड़ी उजड़वाने लगते हैं तो निर्भीक स्वरों में इनके ही पुत्र महेश का भंड़ा फोड़ कर कहती है कि यह देखिये महेश बाबू है; मुखिया बाबू को इन पर बड़ा नाज है। ये अपना शिर मे पैर पर रखकर कितनी बार मेरे प्रेम की भीख मांग चुके है.........। मुखिया द्वारा

क्रोधाधिक्य में जमायी लात भी इसे रोक नहीं पाती कह ही देती हैकि वैजू बाबा आज सब लोगों अच्छे हैं..........। रस लोभी भ्रमरों परविंदिया की उक्ति बड़ी सटीक बैठती है। उच्च समाज के सम्मुख यथार्थ का प्रस्तुतीकरण तो करती हैकिन्तु तत्क्षण माफी भी नहीं मांगती है।

कथाकार प्रस्तुत लघुचित्र में सवर्णों असवर्णो के यौन सम्बन्धों से मर्दित नारीके खण्डित व्यक्तित्व को उजागर करता है। जमाने से संघर्षरत नरी मानव धर्म के प्रति तरल संवदेनानुप्राणित अवश्य है किन्तु समाज की वर्ग और वर्ण विषमता उसे कुचल देती है। सवर्णों असवर्णों के मध्य अवैध यौनाचार के प्रसंग ग्राम जीवनपरक कृतियों में उभरे हैं जिसमें हानि असवर्ण समाज को ही उठानी पड़ती है। अलग–अलग वैतरणी की सुगिया, 'मांटी की महंक' की इंजोरिया 'धरती धन न अपना' लच्छो जैसी नारियों के सन्दर्भ में स्वीकृत मूल्यों के प्रति विद्रोह धर्मी संदर्भ को तथ्यदर्शी लेखकों ने प्रामाणिक स्तर पर रूपायित किया है।

बसमतिया:

स्वतंत्रतापूर्ण और पश्चात् सर्वहारा जीवन की आंशिक फलक प्रस्तुत करने वाली भैरव प्रसाद गुप्त की प्रमुख 'कृति सती मैया का चौरा' के प्रमुख सर्वहारा नारी पात्र के रूप में बसमतिया का व्यक्तित्व चित्रित हुआ है। निम्न कुलोद्‌भवा असवर्ण समाज की यह सुन्दरी नारी है जो उच्च और निम्नवर्ग के स्थापित यौन सम्बन्धों के कुपरिणामों को जीवन भर भुगतने के लिए बाँध्य की जाती है।

जमींदार मियां के पुत्र मन्ने द्वारा शोषित बसमतिया, कैलसिय ऐच्छिक विपरीत स्थिति वाली उत्पीड़िता के रूप में चित्रित है। एक मियां का व्यक्तित्व था जो साहस पूर्वक समाज का सामना करने के लिए अपनी समस्त आन वान की बाजी लगाकर पीड़ितों, दुखिता, आर्त कैलसिया की रक्षा कर दलित मानवता को निष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित करने में प्रयत्नशील था तो दूसरी तरफ इन्ही का पुत्र मन्ने मानवता को कलंकित कर शोषण के रूप में उभरता है। वसमतिया जैसी नारियों को भोग्या बनाकर और उनकी विवश स्थिति के साथ मनमानी करने वाले कुलीन समाज ने सर्वहारा नारी जीवन को कंटकाकीर्ण बना दिया है। कथाकार इन दोनों नारी पात्र का सूक्ष्म सम्वेदनशील और प्रमाणिक चित्रांकन करता है।

सांसारिकता से अनभिज्ञ भोली निरीह अल्पवया बसमतिया मन्ने की अमानवीय उपेक्षा सहती है। उसकी भूलों का दुष्परिणाम उसके समक्ष है। जिस व्यक्ति के मधुर संताप, भव्य आश्वासन पर वह सब कुछ लूटा बैठती है और वही मन्ने जब पत्नी द्वारा पीटी गयी बसमतिया से यह कहता है कि 'गयी थीए दुलहिन को कील दिखाने'। मारे नहीं तो क्या इसके लिए पलंग बिछाये?' तो इसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। यह एकांगी प्रेम यदि बसमतिया की ओर से निष्फलतापूर्वक किया गया विश्वास है तो मन्ने के लिए मात्र अवसरवादी तुष्टीकरण की प्रक्रिया। और इसके फलस्वरूप दुर्दशा की पराकाष्ठा पर पहुंची बसमतिया अवशिष्ट आत्म दर्य के साथ विफर पड़ती है कि 'चल रे, माई चल।.............रात कहे पियानथिया गढ़ाई देइब, होत भिनसार विसर गइल बतिया।' यह मार्मिक अभिव्यक्ति उस नारी की है जो अपने वंचक को सामने देखकर भी उसको मन की सारी व्यथा समझाने में असमर्थ है। रात के अंधेरे में पूर्व प्रेम का अटूट विश्वास लेकर मन्ने की विवशता से आर्थिक लाभ उठाने वाली मां की सहमति से विक्षुब्ध बसमतिया की अन्तर्व्यथा मन्ने के समक्ष पड़ती है। सहानुभूति के स्थान पर लांछना और अपमान की प्रतिक्रिया उसके हृदय में बड़े वेग से प्रवाहित होने लगती है। विवशता भरे इस आर्द्र कथन द्वारा कि 'हम पर जो बीतेगी, छाती पर सह लेगें, कभी तुम्हारा मुंह न जोहेंगे। क्या समझ रखा है तुमने। एक पानी पर जिन्दा रहने वाले हैं हम जिसमें माथ में सेनुर डाला वोतो पाया नहीं हमें और तुम कहते हो..........।

उच्चवर्ग की कृत्सा, अन्तृत और अनाचार से सताई गयी नारी के इस दृढ़त्व में शोषण को पराभूत करने वाली क्षमता साकार है। कथाकार इस ओजस्विनी नारी के माध्यम से कुलीन समाज की उत्पीड़कता को साकार कर इनकी विवशता का यथार्थ प्रतिबिम्बित करता है। समाज के कठोर दण्ड से परिचित बसमतिया अपने प्रेम का व्यवसाय करना नहीं जानती है। सभी विपत्तियों को शिरसा स्वीकार कर रोती हुई चली जाती है कि 'जब बात ही उठ गई तो बात बढ़ाना फिजुल है हम जाते हैं। समझ लेगें कि जिस पर नाचते थे उसी ने सिर पर भउर उझिल दिया।........जाओ तुम जानो और तुम्हारा भगवान।'

अपढ़ गंवार, नीच नादान बसमतिया जीवन भर श्रमिक के रूप में अपने प्रणय उपहार में मिले पुत्र को लेकर दिन काटती है। कुलीन वर्ग की हविश में फुलसती नारी की अर्न्तमुखी वेदना को कथाकार ने सहृदयतापूर्वक रूपायित किया है। कैलसियाए

बसमतिया, सुनेसरी इस कृति के शोषित सर्वहारा पात्रों में अविस्मरणीय प्रभाव छोड़ते है। इनके मनः विश्लेषण में युगधर्मी यथार्थ के प्रति विद्रूप विक्षोभ हिलोरे ले रहा है।

नटनारी प्यारी:

रांगेय राघव की प्रख्यात कृति 'कब तक पुकारूं' की प्रमुख सर्वहारा नारी पात्र है प्यारी। नट केला में पटु यह नटिनी सुखराम को अपना सहचर तो स्वीकार करती है। किन्तु उसकी अभिजातवर्णी अहमन्यता के प्रबल प्रतिरोध में अपनी जातिमय विवशताओं को उभार कर उसके दर्प को चूर–चूर कर देना चाहती है।

नारी मन की विवशता, सहचर का आत्मदर्प तथा विवश स्थितियां सभी उसे पति के सम्मुख वास्तविकता उपस्थित करने के लिए बाध्य करती है। पति से व्यंग्य वाणों से आहत और तिरस्कृत प्यारी उसके समक्ष वस्तुस्थिति के यथार्थ को इतने तीक्ष्ण शब्दों द्वारा संकेतित करती है कि इस अभिव्यक्ति में कथाकार की नारी मनोविज्ञान की अंतरंगता की रूझान की पारदर्शी फलक तथा नट समाज समग्र असंगतियां दोनों साकार हो जाती हैं। प्यारी की यह व्यंग्योक्ति कि धिकरे राजा मरद। तेरी आंखों में शील नहीं रह गया। औरत को बचाना तेरा काम है। तू अपने धरम मरजाद की टेक निबाहता है तो फिर मुझे रोकना तेरा काम है। तू मुझे बचा। मैं और नटिनियों सी नहीं हूँ। मैं क्या करूं। जीवन दिखाती नहीं, दिखा जाता है। उसे क्या डिबिया में बन्द करके धर लूं। तुझे शरम नहीं? चिल्ला–चिल्ला कर जगत को अपनी सुनाता है। पेट में रख के छिपाना नहीं आता?'

नट समाज की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मर्यादाओं का विगलित यथार्थ तीक्ष्ण बोध के साथ प्यारी के माध्यम से कथाकार मुखरित करता है। स्पष्टवादिनी प्यारी के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी निश्छलता और पाप पुण्य के प्रति अनभिज्ञ जीवन दृष्टि। स्वयं को नीच और दलित समझने वाली प्यारी सुखराम से कहती है कि तू अपने को ठाकुर समझता है बावरे? स्नेह से भीगे शब्दों में कठोर यथार्थ झलक रहा है। जो वह नहीं है उसके प्रति आसक्ति भी क्या? रूस्तम खां की रखेलन बन कर नटों को शोषण और उसी उत्पीड़न से बचाने का कल्याणकारी स्वप्न संजोने वाली प्यारी कहती है कि फिर कोई नट को बेवजह पकड़ कर थाने में बन्द कर सकेगा? दलित मानवता के उद्धार के लिये अपनी सीमित शक्ति का उपयोग करने वाली नटिनी अनेक

उपपतियों के उपरान्त भी अपने अपरिमित स्नेह तथा अतुल विश्वास से सुखराम को अभिभूत बनाये रखती है।

रूस्तम खां के जाजम पर सज धज कर बैठी प्यारी सुखराम की अस्वीकारोक्ति पर स्वयं भी वहां नहीं रहना चाहती है। सुखराम द्वारा कजरी की चर्चा मात्र से नारी सुलभ ईर्ष्याग्नि में जलती प्यारी सुखराम पर अपने एकाधिपत्य की अंतिम लालासा को शब्दों की मार्मिकता में बांधते हुए कहती है कि 'मेरी लास पर से कुचल कर चला जा तू जा रहा है तो मैं भी आज अपने कलेजे में कटार भोंक लूंगी।' प्यारी की प्रीति दिखावा नहीं वस एक ऐसी सात्विकता से पूर्ण है जिसके कारण वह बहुत ऊंची उठ जाती है। रूस्तम खां से मिली यौन व्याधि की संक्रामकता से ग्रस्त प्याारी सुखराम को इससे विरत रखना चाहती है, यदि उसके इसी दोषवश सुखराम कजरी का हो जाता है तो वह स्नेह पूर्वक उसे अपने से छोटी समझ कर स्वीकार कर लेती है।

रूस्तम खां के माहौल में रहकर भी उसकी अन्तरात्मा सुखी नहीं हो पाती है। हुकूमत की अधिकारिक भावना के वशीभूत होकर जिस परिवेश को प्यारी स्वीकारती है, उसकी सत्यता का ज्ञान रूस्तम और वाके के सम्वादों से पा जाने पर मुक्ति के लिए छटपटाने लगती है। नटिनियों की प्रखर निर्मयता का सहज उपहार प्रकृतितः प्राप्त करने वाली प्यारी, अत्यन्त स्पष्ट मनोवृत्तियों की स्वामिनी है। अल्प सामर्थ्य सम्पन्ना यह नारी बर्बर अत्याचारों और पाशविक प्रवृतियों के पालकों, रूस्तम और बांके से बड़ा भयंकर प्रतिशोध लेती है।

कथाकार प्यारी की अभिव्यक्ति सम्वेदना में निम्न जाति की विवशता को मूर्तमान करता है, तथा उस समर्थ समाज का भी नग्न यथार्थ प्रस्तुत करता है जो मानवता का कलंक है। अपने दोषों और पापों को शिरसा स्वीकार कर रूस्तम खां को लताड़ते हुए कहती है कि 'मैंने हजार किया पर मैंने ये तो कहा कि मेरी भली लुगाइयों से छोड़ है। जगत जानता है उतरी–फुत्तरी हूँए पर तू तो अभी भला बना डोलता है?

नारीत्व का शोषण करने वाले इन नर व्याधों को अकेले ही परास्त करने वाली यह नटिनी ओजस्विता की प्रतिमूर्ति बन कर उभरती है। कथाकार आंचलिक भाषा, मुहावरे और उक्तियों के सार्थक प्रयोग से पाला की मनोभावाभिव्यक्ति को साकार कर देता है। रूस्तम खां के प्रति अपनी समस्त घृणा और क्रूरता की अभिव्यक्ति करती यह उठती है कि 'तेल में भिंगों कर बट दूंगी आग वाले। आंखे दिखाता है मुझे।

रूस्तम खां को मारकर अपना प्रतिशोध लेने वाली यह नारी अपनी अविस्मरणीय स्मृति पाठ के अन्तस्तल में छोड़ जाती है।

बंजारी:

राजेन्द्र अवस्थी की स्थानीय सत्यों की विशद संयोजनात्मक कृति 'सूरज किरन की छांव' की प्रमुख सर्वहारा नारीपात्र बंजारी का चरित्र आद्यान्त मार्मिक और प्रभावशाली रूप में उपन्यस्त है। कथाकार सप्रयोजन ही इस चरित्र की अवधारणा करता है। आदिवासी जीवन की वर्तमान समस्याओं के संत्रास की रूपरेखा बंजारी के माध्यम से ही स्पष्ट होती है।

युवा तरूणी बंजारी आर्थिक प्रलोभन में युगीन बंचकता से चली गयी ऐसी नारी है जो अर्थ मूलक सभ्यता के आकर्षण में परधर्मावलम्बिनी बन कर भी अपने परम्परागत जीवन मूल्यों से असम्पृक्त नही हो पाती । कथाकार बंजारी के द्वन्दशील अन्तःकरण को निर्पेक्ष भाव से विश्लेषित करते हुए जीवन यथार्थ के विद्रूप को बड़ी कुशलता पूर्वक चित्रित करता है।

बंजारी का संवेदनशील जागरूक अन्तर्मन द्वन्द्वपूर्ण स्थिति से गुजरता है वह विलियम के उदण्ड आलिंगन के प्रतिशोध में गालियां तो देता है किन्तु इसके उपलक्ष्य में मिले दो रूपयों का लोभ संरण नही कर पाती। आर्थिक प्रलोभन में निमग्न बंजारी कमला की रसभरी मनुहार की उपेक्षा अवश्य कर जाती है किन्तु कमला के प्रति विलियम की अवमानना उसके हृदय में अनजानी घृणा भी पनपा जाती है। सम्बन्धों को घृणित दलीलें स्वीकारना उसे मान्य नही किन्तु नई साड़ी और पोलका के प्रति उसका आकर्षण भी अल्प नही है। इन विरोधाभाषों के माध्यम से अर्थशून्य निर्धन व्यक्तित्व की सच्चाईयां विश्वसनीय रूप से उभरी है। दुरावस्था में इसका आत्मविश्वास और प्रखर नही उठा है जो उसकी विलक्षणता का परिचायक है । पिता की आगत विपत्ति से अवमत बंजारी कहती है कि 'मुझे घर से निकाल दो और तुम गांव की जात में मिल जाओ' विलियम के विश्वासघात से उसकी आस्था का दर्पण चूर–चूर हो जाता है। गॉव की अंतिम सीमा छोड़तेंए विछुड़ने की तीव्र तड़पन से भरी बंजारी की मनः स्थिति का मनोविश्लेषणात्मक प्रतिचित्र इन शब्दों में ध्वनित हो उठता है कि इसी पापी साले ने

मुझे जात से छुड़ाया और अब गाँव बलद करा रहा है । सीधी सरल भाषा में धर्म और परिवेश परिवर्तन की गहरी मनोव्यथा अंकित है।

बंजारी परधर्मावलम्बनी बनकर भी विगत सांस्कृतिक जीवन के अन्तर्वैभव को विभिन्न साकियों, नृत्य साकियों, नृत्य,गीत, ह्रास उल्लास के दिवास्वप्नों में डूबी रहती है। धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की अत्यक्त अनुरक्ति अवांछित मर्ममार और पति की अवज्ञा से घोर मानसिक उत्पीड़न से संत्रस्त बंजारी का चरित्र चित्रण नितान्त प्रमाणिक रूप में कृति में उभरता है। बाह्य रूप से परधर्म दीक्षिता बंजारी का अतंःकरण मूल रूप से भारतीय ही रहता है। कथाकार धर्म और संस्कृति के उत्सों की प्रवजमानता में जीवन मूल्यों की गरिमानता संस्थापित करते हुए दृष्टिगत होता है।

पलकी:

डा0 विवेकीराय कृत 'बबूल' की सर्वहारा नारी पात्रों में पलकी का चित्रण अत्यन्त प्रभावशाली है। सत्रह वसन्तों के सौरभ से पूर्ण लावण्यमयी हरिजन कन्या पल की का कौमार्य जमींदार पुत्र द्वारा भ्रष्ट कर दिया जाता है तो कलंकित कौमार्य के कलंक प्रच्छालन के उपरान्त मौसी के घर आयी पलकी पर पुनः चारो ओर से डोरे पड़ने और कम्पे बिछने लगते हैं।

किन्तु इन दुरभिंन्धियों को एक बार की जली पलकी भांप जाती है। पानी के प्राचीर में बिंदियों की भांति यह ओजस्विनीनारी तीक्ष्ण स्वरों में मालिक की भर्त्सना करते हुए कहती है कि ऐसे रूपये पर वज्र पड़े। ऐसी वनिहारी पर आग लगे........। सहज ग्रामीण भाषा में मनोदगारों की व्यापक अभिव्यक्ति से पलकी के दृढ़त्व की झलक मिलती है। सातीत्व की सुरक्षा और यौवनोद्वेलन के फलस्वरूप यह नारी महेसवा जैसे पौरूषपूर्ण व्यक्ति का हाथ पकड़ लेती है।

कथाकार इनके निर्धन दाम्पत्य में सहज जीवन का दिव्य संतोष और निश्चिंतता की झलक प्रस्तुत करता है। सूर्य की तीक्ष्ण धूप में अम्लान सौंदर्य वाली, बरसात की बौछारों में बगीचे की हरियाली की भांति निखर जाने वाली तथा प्रकृति के अंचल में युक्त विचरणशील पलकी के मनोरम दाम्पत्य को अर्थमयी विमीषिका की चिनगारी भस्मसात कर देती है।

अर्थ संघर्ष में जूझता चार–चार प्राण प्राणियों के लिए मुख का सौंहण जुटाने वाला उसका पति महेसवा असमय में ही उसे मजधार में छोड़कर चला जाता है तो कथाकार इस आभागी नारी के हृदय द्रावक दैन्य का मार्मिक प्रसंग स्थापित करता है। आत्मदीप्ति से भरी प्रखर बोध वाली नारी के भौचक व्यक्तित्व को अर्थ की भयावनी काल ग्रस लेती है। पति वियोग के साथ अनाथ परिवार की चिन्ता से फूटती स्वरलहरी की हाय ए लोगों । अब नइया कौन पार लगायेगा ? मै कथाकार समग्र सर्वहारा जीवन की विवशताओं का सामूहिक आलेखन प्रस्तुत कर देता है।

धान माँ :

कथाकार शानी की वस्तर जिले की आदिवासी जीवनाधारित कृति "कस्तूरी" की प्रमुख सर्वहारा नारी पात्र धान मां है। छोटा सा गांव कस्तुरी नगर प्रभाव की चपेट में आधुनिक मूल्यों को स्वीकारता जा रहा है। नगर के बाजार में धान का छोटा सा व्यवसाय करने वाली चम्पा नैतिक सीमा रेखाओं के अतिक्रमण से अर्थ सम्पन्ना बन जाती है।

शहर में आये ट्रक ड्राइवरों और नौकरी पेशा लोगों पर छा जाने वाली सुन्दरी आदिवासिनी और परिष्कृत रूचिवाली इस नारी की अन्तर्व्यथा आतीत के पृष्ठों को उभरने पर ज्ञात होती है। अपने विगत को हीरा सिंह की रूग्णावस्था में खोल कर अपने प्रति सहज सम्बेदना अर्जित करने वाली धान मां कथान्त में अपने जीवन के गूढ़ रहस्य और मार्मिक सत्य का उद्घाटन करती है। अवैध सम्बन्धों से अर्जित उसका वर्तमान पुत्र प्रणयी कालिका का न होकर हीरा सिंह का है जो अब उसके स्वैछाचार को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है।

कथाकार अपनी श्लाघनीय क्षमता से इस लघु कृति में आधुनिकता से प्रभावित नारी की ऐच्छिक लालसाओंए टूटती नैतिक सीमाओं और तद् विषयक विसंगतियों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है। भौतिक आंकाक्षाओं के बढ़ते ज्वार में वह मातृहीना किशोरी डोली को भी त्रिपथगामिनी बनाने का प्रयास करती है।

धानमां के चरित्र में कथाकार ने आधुनिकता की लहर में बहती उस नारी का चरित्रांकन किया है । जो परम्परागत मूल्यों को झटक कर सुख सुविधाओं की लालसा से नाना विसंगतियों को वरण करने के लिए बाध्य होती है।

महानगरीय सर्वहारा वर्ग के विविधपात्र :

जयवन्त दलवी की नगर जीवनाधारित कृति 'घून लगी बस्तियां' में महानगरीय परिवेश में उभरते सर्वहारा पात्र अपने समाज के प्रतिनिधि चरित्र हैं कथाकार इनके माध्यम से इस समाज का सत्योद्घाटित करता है। चोरी, झूठ और व्यभिचार की परिधि में भी मानवीय भावनाओं की तरल क्षीण धारा प्रस्तुत पात्रों के व्यक्तित्व में प्रवाहित है। उपन्यासकार ने नई सभ्यता और संस्कृति में अग्रगण्य महानगरों के परिवेश में आपादमस्तक कलुषताओं में लिपटे व्यक्तित्वों और उनके हेय विवशताओं और अंधकारपूर्ण जीवनीय अभिव्यक्तियों को इन पात्रों के चरित्र चित्रण द्वारा उजागर किया है।

शहीदा और सुन्द्रा जैसी वैश्यायें अपने समाज की टाइप पात्र हैं जो आर्थिक अभाव में नारित्व का क्रय–विक्रय कर रही है तो लूका जैसे पात्र अर्थाभाव में भयंकर अपराधिक मनोवृत्तियों वाले कुंठाग्रस्त व्यक्तित्व का यथार्थ निरूपण कर रहे हैं । सामूहिक रूप से कृति के समस्त पात्रों के मध्य घृणित नग्न यौनाचार और यौन विसंगतियों के मूल में आर्थिक असंगतियों के ही दर्शन होते है।

सुन्द्रा, लूका, बेन्वा के मध्य घटित यौन सम्वेंगों की चारित्रिक परम्परा में एक वीभत्स लिजलिजी कामुकताए उद्घाटित होती हैए जो इनके जीवन की परिचालिका के रूप में प्रस्तुत है। बेन्वा की मां अम्मा अर्थ सेंयत भविष्य की आकांक्षा और बेन्वा की सुनिश्चित जीवन व्यवस्था के लिए सवर्ण को लूका के हाथों समर्पित कर देती है लेकिन अरूणा के प्रति वह आन्तरिक स्नेह से जुड़ी हुई है । कथाकार न केवल सोन्या जैसे पात्रों की अतृप्त कामेच्क्षा चित्रांकन करता है जो उकडू बैठी अम्मा की मांसल जाघें देखने की कुत्सा से घिरा हुआ है वरन् इस समग्र परिवेश के प्राणियों तथा कुत्तेए मुर्गेए मुर्गियों के प्रति भी अज्ञात अतृप्ति सांकेतिक करता है।

फ्रायड एडलर और युंग को 'अतृप्त कामेच्क्षा सिद्धान्त' से प्रभावित इन पात्रों का चित्रांकनए कथाकार द्वारा नियोजित आधुनिक परिवेश में विश्वसनीयता प्राप्त कर लेता है। झोपड़ी में पर पुरूष की अंकशायिनी वनने वाली अपनी ही मां के प्रति बेंन्वा की सहज मानसिक एवं शारीरिक उत्तेजना को कथाकार मनोवैज्ञानिक आवरण में प्रस्तुत करता है।

इन संदर्भों के अलावा इन पात्रों की सहज, सम्वेदनशीलता जीवन की मार्मिक स्थितियों में मुखर होती है। स्वयं अभावों और विपत्तियों से घिरे होने पर भी सामूहिक कल्याण की कामना से हर पात्र उद्वेलित है। कथाकार इनकी अनैतिकता में अन्तर्निहित नैतिकता की अभिव्यक्ति को नितान्त कुशलतापूर्वक रेखांकित करता है।

मीकू:

ख्वाजा अहमद अब्बास की नगर जीवनाधारित कृति 'तीन पहिये' का प्रमुख सर्वहारा पात्र मीकू निम्नतम वर्ग का ऐसा प्रतिनिधि है जिसकी अन्तश्चेतना में मानवीयता की गहरी जड़े समाहित है। इसके अन्तः संघर्षों की पृष्ठभूमि में आर्थिक विषमता उपस्थित है। युगीन सर्वहारा को स्थिति भोगने वाला यह पात्र अर्थोपार्जन के लिए महानगरी में आता है तो इस संगदिल शहर में कभी स्टूडियो के गेट के फौलादी सीखचों से उलझ जाता है तो कभी फुटपाथ पर खाक छानता हुआ कारखाने में काम न पाने की अवस्था में महानगरीय विसंगतियों का शिकार बन कर तीन बार जेल की यात्रा कर आता है।

व्यक्तिगत स्तर पर भोगे गये जीवन की प्रमाणिक अनुभूतियां समष्टिगत संत्रास का प्रतिनिधित्व करती प्रस्तुत हैं। कथाकार तटस्थ भाव से इस पात्र की जीवन स्थितियों की झांकी प्रस्तुत करता है। फारस रोड की अनैतिक स्थितियों को तिलांजलि देकर बालों की प्रेरणा से नये जीवन का सूत्रपात्र करने वाले मीकू को जब उसके तीन माह के अवैध गर्भ का पता चलता है तो उसका सहज पुरूषोचित आवेश फन्नाटेदार थप्पड़ के रूप में बालों के गाल पर बरस पड़ता है। किन्तु तत्क्षण मानवीय स्तर पर यह कह कर कि 'अब तेरी फिकर करनी पड़ेगी तू मां बनने वाली है न?' मीकू वालों को स्वीकार कर लेता है। कथाकार द्वन्द्वशील मनः स्थितियों का सूक्ष्म रूपायन कर अन्तर्वर्ती भावनाओं को मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। वालों के पुत्र मन्नू की वर्षगांठ पर ज्यादा से ज्यादा इकट्ठे कचरे से दस रूपयों की प्राप्ति करके खिलौने कपड़े और सिनेमा देखने की आकांक्षा से भरा खटारा लिये हुए घर लौटते मीकू को मार्ग में ही कूड़े के ढ़ेर कुरेदती बालों दिखाई पड़ती है। आशंका से चीखता मीकू मनः स्थितियों के भयंकर दौर से गुजर कर भी नितान्त शांत स्वरों में प्रत्युत्तर देता हुआ

कहता है कि 'कचरे वाले सेठ की नहीं कचरे को कचरे के ढ़ेर में फेंक दिया'। सेठ की ही अवैध सन्तान के लिए मीकू का यह ममत्व बड़ा मानवीय है।

अन्यायी और शोषकों के प्रतिशोध के चरम शिखर पर पहुंचा मीकू जेल के सीखंचों में बन्द वह सर्वहारा प्रतिनिधि है जो मौन भाव से प्रताड़नाओं का आघात प्रतिघात सहते–सहते ज्वालामुखी की भांति फफक उठता हैं।

****

छठा अध्याय

सर्वहारा वर्ग और समाजिकता का बोध :

भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति भारतीय राजनीतिक जीवन के साथ–साथ भारतीय सामाजिक जीवन की एक पुष्ट विभाजक रेखा है और इसमें निश्चित रूप से स्वातंत्र्योत्तर भारतीय सामाजिक जीवन में परिवर्तनकारी शक्तियों में अधिकांश रूप में उच्च और सुविधासम्पन्न वर्ग को ही प्रभावित किया है। जिसे निम्न अथवा सर्वहारा वर्ग कहते है। उसको स्वातंत्र्योत्तर परिवर्तनों अथवा विकास श्रृंखलाओं ने स्पर्श नहीं किया है, ऐसा तो नही कहा जा सकता किन्तु वास्तविकता यह है कि उनकी अभावग्रस्ता, अकिंचनता, उत्पीड़क स्थितियों, अन्य नियति, अत्याचार अन्याय तथा शोषण के दुर्निवार चक्र और सामाजिक हीनत्व की भावना अभी भी विद्यमान है। पूर्व स्वातंत्र्योत्तर काल में राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान इनकी ओर तीव्रगति से आकर्षित हुआ था और उनके चतुर्मुखी उत्कर्ष के लिए संकल्प लिए गये थे । किन्तु स्वतंत्रता के उपरान्त कुछ अनिवार्य स्थितियों के कारण इस उत्कर्ष की गति पर्याप्त मन्द है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग चेतना आंचलिक उपन्यासों और ग्राम–कथाओं के सृजन क्रम में पर्याप्त मात्रा में हुआ है। उसका मूल्यांकन करने के पूर्व स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में ही वर्णित स्वतन्त्रता पूर्व के सर्वहारा चेतना की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है।

(क) स्वतन्त्रतापूर्व सर्वहारा वर्ग का सामाजिक शोषण मूलक परिवेश :

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों में से नागार्जुन ने स्वतन्त्रता पूर्व शोषण की स्थितियों का बड़ा ही प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत किया है। "बाबा बटेसर नाथ" में जैकिसुन से बटेसरनाथ कहते हैं........"सौ वर्ष पहले दर–असल अपने इलाके में जमींदार सर्वेसर्वा हुआ करता था। रियाया से वेठ–बेगार लेना उसका सहज अधिकार था........वह दबदबा! वह अकड़! वह शान! वह तानाशाही! वह जोर! वह जुल्म! क्या बताऊं, बेटा? राजा साहब के मझले कुमार की शादी में,......कन्धों पर बॉस रखकर सोलह बेगार भारी सी एक तख्तापोश ढ़ोए जा रहे थे उस पर दरी और जाजिम बिछी थी। मय साज–बाज के एक रंडी उस तख्तापोश पर नाच रही थी। तबला, डुग्गी, सारंगी, मजीरा सब साथ दे रहे थे।"[1]

---

1. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन,पृष्ठ–49

नागार्जुन ने अपनी प्रख्यात जनवादी रचना 'बलचनमा' उपन्यास में स्वतन्त्रता पूर्व के भारतीय सर्वहारा के सामाजिक शोषण के चित्रों को मार्मिक ढंग से उपस्थित किया है। उन्होंने ऐसे समाज का चित्रण किया है जिसमें यह भावना प्रचलित है कि "शूद्र को समूची पोथी पढ़ा दे तो उसके पितर स्वर्ग छोड़कर नरक में रहने को मजबूर होते हैं।"[1]

भारतीय अभिजात वर्ग के भीतर इस विपन्न असहाय और उपेक्षित वर्ग के प्रति अमानवीयता संचित है। इसका प्रत्यक्ष दर्शन बालचन के पिता के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। स्वतन्त्रतापूर्व अमानुषिक यन्त्रणा भोग से संत्रस्त लालचन को दो कृष्ण भोगों के लिए हृदयद्रावक दुर्दशा भोगनी पड़ती है। लालचन को ...."खमेली के सहारे बॉधकर बर्बरतापूर्वक पीटा जाता है। जॉघ, चूतर, पीठ और बॉह पर बॉस की हरी कैली के निशान ऊभर आए हैं। चोट से कहीं–कहीं खाल उधड़ गई है और आंखो के बहते ऑसूओंके टंधार गाल और छाती पर से सूखते नीचे चले गए हैं....... चेहरा काला पड़ गया है। होंठ सूख रहे हैं।[2] श्री अरविन्द पाण्डेय ने " दिशाओं के परिवेश" में सर्वहारा वर्ग की स्थिति को विश्लेषित करते हुए प्रभावक शब्दों में लिखा है कि 'इनका उत्पीड़न देखकर सभी प्रकार की सामाजिक तथा आदर्शोन्मुख मान्यताओं अथवा आस्थाओं के प्रति मन अबिश्वस्त हो उठता है।[3]

भारतीय ग्रामीण सर्वहारा वर्ग की प्रामाणिक उपलब्धियों से पूर्ण डा0 विवेकी राय कृत 'बबूल' में महेसवा चमार का जीवन पर्यन्त शोषण इतना तीव्र है कि अन्ततोगत्वा शरीर विसर्जन के उपरान्त ही उसे त्राण मिल पाता है। मंगरूआ की माँ अपने आन्तरिक उद्‌गारों में वस्तुस्थिति निरूपित करते हुए कहती है कि 'चार दिन से बाबू साहब छेद रहे थे कि हलचल उठा। जैसे तीन ही दिन में डीह टूट गया हो। अपने खातिर भाई जैसे, आन खातिर कसाई जैसे।[4]

स्वतन्त्रतापूर्व सर्वहारा वर्ग के सामाजिक शोषण का अत्यन्त प्रभावशाली अंकन प्रमुख आंचलिक उपन्यासकार 'फणीश्वर नाथ रेणु' की बहुचर्चित कृति "मैला आंचल" में हुआ है। बूढ़े तहसीलदार साहब अपने शलीम शाही जूतों के तल्ले में ही कांटिया पुरैनिया से हकवा कर मंगाते थे और तीन महीने में ही कांटिया झड़ जाती थीं। सुनते है वे बोलते बहुत कम थे, कान से कम सुनते थे, और जब बोलते थे तो.........मारो साले को दस जूता। कमला नदी के बगल में जो गड्ढा है, उसी में जोंक पालकर रखा गया था। जिसने तहरीर तलवाना या नजराना देने में देर की, उसे गढ्ढे में चार घंटों तक खड़ा

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–136
2. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–5
3. दिशाओं का परिवेश संस्करण , ललित शुक्ल शीर्षक के तहत यथार्थ की जमीन पर नये संतुलन की खोज : अरविन्द पाण्डेय, पृष्ठ–104
4. बबूल : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–197

करवा दिया। पांव के अँगूठे से लेकर जॉघ तक मोटे–मोटे जोंक घुंघरू की तरह लटक जाते थे'।[1] डॉ0 त्रिभुवन सिंह ने हिन्दी उपन्यास और यथार्थ में विश्लेषित करते हुए लिखा है कि 'बच्चा बाबू के रूप में जमींदारों का वह शोषक वर्ग है जो मजदूरों के जान की कीमत केवल बीस या पच्चीस रुपए से अधिक नहीं जानता'।[2]

स्वामी वर्ग के भय से कातर बनी मंगरूवा की दाढी झोंपड़ी के बाहर खड़े मालिक की आवाज़ सुनकर अपने जातीय स्तर पर समाज शोषण का आभास देते हुए पौत्र मंगरूवा से कहती है कि मुँह से कुछ वैवाहिक बात निकल गई तो तेरे साथ घर–भर की चमड़ी उधेड़ ली जाएगी[3]

स्वतन्त्रतापूर्व भारतीय ग्रामीण सर्वहारा वर्ग की दीर्घकालीन सामाजिक शोषण परम्परा का उल्लेख विभिन्न कृतियों में हुआ है। वृन्दावन लाल वर्मा की सामाजिक कृति 'उदय किरण' में कुँवरपुर के जमींदारों से संत्रस्त निम्न सर्वहारा वर्ग 'डावर' ग्राम बसा कर रहने के लिए विवश कर दिया जाता हैं वर्मा जी की दूसरी कृति 'कभी न कभी' में सर्वहारा श्रमिकों का ग्राम और नगर दोनों पृष्ठभूमियों में आद्यन्त सामाजिक शोषण वर्णित है। रांगेय राघव की कर नट जाति की जीवन सन्दर्भ को आख्यायित करने वाली रचना 'कब तक पुकारूँ' में करवट जाति के स्वतन्त्रतापूर्व सामाजिक शोषण के परिदृश्य पर्याप्त प्राभाविकता के साथ उपन्यस्त हैं। आदिवासियों के जीवन की सफल झॉकी उपस्थित करने वाली जयसिंह की चर्चित कृति 'कलावे' में भीलों के सामाजिक शोषण का अत्यन्त पारदर्शी अंकन हुआ है। स्वतन्त्रता पूर्व और पश्चात् की स्थितियों में शोषण चक्र अबोध गति से घूमता रहता है। प्रख्यात कृतियों में स्वतन्त्रतापूर्व सर्वहारा वर्गीय जनजीवन के सामाजिक शोषण का अत्यन्त यथार्थ परक चित्रांकन हुआ है।

पूर्व स्वतन्त्रता सर्वहारा वर्ग के सामाजिक शोषण सम्बन्धी इस अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, वृन्दावनलाल वर्मा, धूमकेतु, हिमांशु श्रीवास्तव आदि साहित्यकारों ने जो चित्रांकन प्रस्तुत किया है वह इस वर्ग के जीवन यथार्थ को बड़ी मार्मिकता के साथ उद्घाटित किया हैं इनमें 'रेणु' और 'नागार्जुन' ने बिहार के जिस पिछड़े अंचल को लिया है। गरीबी उस क्षेत्र की प्रमुख पहचान है तथा अशिक्षा वहॉ की प्रकृति है अतः इन लोगों के चित्रों मे स्वतः मार्मिकता आ जाती है। 'फणीश्वरनाथ रेणु' में सांस्कृतिक स्पर्श अधिक है। इसलिए नागार्जुन में जहां क्षोभ और कड़ुवाहट है वहॉ रेणु में सम्वेदनीयता अधिक है। इसके अतिरिक्त रेणु की पकड़ बड़ी

---

1. मैला आँचल : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–167
2. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ0 त्रिभुवन सिंह, पृष्ठ–554
3. लोहे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–18

गहरी है। उनके शिल्प मे जीवन की यथार्थ झांकी मिलती है फिर भी कुल चित्रों को मिलाकर के जो स्वतन्त्रता पूर्व के सर्वहारा वर्ग के सामाजिक शोषण का चित्र उभरता है। वह वास्तव में अधूरा है और उसे स्वातंत्र्योत्तर काल के साहित्यकारों ने नए विकास के परिप्रेक्ष्य में आंकलित करने की चेष्टा की है। जयसिंह जैसे साहित्यकारों में यथार्थ की समग्र पकड़ है किन्तु वह भी अपने मौलिक रूप में प्रतिक्रियात्मक है। सर्वहारा वर्ग का तत्कालीन मूल चित्र जिस अकल्पित भंयकरता और रोमांचकता से सम्पृक्त है, इन चित्रों को देखकर उसकी एक कल्पना मात्र की जा सकती है।

(ख) स्वातंत्र्योत्तर सर्वहारा वर्ग की सामाजिक समस्या का प्रतिरूप :

भारतीय सामाजिक जीवन में सम्पृति समस्याएं ही समस्याएं हैं। किन्तु उस वर्ग की समस्याओं की आकृति–प्रकृति कुछ और ढंग की है जिसे सर्वहारा कहते हैं। कहा जाता है कि यह वर्ग समस्याओं में ही जन्म लेता है, समस्याओं में ही जीवन जीता है तथा पूर्वजों से पाई हुई समस्याओं में कुछ और बढ़ोत्तरी कर अपने उत्तराधिकारियें के लिए छोड़ जाता हैं, वास्तविकता यह है, कि इनके सामाजिक शोषण का ऐसा कोई कोण नहीं है जो समस्याओं से रहित हो। सबसे दयनीय स्थिति यह है कि इस वर्ग के सम्मुख जीवन की आधारभूत बेसिक समस्याएँ मुँह बाए खड़ी हैं, जैसे रहने के लिए आवास की समस्या, पहनने के लिए वस्त्र की और खाने के लिए अन्न की आदि। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य में ये समस्याएं जिस प्रकार चित्रांकित हुई है उसका एक सर्वेक्षण यहां प्रस्तुत किया जाएगा।

सर्वहारा वर्ग के गृह की समस्या बड़ी दारूण है। इसके बिना उसका सामाजिक जीवन गम्भीर रूप से हीन बना होता है। भारतीय ग्रामीण सर्वहारा वर्ग की आवासीय समस्या को नागार्जुन ने 'बलचनमा' में सन्दर्भित करते हुए लिखा है कि........'नौ हाथ लम्बा, सात हाथ चौड़ा घर था–दो छप्परों वाला। सामने छोटा सा ऑगन था। बाई ओर आठ–दस धूर (विस्वांसी) बाड़ी थी'।[1] सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि रंचक भूमि भी स्वामी वर्ग के लोगों की ही है। आवासीय समस्या की विकट स्थिति में 'बलचनमा' के गौने में आए स्वजनों को 'बयान' के पास वाली भूमि पर सोना पड़ता है।

नागार्जुन ने ग्रामीण जीवन के विशाल चित्र फलक पर निम्न सर्वहारा वर्गीय सामाजिक जीवन के अभाव, दैन्य और उसकी विरूपताओं के सजीव चित्र उकेरे हैं।

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–5

आज भी मालिक की भूमि में रहने बसने वाले सेवकों का एक बड़ा समुदाय ग्रामीण परिवेश में निवास करता है, जिन्हें वे अपना नहीं कह सकते हैं।

डॉ0 विवेकी राय कृत 'बबूल' में भी हरिजन महेसवा की विपन्न आवासीय स्थिति के दर्शन होते हैं जहां घर के नाम पर पुरानी दही खट्टी है। जिसमें किवाड़ों की आवश्यकता ही नहीं। फूस की झोंपड़ी जिसकी ऊपरी तह सड़कर सफेद हो गई है।[1]

ये जीर्ण शीर्ण आवासीय समस्याएं सर्वहारा ग्रामीण जनजीवन की प्रमुख सामाजिक आवश्यकता का उपहास करती दृष्टिगत होती है। 'रांगेय राघव' ने 'कब तक पुकारूं' में अस्पृश्य हरिजन जाति के निवास स्थल चमारों की दीन–हीन दशा का उल्लेख निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है कि .....'इनके घर छोटे–छोटे थे, घिरावदार थे, छप्पर उनके घरों पर काले पड़ गए थे और देखकर ही अन्दाज होता था कि यह हिस्सा कितना दरिद्र था।[2]

हिमांशु श्रीवास्तव की रचना 'लोहे के पंख' में बॉस के सड़ जाने से गिर रही पलानी की रक्षा के लिए एक बांस काट लेने पर इन्हें स्वामी वर्ग द्वारा असहनीय दण्ड प्राप्त होता है। वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'उदय किरण' में भूस्वामियों से संत्रस्त निम्न ग्रामीण सर्वहारा वर्ग को अपने बसे बसाए घरों को त्याग कर नया घर बसाने के लिए उथले गढ्ढ़े को पाटकर किसी प्रकार अपनी आवासीय समस्या का निदान ढूंढना पड़ता है। जयसिंह कृत कलावे में आदिवासियों की आवासीय समस्या को परबतिया की स्थिति अत्यन्त दारूण है। भूखा तन और भक्ति मन लेकर यह श्रमशीला नारी मालिक के आंगन में पेट की ज्वाला सहन न होने के कारण गिर पड़ती है। घर लौटी इस अकिंचना नारी की व्यथा से अनभिज्ञ शिशु 'बलेसरा मॉ की छाती से लगा हुआ था। भूखी रहने के कारण परबतिया की छाती को दॉत से खींच रहा था।'[3] नगर जीवन की परित्याग कर ग्रामीण पृष्ठभूमि में अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का स्वप्न संजोकर लौटने वाली परबतिया को यहॉ भी अन्नाभाव से क्षुधित पुत्र कलुआ भात के लिए बहुत दिक किया, तब लाचार होकर परबतिया ने उसे कस कर तमाचे लगाए और कलुआ रोते–रोते सो रहा।'[4]

हिमांशु श्रीवास्तव की आंचलिक कृतियों में अंचल विशेष की समग्र यथार्थता मूर्तित हो जाती है। परबतिया के वैयक्तिक जीवन के करूण चित्रांकन में इस वर्ग विशेष की अभावग्रस्त जीवन प्रक्रिया अंसदिग्ध रूप में बिम्बित होने लगी है। डॉ0 विवेकी राय कृत

1. बबूल : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–28
2. कब तक पुकारूँ : रांगेय राघव, पृष्ठ–162
3. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–266
4. वही, पृष्ठ–312

'बबूल' के घुरविन के समक्ष भी भोजन की विकट समस्या मुँह बाए खड़ी है। लेखक की कलम सत्य का उछाल भारती लिखने के लिए यह बाँध्य होती है कि 'महंत जी की कुटिया में वह भूखा इंसान भक्तिवश भगवान का प्रसाद लेने आया था या नृत्य–गायन के मजे लूटने आया था या अपनी नव प्रसूता स्त्री की भूख मिटाने के लिए अन्न के कुछ कणों को लेने आया था, उत्तर साफ है।[1] इन दीन–हीन लोगों के आहार का उल्लेख इस रूप में प्रस्तुत है। 'क्वार की तीखी धूप खाकर रांगा जैसा पसीने में पिघलता हलवा हों का शरीर इसी लाल बहादुर (लाल श्वेत) से ठंडा होता है।[2] पूर्वांचलीय जन जीवन के अणु–अणु से साक्षात्कार करने वाले उपन्यासकार ने सर्वहारा वर्गीय जीवन की व्यथा कथा के गहरे चित्र उकेरे हैं । 'बबलू' का विपन्न विश्लेषित करते हुए डॉ० विवेकी राय नें 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा–साहित्य और ग्राम जीवन' में लिखा है कि...... ये पाल क्या है, माल कुल टापरों (झोपड़ियों) के झुंड, कभी बस जाती है, कभी उजड़ जाती है......।[3]

आदिवासियों में यायावरीय जीवन की यथार्थ सीमा रेखाओं को स्पष्ट करने वाली इस कृति में उपन्यासकार अति निकट से उनकी अभावग्रस्त विद्रूपताओं का मार्मिक अंकन करता है। अलग–अलग वैतरणी, 'जल टूटता हुआ', 'पानी के प्राचीर', आदि ग्राम भितिक उपन्यासों में निम्न सर्वहारा वर्गीय हरिजन जाति की बस्तियों का बड़ा स्वाभाविक उल्लेख आया है। जहाँ गाँव की दक्षिण दिशा में अवस्थित इनके टीले दैवीय प्रकोप की चपेट में सबसे पहले आकर इनकी सांमाजिक स्थिति को अत्यन्त दारूण बना देते हैं और शरण लेने के लिए इन अस्पृश्य जातियों को गहरी व्यथा झेलनी पड़ती है । क्योंकि असवर्णों के लिए सवर्णों के मध्य स्थान कहाँ ?

घर की ही भॉती अन्न, वस्त्र से हीन भारतीय सर्वहारा वर्ग अपने जीवन में नानाविध यातनाओं को निरन्तर झेल रहा है। जिसे स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में उपन्यासकारों ने सहृदयतापूर्वक अपनी कृतियों में अंकित किया है। 'बलचनमा' सर्वहारा वर्गीय जन जीवन की व्यापक समस्याओं को संदर्भित करने वाली 'नागार्जुन' की कृति है। अभिजात वर्ग के जूठन पर पलने वाले बलचनमा के परिवार की स्थिति विकट है, भूख के मारे दादी और माँ गुठलियों का गूदा चूर–चूरकर फांकती मिलती है। हिमांशु श्रीवास्तव कृत 'नदी फिर बल चली' की हरिजन जीवन आद्यन्त जिस असीम दुःख भोग की नियति स्वीकारता है उसका अन्त अतीव दारूण है। उपन्यासकार ने अपनी कृति का अन्त

1. बबूल : डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ–26
2. वही, पृष्ठ–164
3. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ–206

महेसवा के निधन प्रसंग में किया है जहाँ श्रमश्लथ शरीर, खालीपेट, तीक्ष्ण धूप और लाल शर्बत का कलेवा करने वाला महेसवा मालिक के खेत में चक्कर खाकर गिर पड़ता है। और उसकी इहलीला समाप्त हो जाती है।

उदयशंकर भट्ट की श्रेष्ठ कृति "सागर लहरे और मनुष्य" मे भोजनभाव से विफल नारी इट्ठा का सहज और स्वाभाविक चित्र उभरता है। यह विवश नारी भूख से व्याकुल होकर मांचों पर मछली चुराने चली जाती है। और पकड़े जाने पर अत्यन्त सहज अभिव्यक्ति प्रस्तुंत करती है कि "तुमने मुगकू रोग से भूखा मरने कू क्यों बचाया वंशी वाय। क्या करेगा, मग काम नई मिलताय?"[1]

भूखे रहने की अपेक्षा मृत्यु की आंकाक्षा करने वाली यह नारी अपने वर्ग की सम्पूर्ण सामाजिक विंसंगतियों का प्रतिनिधित्व करती दिखाई पड़ती है। भारतीय समाज की इन संक्रामक व्याधियों को स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उपन्यासकारों ने गहरी मार्मिकता के साथ अनुस्यूत कर अंकित किया है। महानगरी पृष्ठभूमि पर आधारित "कृश्नचन्दर" की लघु कृति "दादर पुल के बच्चे" में सर्वहारा वर्गीय लुभुक्षित पीढ़ी का प्रभावशाली अंकन हुआ है। जन–जीवन जहॉ आध्यात्मिक अनुरंजनकारी प्रभावों के मध्य प्रतिफल जीवन रस का आवहन करता है, वही स्वयं भगवान की उपस्थिति को भी भौतिक आवश्यकताओं के कारण उपेक्षित करता दृष्टिगत होता है। एक पात्र अपनी क्षुधा दृष्टि के लिए बिना प्रमाण पाए आज सर्वोच्च सत्ता को भी नकारता जा रहा है और भगवान से इसे भूखी पीढ़ा की विवशता स्पष्ट करते हुए कहता है................" अपन तो यह जानते हैं कि इस दुनिया में एक सिर को बचाना कठिन है। तीन सिर होते तो तीन मुँह भी होते और तीन मुँह भी होते और तीन मुँहों में अपन लोग रोटी कैसे डालते?[2] जीवन की भूलभूत आवश्यकताओं से रोते लोगों की अन्तर्व्यथा को वाणी देने वाले उपन्यासकार नागार्जुन ने "बलचनमा" में उसके दादी के माध्यम से इनके विपुल अभावों का दैन्य निरूपित किया है। स्वामिनी के समक्ष प्रकट होने वाला यह कथन अपनी ध्वन्यात्मकता में अपूर्व विवशत अन्तर्निहित किए हुए है कि 'अरे अपना जूठन खिलाकर अपना हेरन फारन पहना कर ही तो हमारा पर्तपाल करती है।'[3]

डॉ0 विवेकी राय कृत 'बबूल' में शैशव से ही कठोर आतय में झुलस जाने वाले महेसवा के पास वस्त्र के नाम पर कमर में एक करधन है। निम्न वर्गीय हरिजन जाति की स्त्रियाँ और बच्चों की वेशभूषा की एक झलक 'कब तक पुकारूँ' में मिलती है। ' कच्चे

1. दादर पुल के बच्चे : कृश्नचन्दर, पृष्ठ–19
2. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–6
3. बबूल : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–36

दगरों पर मोटे–मोटे पेट के नंगे बच्चे धूलि में खेल रहे थे। चमारिया मोटे कपड़े का रंग उड़ा लहंगा पहनती और उनके माथे पर मोटी फरिया होती।'[1] अधिकांशतः बच्चों की नग्नता ही भारतीय ग्रामीण सर्वहारा वर्ग की नियति बन चुकी है। बड़े अपनी लज्ज़ा रखने के लिए मैले, कुचैले फटे वस्त्रों में लिपटे अपनी हीन सामाजिक वस्तुस्थिति का सजीव विम्ब प्रस्तुत करते हैं। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में भी भारतीय सर्वहारा वर्ग की विपन्नता का मूलोच्छेदन अभी तक नहीं हो पाया है। जिसकी यथार्थता को आधुनिक प्रगतिशील उपन्यासकार अपनी कृतियों में सहज भाव से अंकित करता जा रहा है।

सभी प्रकार की जीवनगत विसंगतियों के केन्द्र बिन्दू बने भारतीय सर्वहारा वर्ग को पारिवारिक अन्तर्दशा अतीव विक्षोभकारी है। कतिपय उपन्यासकारों ने अंचल विशेष के सन्दर्भ में महेस का प्रामाणिक और यथार्थ चित्रांकन किया है। स्वामीवर्ग के ऊपर अवलम्बित निम्न वर्ग की नारी अपनी हेय पारिवारिक परिस्थितियों से विवश होकर स्वामिनी के समक्ष पौत्र को सेवक रखने के लिए निवेदन करती है, 'आपका जूठन खाकर इसका भाग चमकेगा।''[2] आज भी भारतीय सर्वहारा निम्नवर्ग जीवन की धनीभूत समस्याओं से पीड़ित होकर उच्च वर्ग के समक्ष दयनीय बना निवेदन करता दिखाई पड़ता है। अशिक्षा, अज्ञान, आजीविका के अभाव से संघर्षरत जीवन की त्रासदी बड़ी गहरी है। हिमांशु श्रीवास्तव की कृति 'नदी फिर वह चली' में सर्वहारा वर्गीय पारिवारिक जीवन का सूक्ष्म और पारदर्शी अंकन हुआ है। मातृहीन परबतिया अपने नाना बिजुली महतो के साथ 'केहना' आती है तो सर्पदंश से अकाल मनुष्य को प्राप्त नानी की मृत्यु उसे असंख्य यंत्रणाओं को भोग भोगने के लिए बाध्य करती है। मामी के असहनीय दुर्व्यवहार से संत्रस्त बालिका परबतिया का कोमल हृदय ठंड भरी भोर में अंधकार से भय की प्रतीति व्यक्त करता है। वह मामी कहती है, 'अन्हारा है तो क्या, महुआ के पेड़ के पास भूत बैठा है, जो चांप देगा? अन्हारा में नदकोला कैसे भरती हो?[3] काम के प्रति असमर्थता प्रकट करने पर उसका गंदा झोंटा नोचती है जिसमें ढीलों का बसेरा था और मुंह बकोटती हुई कहती है 'यहाँ क्या फलाना महतो ने धरमसाला खोल रखी है? हाथ गोड़ सुटकी पेट नदकोला। छोटी सी बात जन्त और खाती है कितना? बाप से बाप राकस मे राकस।'

उपन्यासकार ग्रामीण निम्न वर्ग के सामाजिक यथार्थ के लोक प्रचलित मुहावरों को स्वाभाविक भाषा में मूर्तमन्त कर देता है। पूरा आन्तरिक पारिवारिक परिवेश साकार हो

1. कब तक पुकारूँ : रांगेय राघव, पृष्ठ–163
2. बलचनमा : कृश्नचन्दर, पृष्ठ–7
3. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–41

गया है। अपनी सम्पूर्ण असंगतियों के साथ। स्वार्थपूर्ण, व्यक्तिगत चिन्तन परम्परा से विखरते परिवार और टूटते लोगों का चित्रण भी यथावत उपन्यस्त है। बाल्यकाल से अभिशापित नियति को भोगने वाली परबतिया को ससुराल में लाकर अपनी जेठानी दुलन्हिया के इस कथन में पारिवारिक इकाई की स्खलित होती परम्परा का ज्ञान होता है, 'अपना पेट तो एक कुत्ता भी पाल लेता है। अब तो बबुआ अकेले नहीं रहे। पहले तो खूब अकेले में छकेला मारते फिरे। अब तो घर में जनाना आगई। राम जी की कीरपा से दिन चढ़ेगा, अंचरा खुलेगा। दो चार बाल बच्चे होगें[1]

पत्नी द्वारा पारिवारिक स्थिति की सत्यता जानकर नगरांचल में रहने वाला जगलाल कहता है कि 'कहाँ वे पाँच कहाँ तुम अकेली'।[2] और परम्परागत जीवन मूल्यों से लंबी परबतिया का विरोध भले ही भविष्य में विफल रहता है फिर भी वह पारिवारिक विघटन को अस्वीकारने वाली मुद्रा में कहती है कि 'एक ही घर में अलग–अलग हंडिया गरम करो और यह क्या कोई अच्छी बात होगी, लोग क्या कहेगें?[3] इस आधारभूत इकाई के विश्रृंखलित रूप को स्वतंत्रता परवर्ती उपन्यासकारों ने सूक्ष्मता के साथ विश्लेषित किया है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना' में इस सन्दर्भ को लक्ष्य कर लिखा गया ज्ञानचन्द्र गुप्त का यह मत शत–प्रतिशत ठीक ही हैकि 'सम्बन्ध बदल रहे हैं गाँव के सामाजिक जीवन में इन नए पारिवारिक सम्बंधों ने नयी मासिकता प्रदान की है'।[4]

संयुक्त परिवार के विघटन की इस प्रक्रिया ने सर्वहारा वर्गीय जीवन को और अधिक हीन बनाया है। भारतीय सर्वहारा समाज की व्यापकव्याधि हैं अशिक्षा और अज्ञान। निम्नवर्ग बाल्यावस्था में ही श्रम परिधि में कैद होकर जीवन भर इस मूल्यवान उपलब्धि से वंचित होकर अशिक्षा और अज्ञान के अतलगर्त में डूबता जाता है। इनकी अशिक्षा और अज्ञान से उद्भूत अनेक प्रसंग स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में उभरे हैं।

'फणीश्वरनाथ रेणु' की आंचलिक कृति 'परती परिकथा' में मलारी के समक्ष झल्लू मोची अपनी बहुलता का प्रदर्शन करते हुए जीवन बीमा को " यौवन बीमा की तन्दुरूस्ती क्या है? पूछते हैं.......हम लोग पढ़े लिखे नहीं है तो क्या एकदम जानवर हैं? इतनी सी बात नहीं बूझेंगे?[5]

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–178
2. वही, पृष्ठ–186
3. वही, पृष्ठ–186
4. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम जीवन : डॉ0 ज्ञानचन्द्र गुप्त, पृष्ठ–104
5. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–154

अज्ञानता का मूल अशिक्षा है। भारतीय सर्वहारा वर्ग का बहुलांश इस समस्या से त्रस्त होकर अर्थ का अनर्थ करता चलता है। डॉ0 विवेकी राय कृत 'बबूल' में महेसवा के विषय में यह लेखकीय युक्ति शत–प्रतिशत सत्य है कि, 'उसे पुस्तके झोले में सटियाकर स्कूल नहीं पहुँचना है। वह अपने स्कूल में आ गया है सूरज उसका अध्यापक है। जो धूप सारी दुनिया को जला रही है, वह उसके लिए छाया का काम कर रही है। ये अरहर की खुंटियाँ उसके लिए मान्टेसरी स्कूल की रंगबिरंगी गोलियाँ हैं।[1]

छः वर्षीय अबोध बालक महेसवा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खेत में जलावन की लकड़ियों के लिए अरहर की खुंटियाँ बिनता फिर रहा है। उसके जीवन में शिक्षा का मूल्य कहाँ? ग्राम या नगर भूमि दोनों स्थलों पर ये अशिक्षित व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर पाते हैं। 'लोहे के पंख' का श्रमिक वर्ग अशिक्षित होने के कारण ही रतन नगर मिल्स के कार्ड के पृष्ठ भाग पर छपी नियमावली को पढ़ने में असमर्थ रहता है। फलतः लेवर आफिसर के समक्ष ये अपने पारिश्रमिक की अनियमितता के प्रति कोई विरोध नहीं कर पाते हैं।

वर्तमान व्यवसाय शिक्षा के अधिकारी भी सम्पन्न वर्ग वाले ही है इस पर प्रकाश डालने वाली कृति है कृश्नचन्दर की 'दादर पुल के बच्चे' जहाँ मलाबार हिल की मॉर्डन स्कूल का प्रिंसीपल दो गरीब बालकों की वेशभूषा देखते ही इनके दारिद्रय का अनुमान कर कह देता है कि म्यूनिसपल कमेटी के स्कूल में कोशिश करो।[2] पाँचवीं कक्षा में अगले चार वर्षो के लिए रिज़र्व हो गई सीट, प्रति बालक दो सौ पचास रुपये मासिक व्यय पर मिलने वाली पन्द्रह रुपए की छात्रवृत्ति और सम्पूर्ण वाल प्रतिमा का अनादर करतीं प्रिंसीपल की यह वाणी की 'वह अपने लिए अमीर माँ–बाप लाए कहीं से। दैट विल डू।' की उक्ति सर्वहारा वर्ग की समस्याओं का यथार्थ प्रतिफलन करती है।

अशिक्षा, अज्ञान में भटकते सर्वहारा वर्गीय जीवन की प्रमुखतम समस्याओं में व्याधियाँ और उसके उपचार का अभाव है। स्वस्थता में अन्नाभाव से, रूग्णता में औषधि और पश्याभाव से टूटता यह वर्ग दुर्दशा की बीमारी में पश्य के लिए सेर भर चावल दुगुने करार पर भी उपलब्ध नहीं हो पाता है। उचित चिकित्सा व्यवस्था के अभाव में भारतीय ग्रामीण सर्वहारा वर्ग असमय ही काल कवलित होता जा रहा है। 'नदीं फिर बह चली' की परबतिया की गर्भिणी माँ उचित व्यवस्था के अभाव में दम तोड़ देती है।

---

1. बबूल : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–36
2. दादर पुल के बच्चे : कृश्नचन्दर, पृष्ठ–76

'लोहे के पंख' के मंगरूवा का पिता झगड़ू पटना अस्पताल में रक्त के लिये पैसों के अभाव में मर जाता है। जीवन के प्रत्येक स्तर पर शोषण को स्वीकार करने वाले इस वर्ग की अगणित समस्याओं का अन्त कहाँ? वर्तमान जीवन की असंगतियाँ कहीं भी इनका पीछा नहीं छोड़ती हैं। मुकदमें और कचहरी के दाव पेंच से अनभिज्ञ अशिक्षित सर्वहारा वर्ग की विसंगतियों का अत्यन्त करूण चित्र जयसिंह कृत 'कलावे' में उपन्यस्त हैं। जमींदार के अत्याचार विरोध में न्याय की शरण लेने की आकांक्षा वाले भी लड़कियाँ और बीरजा अर्जी लिखवाने नगर कचहरी में पहुँचते हैं तो उनकी बातें सुनते—सुनते अर्जी नपीस को झपकी लग गयी और चौंक कर उसने दो रुपये माँगे।[1]

इन सामाजिक शोषण चित्रों में उभरी विवशताओं ने सर्वहारा वर्ग के जीवन को और अधिक अस्त व्यस्त बना दिया है। निरन्तर शोषण चक्र में पिसते रहने की प्रक्रिया मे इन्हें हतबुद्धि और संज्ञा शून्य बना डाला। भारतीय वर्ग व्यवस्था की परिवर्तित स्थिति में भारतीय निम्न वर्गीय समाज जिस कालुष्य को अस्पृश्य बन कर माँग रहा है उसकी स्थिति बड़ी विषम है। सर्वहारा वर्ग के लिए सवर्णो में प्रचलित अस्पृश्यता की रूढ़ मनोभावनायें बड़ी गहराई से बहमूल हैं अनेक राजनीतिज्ञों और समाज सुधारकों के आह्यवान पर भी सवर्ण—असवर्ण की यह सामाजिक विभेद आज भी इस समाज में कलंक बना हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर रचित उपन्यासों में इन अस्पृश्य जातियों के चित्रण सन्दर्भ की वस्तुस्थिति निरूपति करते हुए डॉ0 विवेकी राय ने अपने शोध प्रबन्ध 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन' में लिखा है कि 'कहीं'—कहीं भाव वैचित्र्य की स्थिति की करूणा प्रेरित प्रदर्शनेच्छा भी कथाकारों में काम करती दीखती है परन्तु सामान्यतया अछूत कही जाने वाली जातियों के सन्दर्भ में विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, शारीरिक, मानसिक एवं श्रम तथा यौन सम्बन्धी शोषण के आयाम ही कथाकारें के उद्घाटन केन्द्र है।[2]

प्रस्तुत कथन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में वर्णित अस्पृश्य जाति के जन पर अभिव्यक्त भाव धाराओं का विवेचन करता हैं सदियों से उपेक्षित, अवादरिस जन—जीवन को अपना प्रतिपाध बनाकर उन्हें साहित्य में प्रतिष्ठित करने की श्लाघनीय मनोवृत्ति से प्रेरित उपन्यासकारों के कतिपय व्यक्त चित्रों में मार्मिकता और संर्वदनीयता की एकान्विति यथेष्ट प्रभाव प्रस्तुत करती है और प्रदर्शनेच्छा की अतिवादित से विमुक्त

---

1. कलावे : जयसिंह, पृष्ठ—200
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन :डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ—304

चित्रणों में स्वाभाविक संस्पर्श शीलता पर्याप्त है। किन्तु कहीं–कहीं इनका अतिरंजनाकारी चित्रण हास्यास्पद स्थिति तक पहुँच गया है। हिमांचल विस्तीर्ण इस देश के विभिन्न अंचलों में आज भी इनकी स्थिति लगभग समान सी हो है। पूर्वांचलीय प्रदेशों की भाँति ही वर्णभेद की गहरी भावधारा अन्यांय प्रदेश स्थिति जनमानस में भी प्रवाहित है। जगदीशचन्द्र की रचना 'धरती धन न अपना' पंजाब प्रान्त की आंचलिकता को स्पर्शित करने वाली कृति हो। जिसमें सवर्ण और असवर्णो के मध्य का विशद अन्तराल चित्रांकित है। वर्णभेद के यथार्थ को निरूपित करते हुए राजदार संता सिंह काली से कहता है कि –"तेरी घर में रोटी तो खा नहीं सकता इसलिए तुम रोटी चाय के पैसे अलग दे देना।"[1] असवर्ण जाति का काली इस हीनता बोधक स्थिति से अपने मन में बड़ी ग्लानि अनुभव करता है।

फणीश्वर नाथ रेणु के 'परती परिकथा' में भूमिहार कुलोत्पन्न सुवंश और हरिजन कन्यामलारी के मध्य अस्पृश्यता की टूटती दीवारों को लक्ष्य कर सामपत्ती पीसी अपनी चलन्ती गत्य के भेद भरे स्वरों में कहती है कि –'गिदरिया टीशन पर हिन्नू था–गरमा गरम वाले से दो कुल्फी चाहे लिया छौड़वा ने, दोनों कुल्फी छौड़िया के हाथ में देकर जेब से पैसा निकालने लगा।....... फिर छौड़िया के हाथ से कुल्फी लेकर इस तरह पीने लगा जैसे अमरित हो अमरित'। रूढ़ादर्शी और पारम्परिक आधारभूत जीवन मूल्यों की परिवर्तित सीमा रेखाओं ने समय सापेक्ष भावनाओं को द्रुतगति से स्वाधीनता भी भेद–विभेद की भावनाओं से मुक्त नहीं हो सकी हैं।

राजेन्द्र अवस्थी कृत 'सूरज किरन की छांव' में सवर्णों–असवर्णों के मध्य अस्पृश्यता का स्वाभाविक उल्लेख आया हैं चेतमा ग्राम की अस्पृश्च जातियाँ चमारों और डुमारों के अलग बनाए गए कुएं में भैंस गिर कर मर जाती है और जल की समस्या के निदान के लिए सवर्णों के कुओं पर गई तिजरिया मेहतरानी को पंडित का लड़का देख लेता है तथा गाँव वाले यह सब सुनकर भड़क जाते है और गाँव के लोग लट्ठ लेकर दौड़ आए, बोले उसकी इत्ती हिम्मत।'?[2]

मधुकर सिंह की रचना 'सबसे बड़ा हल में' निम्नवर्गीय जन जीवन में व्याप्त अस्पृश्यता की आभ्यांन्तरिक मनोवृत्तियों का आभास उनके ही कथन में प्राप्त होता है। जहॉ वे परिस्थितियों से खिन्न बने हुए अपनी सामाजिक स्थिति के विषय में कहते हैं कि हम ऐसी जात के जो किसी के यहॉ रह भी तो नहीं सकते है?[3]

---

1. धरती धन न अपना : जगदीश चन्द्र, पृष्ठ–110
2. सूरज किरन की छाँव : राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ–49
3. सबसे बड़ा हल : मधुकर सिंह, पृष्ठ–86

मधुकर सिंह की दूसरी कृति 'सोनभद्र की राधा' में ग्रामीण पृष्ठभूमि पर पलने वाले वर्णभेद का तीव्र यथार्थ ध्वनित है। नागेसर मिसिर की देखकर शिक्षक यह कहतें हुए उसे खजूर की झड़ी से खूब पीटते हैं कि..........."आगे से तुम्हारी यह गन्दी हरकत रही जो स्कूल से नाम काट दिया जायगा। समझे। ग्रामीण पृष्ठभूमि पर पलने वाली इस भयंकर विसंगति की एक झलक 'लोहे के पंख' में उपन्यस्त है। उच्छिष्ट भोजन जिस पर मक्खियाँ देर तक भिनक चुकी हैं। अस्पृश्य जाति के लोगों को केले के पत्तों पर कहारों की कृपा दृष्टि पर ही उपलब्ध हो पाता है।

'अलग–अलग वैतरणी' में शिवप्रसाद सिंह ने अस्पृश्य मनोवृत्ति से दुर्दशाग्रस्त जन समाज का चित्र स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है। गाँव में देवनाथ डॉक्टरी की दुकान खोलता है, निम्नवर्गीय जातियां औषधि और उपचार के लिए उसके यहॉ जुटी रहती हैं तो ब्राहमणत्व रोष में मुखर होकर वह कह उठता है कि........... 'सारा गाँव ससुरा सुबह से शाम तक टूटा रहता है। चमार–सियार, डोम दुसाध, मियाँ–मुकरी सभी दलान में हेल जाते हैं। सारा मेरमेन्ड करके रख दिया।[1] भारतीय जनसमाज की चित्तवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रस्तुत कृति की यह उक्ति न केवल करैता ग्रामवासियों के मनः प्रदेश से निःसृत अभिव्यक्ति है वरन सम्पूर्ण भारतीय सवर्ण समाज की असवर्णों के प्रति शदियों से संचित रोषपूर्ण अभिव्यक्ति है।

स्वातंत्र्योत्तर सर्वहारा वर्ग की सामाजिक समस्याओं संबंधी इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रमुख उपन्यासकारों द्वारा इस अभावग्रस्त निरुपाय समाज का प्रस्तुत मूल्यांकन नए जीवन सन्दर्भों को उद्घाटित करने वाला है। इनके जीवन की विषम समस्याओं की गहन मार्मिक अभिव्यक्ति करने वाले उपन्यासकारों में नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, हिमांशु श्रीवास्तव, जयसिंह, डॉ0 विवेकी राय, शिव प्रसाद सिंह आदि प्रमुख हैं। अपने स्वनात्मक संदर्भो में सर्वहारा वर्ग की जीवनगत समस्याओं के उन्मूलनार्थ इनकी प्रस्तुत की गई वे अपने आकर्षक कलेवर में सुधारक भी अवश्य रहीं किन्तु इस वर्ग को ऊपर स्पर्श करने के कारण इनकी मूल स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। आज भी विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से इनके आभावों का निरन्तर चित्रण होता जा रहा है। यदि कहीं ये खाद्ययाभाव में अखाद्य का सेवन करते दृष्टिगत होते हैं तो कहीं वस्त्राभाव में ठिठुर कर मरते । अति वृष्टि से जीर्णशीर्ण आवास के ध्वस्त अवशेषों में दब कर मरने वालों की संख्या भी इन्हीं की है। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के रचनाकारों ने इस वर्ग

---

1. अलग–अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ–433

को साहित्य में प्रतिष्ठित कर इनकी समस्याओं के निदानार्थ समाजवाद की जो रूप–रेखा स्पष्ट की है उसमें भारतीय सर्वहारा वर्ग अपनी समस्याओं से जूझता दीखता है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भारतीय सर्वहारा विषमतामूलक जीवन स्थितियों से ऊबकर परिवर्तन की अभिलाषा व्यक्त करने लगा है जिसका स्वर नए कथा साहित्य में उभरा है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग के सामाजिक उत्पीड़न :

भारतीय सर्वहारा वर्ग में उत्पीड़न उनकी नियति है और एक लम्बें युग से उनके साथ जुड़ी हुई है। ऋषि, मुनि, साधु, संत, राजा, महाकवि, धर्मसुधारक, शासक और नेता सामाजिक सद्‌भाव और मानवता का नारा लगाते हुए आते हैं किन्तु ठीक इसी नारे के नीचे इस वर्ग को चरम सीमा का अत्याचार और अन्याय सहते आना पड़ा है। आधुनिक युग में जबकि मानवाधिकार की आवाज बहुत बुलन्द की गई तब भी उत्पीड़न की गति में कुछ कमी आती नहीं दीख रही है। अपने देश में संवैधानिक परिवर्तन हुए और उत्पीड़न रोकने के लिए सर्वहारा वर्ग को व्यापक अधिकार दिए गए इससे उनमें कुछ आत्म विश्वास तो अवश्य जागृत हुआ किन्तु निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उत्पीड़न की स्थितियाँ समाप्त हो गई हैं । स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने बड़ी कडुवाहट के साथ तत्सम्बन्धी चित्रों को उभारा है।

अभिजात वर्ग की दर्ष स्फीतिमुद्रा से उत्पीड़ित सर्वहारा वर्ग का सहज और स्वाभाविक अंकन रामदरश मिश्र की बहुचर्चित कृति 'जल टूटता हुआ' में जमींदार महीप सिंह और जगपतिया के सन्दर्भ में हुआ है। स्वामी वर्ग अपनी अधिकार मुद्रा में मानवता को प्रतिहत करने वाली स्थितियों को अपना कर दुर्व्यवहार और अपशब्दों से इस वर्ग को निरन्तर उत्पीड़ित करता है। रूग्ण शरीर जगपतिया की वस्तुस्थिति जानने से पूर्व उसे देखते भी बाबू साहब उछल पड़ते हैं यह कहते हुए कि 'कहॉ था रे साला'। आज घर का काम कौन करेगा तेरा बाप? रमपतिया साले को नौकरी पर भेज दिया और तू साला बहाना बनाए घर बैठा है।'[1] रामदरश के उपन्यासों में ग्रामीण सर्वहारा वर्ग की वस्तुस्थिति का यथार्थ परक अंकन हुआ है। न केवल जगपतिया वरन् सम्पूर्ण सर्वहारा वर्गीय सेवकों की यही स्थिति आज भी वर्तमान है। स्वामि और सेवकों के मध्य इसी स्वाभाविक सम्बन्ध की एक झलक शिव प्रसाद सिंह की 'अलग–अलग वैतरणी' में उपलब्ध है जहॉ जगजीत अपने हलवाहे के लड़के घुरबिनवा को अपशब्दों की तीखी बौछार से

---

1. जल टूटता हुआ : राम दरश मिश्र, पृष्ठ–46

बेंधते हुए कहता है कि 'क्या वे यहॉ का हैं? खाय क मांगे आये हैं' खाय .क इहां तेरा बाप कमा कर रख गया है ? ऊ काम छोड़ के घर बैठ गया और तू खाय क मांगने चला आया। जा भाग यहॉ से तेरी भी कोई जरूरत नहीं''।[1] मालिक के ठंडा होने की प्रतीक्षा में बैठे बालक के तसले को जब पैरों की ठोकर मिलती है तो अपमान और भूख की व्यथा से वह रो पड़ता है। उत्पीड़न की ये स्थितियां मर्मघाती हैं। दिन भर श्रम के उपरान्त भोजन के अभाव में मिले दुर्व्यवहार की यह पराकाष्ठा है। जिसे उपन्यासकार ने सीधी सरल भाषा में प्रस्तुत कर दिया है। अभिजातवर्ग के दुर्व्यवहारों से संत्रस्त निम्न वर्ग की यथार्थ अन्तर्दशा का वर्णन नागार्जुन कृत 'बलचनमा' में हुआ है। स्वामिनी की गालियां और दुर्व्यवहार ही बलचनमा को निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। स्वामिनी कहती हैं............'माँ ने तुझे ठूँस–ठूँस कर खाना तो खूब खिला दिया है। मगर फूल सा हल्का बच्चा भी तुझसे नहीं सम्भलता'।[2] गदहा, सुअर, कुत्ता, उल्लू, मुझौंसा आदि तो उसके उपनाम हो गए हैं, क्या स्वामिनी और क्या स्वामी सभी उसे साला, सुअर, पाजी, नमक हराम आदि अपने तकिया कलाम सम्बोधनों से सम्बोधित करते हैं। इनकी एक् दिन की अनुपस्थिति भी स्वामिवर्ग को सहय नहीं मालिक के पक्षधर पंडित जी इनके उत्पीड़न की सीमा मंत्र पंक्तियों में बॉधते हुए कहते हैं कि रांड एड़ पवित्रं हूँ।[3] (छोटी जात के लोग लात खाकर ही पवित्र होते हैं) उपन्यासकार ग्रामीण सर्वहारा वर्ग के प्रति अभिजात कुल की परम्परित भावधारा को अनावृत्त करता हुआ इनकी वस्तुस्थिति का अत्यन्त सक्षम परिदृश्य उजागर कर देता है। 'राम दरश' मिश्र ने अपनी कृति 'पानी के प्राचीर' में विंदिया चमाइन और मुखिया के घटित सन्दर्भ में दुर्व्यवहार, अपशब्द प्रयोग और उत्पीड़न की सीमा को साकार कर दिया है। जहॉ सभी प्रकार के दोष का दायित्व इन असवर्ण दलित और निसहाय वर्ग पर आरोपित कर सवर्ण समुदाय स्वयं को दूध का धोया सिद्ध करता है। जगदीश चन्द्र की कृति 'धरती धन न अपना' में चौधरी की गालियों से सारा चमारवारा गूँज उठता है पांव की ठोकर मारते हुए संत् से यह कहता चौधरी कि 'कुत्ते की औलाद हुड़दंग तो ऐसे मचा रहा है जैसे सूली पर चढ़ा दिया हो।[4] कह कर इन मानव वंशजो को पशुवंशी ही सिद्ध करते हैं अपनी क्रोध भरी मुद्रा में। सवर्ण समाज द्वारा अनावृत और अपमानित भारतीय सर्वहारा वर्ग शोषण के चरम शिखर पर उस समय पहुँचा दिया जाता है जब स्वामी और सेवक के मध्य का सम्बन्ध अमानवीय तथ्यों को स्वीकार कर उनके समग्र

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–10
2. जल टूटता हुआ : राम दरश मिश्र, पृष्ठ–258
3. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–10
4. धरती धन न अपना : जगदीश चन्द, पृष्ठ–28

व्यक्तित्व को पढ़मर्दित कर अपनी स्वार्थ सिद्धि को ही प्रमुखता देने लगता है। स्वामी और सेवक के बिडम्बनाग्रस्त सम्बन्धों का स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासकारों ने मर्मस्पर्शी चित्रण अपनी कृतियों में किया है। नागार्जुन कृत 'बलचनमा' की अभिजात कुल वाली स्वामिनी का जैसा प्रतिरूप उभरता है वह सेवक बलचनमा के लिए घोर यंत्रणादायी है। न केवल गालियां और उच्छिकृष्ट अन्न ही प्रदान करती है वरन कभी–कभी हुहुआती हुई झाडू की चुमीली सींकों से बलचनमा के पृष्ठ भाग को लहुलुहान भी कर देती है। अपनी लाड़ली नौकरानी सुखिया की शिकायत पर वे बलचनमा को आम की आयी जली चैली से मारते हुए उसकी अशक्यता और निरीहता का कोई ध्यान नहीं रखती हैं। भारतीय सेवक और स्वामीकके इस चित्र में उपन्यासकार का अतिश्योक्ति अंकन नहीं है वरन् यथार्थता का प्रतिनिधित्व करने वाला चित्र ही अंकित है। भारतीय ग्रामीण निम्नतम वर्ग की अद्यःपतित स्थितियों कोऐसा ही मार्मिक अंकन उपलब्ध है। 'पानी के प्राचीर' जहाँ सवर्ण समाज इन्हें अमानुषिक उत्पीड़न. पहुंचाता है। शोषण की घातक मुद्राओं को स्वीकारने वाला उच्चवर्ग हम तुच्छों के साथ बलप्रयोग में जीतता रहा और ये स्वयं को सेवक और इन्हें स्वामी समझ कर सब कुछ सहते रहे। बिंदिया चमाइन के कटु मुखर स्वर को सहने में असमर्थ मुखिया क्रोध भरी मुद्रा में उसे चार, पाँच लात लगा भी देते हैं और परम्परागत हीन भावनाओं में ग्रस्त अपनी माँ की लीके से उतरी हुई बिंदिया पुनः उसे ही अपनी असमर्थता में स्वीकार कर मुखिया का पांव पकड़ कर क्षमा माँगने तो लगती है परन्तु मिलता नहीं हैं स्वामी, सेवक के मध्य का विषम भयावह दृश्य उभरता है हिमांशु श्रीवास्तव के 'लोहे के पंख'में। बच्चा बाबू के यहाँ बेगार तथा कर्ज की माँ से डरने वाला झगड़ूँ उनके चाटुकार सेवक अछैवरा से अड़इयाँ की मनगढ़न्त कथा तो सुना देता है किन्तु उसे परिणामस्वरूप भुगतान पड़ता है ह्रदय को विदीर्ण करने वाली यंत्रणा जिसे मंगला वर्णित करता है कि 'पहले रस्सी के दोनों ध्तेर को बाबू के पैर के अंगूठे में सरकवासी देकर फंसाया और उसकी गोलाई को गर्दन से लगा दिया। इसके बाद उसके दोनों हाथ कसकर बाँध दिए और–और तब बाबू की छाती, पैर, जाँध और पेट पर लात और घूंसे की मार पड़ने लगी'।[1]

डॉ0 त्रिभुवन सिंह ने सेवक स्वामी के सम्बन्धों की इस त्रासदायी स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ' जिसके दादा ने मालिक के लिए खून दिए थे, उसी मालिक से उसके मरते हुए बेटे को खून देने के लिए एक पैसे भी नहीं मिले। यह था

1. लोहे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–63

मालिक और मजदूरों का सम्बन्ध, जिसके विरूद्ध मजदूरों में अपने हक तक मांगने की हिम्मत नहीं थी। इन त्रासपूर्ण बर्वर अमानुषिक दुष्कृत्यों के मार से त्रस्त सर्वहारा वर्ग की विषम स्थितियों का विश्लेषण स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने मानवीयता के धरातल पर किया है। उत्पीड़न की ये भयंकर मुद्राएं मानव सम्यता का कलंक बन कर उपस्थित है। एक दूसरे के मध्य की इस खाई को स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में पाटने की प्रक्रिया प्रशासनिक स्तर पर प्रारम्भ तो अवश्य हुई किन्तु इनका पूर्णोन्मूलन अभी भी सम्भव नहीं हो सका है और इनके अन्तवर्ती सम्बन्धों के विषम बोध की यथार्थता को हिन्दी उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में अनुगुंजित किया है। संवैधानिक सीमाओं के उत्पीड़न की इन मुद्राओं में पर्याप्त अंकुश तो लगाया किन्तु अभिजात वर्ग का आतंरिक विस्फोट अन्याय कोणों से सर्वहारा वर्ग को प्रपीड़ित करने लगा। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में इनके प्रति उभरी अविश्वस्त भावभंगिमायें और उच्च वर्ग की हीनत्वकारी तीक्ष्ण अभिव्यक्ति के आश्रय बने सर्वहारा वर्ग की वस्तुस्थिति और भी दयनीय हो चली है। नागार्जुन कृत 'दुखमोचन' में इस स्थिति का अत्यन्त सफल चित्रांकन हुआ है। गाँव के नित्या बाबू दुःखमोचन से कहते हैं कि 'सांवा कोदो और मकई की जिनके लिए सबसे अच्छी किस्म का अनाज ठहरा उन्हें गेहूँ देना बेकार होगा। वे ले तो लेगें, लेकिन मिट्टी के भाव सारे दाने बेंच डालेंगे। घूम फिरकर सहायता का वह गेहूँ सही जगहों पर आ ही जाएगा। विधाता ने गेहूँ और धान सबके लिए थोड़े ही सिरजे है।[1] प्रकृति प्रदत्त समस्त सुख सुविधाओं को अपने लिए सुरक्षित समझने वाले उच्च समाज की यह भावाभिव्यक्ति निम्न वर्गीय असहाय समाज के लिए विघाटक परिस्थितियों की सृजन कर्त्ता हैं उपन्यासकार नागार्जुन में गहराई से मापा है।

(ग) सर्वहारा वर्ग की नयी पीढ़ी के नये आयाम :

समाज में दो शक्तियों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। एक हतोशोन्मुखी शक्ति तथा दूसरी विकासोन्मुखी शक्ति। हतासोन्मुखी मुक्ति में कृषक और मजदूर आते हैं जो विकासोन्मुखी शक्ति से परोक्ष या प्रत्यक्ष संघर्षरत रहते हैं। कृषक और मजदूर ही सर्वहारा वर्ग में आते हैं उनमें क्रांतिकारी भावना होती है। क्रान्तिकारी शक्तियाँ वे ही है; जो पूंजीवाद का विनाश कर समाजवाद की स्थापना करने में समर्थ हैं। इन शक्तियों का समर्थक सर्वहारा के संघर्षो को अपने साहित्य के माध्यम से स्वर देता है। 'गोदान'में गोबर और झुनियाँ सर्वहारा वर्ग की नई पीढ़ी की है। होरी की दबीं हुई गर्दन भी पूँजीवादी पैरों से मुक्त होकर ऊपर उठने का विद्रोह करती है। किन्तु होरी का विद्रोह उतना मुखर,

---

1. दुःख मोचन : नागार्जुन, पृष्ठ–36

सशक्त और असरदार नहीं है। इसके अतिरिक्त गिरिधर, शोभा, हरख आदि नयी पीढी के हैं।

धनियाँ विद्रोही प्रकृति की किसान की पत्नी थी। उसकी उम्र छत्तीस साल की थी। उसके विचार में, वाणी में तथा व्यवहार में नवीनता थी। प्रेमचन्द ने लिखा है– उसका विचार था कि हम जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करे',उसके तलवे क्यों सहलाएँ? यद्यपि अपने विवाहित जीवन के इन बीस वर्षो में इसे अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर–व्यौंत करो, कितना ही पेट–तन काटो, चाहे एक–एक कौड़ी का दाँत पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।[1]

धनियाँ कई अवसरों पर नागिन की तरह फुफकार रही और सिंहनी की भाँति गरजती है। अन्यायी और रिश्वतखोर पुलिस हुकूमत, गाय को जहर देकर मारने वाले फरार हीरा के घर की तलाशी लेने की अकड़ दिखलाती है। होरी परिवार की इज्ज़त बचाने के लिए गांव के शोषक महाजनों से राय लेकर उन्हीं से रुपये उधार लेता है। अंगोछी के कोर में बाँधे उन रुपयों को दारोगा को देने जाता है। धनियाँ होरी के हाथ से अंगोछी छीनकर क्रोधावेश में कहती है–'घर के परानी रात–दिन मरें और दाने–दाने को तरसें,लत्ता भी पहनने को मयस्सर न हो और अंजुली भर रुपये लेकर चला है इज्ज़त बचाने।"[2] गाँव के पुलिस दलालों के समझाने फुसलाने के बाद भी रिश्वत देने के पक्ष में नहीं है, क्योंकि वह सत्यानुमा बिनी है तथा निर्भीक और निडर है। धनियां कहती है–"मैं दमड़ी थी न दूँगी, चाहे मुझे हाकिम के इजजाश तक ही चढ़ना पड़े।'[3] धनियाँ के इस प्रसंग में प्रेमचन्द ने सर्वहारा नयी पीढ़ी के नए विचार स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया है। धनियां कहती है–"ये हत्यारे गांव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले सूद–ब्याज, डेढ़ी–सवाई, नज़र–नज़राना, घूस–घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो'[4]। धनियां हिन्दूस्तान में चल रही पूँजीवादी एवं महाजनी शोषक चक्र का विरोध की है। जात–पात तथा भोज–भात और हुक्का–पानीको सामाश्रिक तंत्र में आबद्ध करना धनियां के विचार के विपरीत था। वह इसका विरोध करती हुई कहती है– न हुक्का खुलता, तो हमारा क्या बिगड़ा जाता था? चार–पाँच महीने नहीं किसी का हुक्का पिया तो क्या छोटे हो गए......... कि उन पंचों से पूछते तुम कहाँ के धर्मात्मा हो, जो दूसरों पर डाँड़ लगाते फिरते हो, तुम्हारा तो मुंह देखना पाप है।"[5]

---

1. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–21
2. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–96
3. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–97
4. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–97
5. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–109–110

गोबर भी सर्वहारा नयी पीढ़ी का नया विचार लेकर गोदान के औपन्यासिक पटल पर आया है। गोबर जमींदारों की नृशंसता और धूतर्ता पर विरोधात्मक स्वर में कहता है–'तो फिर अपना इलाका हमें क्यों नहीं दे देतें हम अपने खेत, बैल, हल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं? करेगें। बदला। यह सब धूर्तता है, निरी मोटमरदी। जिसे दुःख होता है वह दर्ज़नों मोटरें नहीं रखता। महलों में नहीं रहता, हलवा पूरी नहीं खाता और न नाच रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज का सुख भंग रहे हैं, उस पर दुःखी हैं।[1]

कर्ज़ उधार रुपये लेने वाले किसानों को परोक्षतः बधुंआ मजदूर बनने को मजबूर होना पड़ता है। इस कारण महाजन साल भर काम करवाता है। दातादीन अस्वस्थ होरी को काम करने को कहते हैं क्योंकि होरी दातादीन से पैसा कर्ज के रूप में लिया है। हारी, दातादीन का कृषक–मजदूर है। गोबर दातादीन को मुँह तोड़ उत्तर देता है–''उन्होंने तुम्हारी गुलामी नहीं लिखी है –जब तक इच्छां थी काम किया। अब नहीं इच्छा है नहीं करेगें। इसमें कोई जबरदस्ती नहीं कर सकता।''[2] दातादीन और गोबर की वार्ता को प्रेमचन्द ने लिखा है–''हम तो एक रुपया सैकड़ा देंगे। एक कौड़ी बेसी नहीं। तुम्हें लेना हो तो लो, नहीं अदालत से ले लेना। एक रुपया सैकड़े ब्याज कम नहीं होता।

'मालुम होता है, रुपये की गर्मी हो गयी है।

'गर्मी उन्हें होती है जो एक के दस लेते हैं–

आप उनकी जमीन के मालिक बन बैठे हैं–[3]

कारिन्दा नोखेराम लगान लेते थे लेकिन रसीद नहीं देते थे। गोलमान करके सीधे–सादे किसानों को बहला कर पैसा दुबारा लेते थे। गोबर ने कहा– अच्छी बात है आज बेदखली दायर कीजिए। मैं अदालत में तुमसे गंगाजल उठावाकर रुपये दूँगा। इसी गाँव से एक सौ सहादतें दिलाकर साबित कर दूंगा कि तुम रसीद नहीं देते.........और देखूँगा, तुम कैसे मुझसे दोबारा रुपये वसूल कर लेते हो।''[4]

'गोबर रोटी की अपेक्षा और इज्ज़त–खरजान की अपेक्षा पर होरी से कहता है–''इसमें अपराध की कोई बात नहीं है दादा, हाँ रामसेवक के रुपए अदा कर देना चाहिए। आखिर तुम क्या करते हो न जाने यह धाँधली कब तक चलती रहेगी, जिसे पेट की रोटी मयस्सर नहीं, उसके लिए मरजाद और इज्ज़त सब ढोंग है''।[5]

---

1. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–181
2. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–183
3. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–184
4. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–188
5. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–298

गोदान में होरी शोभा का विद्रोह करने के बजाय झिंगुरी सिंह के हाथ–पॉव जोड़ने की सलाह देता है। तब शोभा गुलामी से अनवरत मुक्ति–संघर्ष का आदर्श प्रस्तुत करता है। वह होरी से कहता है–कटघरे में फँसे रहना तो कायरता है। फन्दा और जकड़ जाए, बला से, पर गला छुड़ाने के लिए जोर तो लगाना ही पड़ेगा। यही होगा कि झिंगुरी घर–बार नीलाम करवा लेगें, करा लें नीलाम। मैं तो चाहता हूँ कि हमें कोई रुपये न दे, हमें भूखों मरने दे, लातें खाने दे, एक पैसा भी उधार न दें, लेकिन पैसा वाले उघार न दें तो सूख कहाँ से पाएँ ?[1]

गोदान में मजदूरों को बेकारी से मिल का डाइरेक्टर लाभ उठाना चाहता है। आधे मजूदरी पर नए मजदूरों को रख लेता है। पुराने मजदूर इस व्यवस्था को सहन नहीं करते हैं। मरने मिटने को तैयार हो जाते हैं। पुराने मजदूरों पर नये मजदूर टूट पड़ते हैं। गोबर के हाथ की हड्डी टूट गयी।[2] फिर भी मजदूर अपने संघर्षशील दृढ़ इरादे से विमुख नहीं होने वाले हैं।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में सर्वहारा नयी पीढ़ी के नये विचारों को प्रकट किया गया है, जो जमींदारों, महाजनों तथा समाज शोषकों के विरूद्ध अपनी आवाज़ बुलन्द किये हैं तथा विरोध किये हैं। चाहे वह कृषक, कृषक मजदूर या मिल –कारखाने का मजदूर ही क्यों न हो सभी ने उन शोषक परम्पराओं को तोड़ने तथा समूल समाप्त करने का अनुमोदन किया है।

(घ)समाज में नवीन परिवर्तनशीलता:–

आधुनिकता के संक्रमण से परिवर्तित भारतीय सामाजिक परिस्थितियों में जो प्रेमचन्दोत्तर आकांक्षाएं और मोह भंग के अन्तर विरोधों की टकराहट में अत्यन्त जटिल हो गई हैं, एक ऐतिहासिक मोड़ आया हैं आधुनिकता पश्चिम से आयी और उसकी गति जो स्वतंत्रतापूर्व अतीत वैभवकी सांस्कृतिक अस्मिता युक्त राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाओं के कारण मंद पड गयी थीं स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नूतन अनुभूतियों के साथ संकुचितता विसर्जित करके असाधारण तीव्र हो गई। परम्परित सामाजिक मूल्य पारिवारिक दायित्व और प्रतिबद्धता आदि जैसी सामाजिक संरचना की आधारभूतियों के खिसकने मे जनसंख्या वृद्धि, सेवाकृतियों आदि की जटिलताएं मनुष्य की आधुनिक यायावरीय या नूतन परिवर्तनशील नियति तो कारणभूत है ही। विशेष रूप से इसके मूल में विज्ञान और प्रौद्योगिकी उपलब्धियॉ हैं जिन्होंने मनुष्य को अकेला कर दिया तथा समाज के प्रति कोई

1. गोदान : प्रेमचन्द, पृष्ठ–153
2. वही, पृष्ठ–236

सगात्मक सम्प्रक्ति न होने के कारण वह उसके लिए मात्र भीड़ की सत्ता बनकर अवशिष्ट रह गया। इस समाज बनाम भीड़ से कटी, अतः उसे नेतृत्व प्रदान करने में काम व्यक्ति चेतना वैयक्तिकता को विस्फोटक गति की स्थिति में एक ऐसा पाखण्ड पूर्ण मुखौटा वाले रूप धारण करती है। जिसमे वह मिथ्या समाज सापेक्षता की विज्ञापन वैजयन्ती हाथ में थामे दृष्टिगोचर होती है। इस पुरानी पीढ़ी के अतिरिक्त दूसरी ओर युग धर्मासन पर विराजित विद्रोह के चरणों में समर्पित नया रक्त है, जो कुंठित भी है और क्रूद्ध भी। समस्त मूल्यों, सम्बन्धों और परम्पराओं की अस्वीकृति मुद्रा में समाज यह नई पीढ़ी साहित्य के माध्यम से व्यक्त होने लगी है।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में इन नव परिवर्तित स्थितियों और नये सामाजिक मूल्यों का आलेखन स्तर पर 'रेणु' शिवप्रसाद सिंह, नागार्जुन और भैरवप्रसाद गुप्त आदि ने किया है। आरम्भ में आंचलिकता की वाह्य ऊँचाइयों के स्पर्श की प्रवृत्ति प्रधान थी। अतःसामाजिकता की आन्तरिक गहराइयों हिन्दी कथाकार नहीं जान सके। सन् 1960 के बाद इस दिशा मे कुछ उपलब्धियाँ प्रस्तुत हुई है। सन 1947 से 1978 के बीच मूल्यगत संक्रान्ति का परिवर्तन चक्र इतना तीव्र गति से हुआ है कि सेवा, सहयोग सुधार, विकास, विचार, विरोध, प्रस्ताव और समझौतावाद जैसे सैकड़ों शब्द टूटकर एकदम अर्थशून्य हो गए। पूज्य और श्रद्धा भाव के ऊँचे–ऊँचे शिखर टूटकर धूल में लोटने लगे हैं। युगीन मूल्य संक्रमण एक व्यापक प्रलय की भाँति अखिल सद्, शुभ्र और शुचित्व को अपने सत्यानाशी अंचल में आयताकार लहराने लगा और उसकी लहरों मे अवश नागरिक सत्ता अपनी उपाहासास्पद स्थिति को सत्य मान जीती रही।

इस मूल्यानुसंक्रमण की पृष्ठिभूमि में सबसे महत्वपूर्ण रोल नयी पीढ़ी की उत्तरदायित्वहीनता का है। युवा व्यक्तित्व में एक विचित्र सी रिक्तता का बोध एक सत्य है। यह अनाम सरहदों पर युद्धरत दिखता है। बीहड़ प्रश्नों से पलायित हो जाता है। अतः यह विचित्र सी सामाजिक स्थिति इस रूप में पुराने मूल्य जहाँ टूट रहे हैं। नयी युवा पीढ़ी के द्वारा उनकी स्थान पूर्ति के लिए नये मूल्यों का निर्माण हो रहा है। नागार्जुन के उपन्यास 'नई पौध' में ग्रामीण समाज की उगती–उभरती नयी पीढ़ी अनावश्यक रुढ़ियों, परम्पराओं और अंधविश्वासों के विरुद्ध संग्राम छेड़ने के लिए यद्यपि 'बम पार्टी' के रूप में संगठित होती है परन्तु उसकी सारी टकराहट प्रेमचन्द युगीन स्तर पर टिकी रह जाती है। उनका सारा मोर्चा अनमेल विवाह के विरूद्ध है। उनकी पार्टी में एक महिला सदस्या

विसेसरी भी है जो आधुनिकता का प्रतीक है। एक दिन वह युवा प्रतिनिधियों से प्रश्न करती है—'सोराज हुआ होगा दिल्ली और पटना में। यहाँ जो ग्राम—सरकार कायम हुई है उसके एगारह ठो मेम्बर हैं। जनाना भी एबको गो हैं बूले'[1] और निरूत्तर बूलो कान पर जनेऊ चढ़ाकर पेशाब करने भाग जाता है। नये मूल्यों के प्रश्न पर इसी बूलों की स्थिति आज समस्त उत्तरदायी समझे जाने वाले व्यक्तियों की है। वे प्रश्नों से कतराते हैं, समस्याओं से कतराते हैं और एक सघन अन्तर्विरोध की स्थिति को समाज जीने के लिए विवृश है।

'अलग—अलग वैतरणी' का जगेसर अपने गाँव की समूची सामाजिक मान्यताओं और मूल्यों को विस्मृत कर पुलिस विभाग में नौकरी करता है। छुट्टी लेकर घर आता है। गाँव के भोंकते हुए कुत्तों को बड़ी लानत भरी आवाज़ में डांटता है, मालुम होता है कि नौकरी में जाने से पूर्व अपने गाँव में कभी अन्जान को देखकर भौंकते हुए कुत्तों को नहीं देखा है। कहता है—"भाग ससुर, नहीं देगें एक फैट। बस साले 'डौन' हो जाओगे। इन कठपिल्लियों के मारे दिमाग गड़बड़ा जाता है। झाँव—झाँव, झाँव—झाँव। जैसा है साला गाँव है, वैसे इ साले यहाँ के कुत्ते हैं।[2]"

इसी में सुखदेव राम जी दुनिया से बहुत नाराज रहते हैं। नया ज़माना क्या आज, सभी बालाँक हो गए है। कभी दाल ही नहीं गलती। पहले जमींदार था, तो राब सीधे थे, गरु थे। बड़े प्रेम से माथा झुकाते। कहीं खाले—ऊंचे पर पैर फँस जाता, तो खुद बिना कहे जमींदार की मुट्ठी में रुपये थमा आते। जमींदार इन्हें सीधे नहीं चाँपता था। बस, अवसर खोजकर कहीं फँसा देता था। दो फरीक लड़ जाते थे और दोनों बारी—बारी से अपना—अपना पक्ष मजबूत बनवाने के लिए जमींदार के पैरों में पगड़ी और थैली रख आते थे।[3]

गाँव के गँवारों में अब कितनी अद्भूद चेतना उन्मेशित हुई है कि सुखदेव जैसा ग्रामीणिक नेता अब अपनी मध्यस्थता की आमदनी पर पश्चाताप कर रहा है। वह भी गया अब तो इस गाँव में ऐसी वारदातें होती है। कि कोई थाना, पुलिस में रपट नहीं करता। ऐसा लीचड़ निहंग गाँव शायद ही कहीं हो। एक भी आदमी नहीं,जो हाईकोर्ट ठिकाने की बात करे। बस, टुच्ची वारदातें रह गयी हैं। चोरी, चमारी आशनाई। खेत कट जाते हैं रातो—रात, मवेशी खूटे परसे या सिवान में से हांक दिए जाते हैं दिन—दहाड़े, पर कोई रपट नहीं। कहीं पंचायत नहीं। सबको मालुम है किसने क्या किया। चोरी का जव,ाब

---

1. नागार्जुन : नई पौध, पृष्ठ— 127
2. शिव प्रसाद सिंह : अलग—अलग वैतरणी, पृष्ठ—154—155
3. वही, पृष्ठ—164

चोरी। चमारी का जवाब चमारी। अब वे शान वाले मर्द कहाँ रहे कि जीरू के तन की साड़ी बेच कर हाईकोर्ट तक लड़ते रहे।[1]

खान–पान के परम्परागत बंधन भी ढ़ीले हो चुके हैं। खान–पान संबंधी पवित्रता चौके में ही सीमित हो चुकी है। खान–पान में छूत–अछूत का परहेज त्याग कर स्वच्छता पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। 'सामर्थ्य और सीमा' के उद्योगपति मकोला जाति के वैश्य हैं जो परम्परा से निरामिषभोजी होने पर भी विदेश में रहने के कारण एवं मित्रों के आग्रह पर माँस और शराब खाते–पीते हैं।

फिर भी यह सच है कि संसार जहाँ से चला था आज वहाँ नहीं है। यह परिवर्तन का तत्व विश्वव्यापी है। संसार का कोई ऐसा सामाजिक संगठन नहीं है जो आज भी अपने आदिम रूप में हो। अतः सामाजिक परिवर्तन को हमें स्वीकार करना ही होगा। अन्यथा समय के साथ हम टिक नहीं सकते। सामाजिक परिस्थिति तथा वातावरण से समझौता करना होगा।

मार्क्स और एंगिल्स के घोषणा पत्र का प्रभाव 'बीज' के सत्यवान के विचारों में मिलता है। वह विचारता है–"समाज में जो यह अमीरी–गरीबी का भेद है, उसी में उसी संघर्ष का बीज छिपा हुआ है जिससे समाज आगे बढ़ता है.........अमीर का संघर्ष अपने मालिकाने को बनाए रखने के लिए और गरीब का संघर्ष अपनी गरीबी के घेरे से बाहर आने के लिए। यही वह कोयला पानी जिससे समाज के इंजिन में हरकत आती है"[2] यही सत्यवान की पत्नी ऊषा अपनी सीमित आय में अपने उच्चवर्गीय पड़ोसी का अनुकरण करना चाहती है, वह समझ लेती है कि डेढ़ सौ रूपए की आय से चौदह सौ रूपए मासिक आय का मुकाबला नहीं किया जा सकता।

'बीज' उपन्यास में युवा वर्ग शान्ति की अपेक्षा क्रान्ति में विश्वास प्रकट करता दिखलाया गया है। वीरेन्द्र, अमूल्य, ज्योति, सत्यवान आदि युवक मार्क्स के विचारों के समर्थक है। स्वयं प्रफुल्ल बाबू कांग्रेस को छोड़ इस कम्यूनिस्ट विचारधारा के समर्थक बन जाते हैं। इस प्रकार युवा मानस में संघर्ष की भवनातीब रूप में मिलती है। गॉवों में भी इस वर्ग भावना का विकास हुआ है। गॉवों में भी जमींदारो और किसानों में वर्ग संघर्ष का सूत्रपात हो चुका है। 'अमरवेल' का टहल राम जमींदार देशराज के ग्रामीणों पर किये जाने वाले अत्याचारों के विरूद्ध जुलूस निकाल कर संगणित विरोध का प्रदर्शन करता है।

---

1. शिव प्रसाद सिंह : अलग–अलग वैतरणी, पृष्ठ–164
2. बीज : अमृतराज , पृष्ठ–55

वैधानिक रूप से जमींदारी प्रथा खत्म हो गयी। अब जमींदार उसे बेदखल नहीं कर सकता।........... जो जोतेगा, जमीन उसी की है।[1] इसके उपरान्त भी मिला का सबसे बड़ा किसान है भोला बाबू। तीस हजार बीघा जमीन है।[2] इस प्रकार के जमींदार पनप रहे हैं जो अब जमींदार न कहलाकर किसान कहाते हैं। ऐसे तथा कथित किसान अब भी शोषण करते –"सैकड़ों बीघे जमीन वाले किसान के पास पैसे हैं, पैसे से गरीबों को खरीदकर, गरीबों के गले पर, गरीबों के जरिए ही छुरी बलाते हैं।"[3] दूसरी और गरीब और बेजमीन लोगों की हालत भी खम्हार के बैलों जैसी है........मुँह में जाली का जरब,[4] जिससे न तो वे कुछ खा सकते हैं, न पी सकते हैं। बस काम करते रहो। जैसे भाग्य में काम करने के अतिरिक्त कुछ लिखवा के ही नहीं लाये हैं। इसके उपरान्त भी शोषण के विरूद्ध स्वर उभर रहा है। किसान अपने अधिकारों की माँग कर रहे हैं। काली चरण का स्वर इसे समर्थन देता है जमीन किसको ?..............जो जोतेगा वह बोयेगा! जो बोयेगा वह कांटेगा कमाने वाला खायेगा।[5] वह पूंजीपतियों और जमींदारों को खटमल और मच्छर की भाँति शोषक रूप में स्वीकार करता है।

'चाँदनी और खंडहर' का मध्यवर्गीय मास्टर कुमार उच्चवर्ग के स्वप्न देखता है। वह अपने लड़के को इग्लैण्ड पढ़ने के लिए भेज देता है। परिणाम स्वरूप सीमित आय के कारण आर्थिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। सम्पूर्ण गृहस्थी नरक बन जाती है। सभी सदस्यों का जीवन अभिशाप बन जाता है। आय की अपेक्षा व्यय अधिक होने से सम्पूर्ण परिवार विच्छृखंलित हो जाता है।

'हाथी के दांत' का खान का मालिक हीरा जी आज के मँहगाई के युग में आदमी के जीवन को सबसे सस्ता मानता है। मालिक और मजदूर के बीच सम्बन्धों की यह स्थिति शेष रह गयी है। समाज में असमानता व्याप्त है। सामन्त वर्ग का प्रतीक पर दुम्मन सिंह अपने ढंग से इसकी व्याख्या करता है –" सब धान बाइस पसेरी कैसे बिके ? इसलिए तो एक आदमी अनाज उगाता है, दूसरा आदमी उसे खाता है, एक आदमी कपड़ा बुनता है, दूसरा आदमी उसे पहनता है। एक आदमी घर उठाता है, दूसरा आदमी उसमें रहता है।[6]" इब मनुष्य इसे भगवान की लीली के रूप में नहीं वरन् शोषण के रूप में देखता है। यह सामाजिक चेतना ने उसे इतना मानसिक उद्‌बोध दे दिया हैं कि मनुष्य वास्तविकता को जान सके। यह परम्परागत मूल्यों में परिवर्तन का भी प्रमाण है। अतः परे

1. मैला आँचल : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–319
2. वही, पृष्ठ–91
3. वही, पृष्ठ–215
4. वही, पृष्ठ–94
5. वही, पृष्ठ–126
6. हाथी के दाँत : अमृत राय, पृष्ठ–128

दुम्मन सिंह के अत्याचारों के विरूद्ध रामसिंह जनता को संगठित कर सामन्त वर्ग का अन्त करके की विराम लेता है। इससे स्पष्ट है कि जनता को अधिक समय तक अन्धकार में नहीं रखा जा सकता।

'बूँद और समुद्र' का महीपाल इस तथ्य को स्वीकार करता है कि मार्क्स के सिद्धान्त .... से दुनिया के हर आमीखास के विचार में क्रान्तिकारी परिवर्तन अवश्य हुआ है। कितने मालुम है जिसने सर्वहारा है, वह अब चोट खाये नाग की तरह फन उठा रहे हैं । इस बार कोई उन्हें रोक न सकेगा।[1] 'परती परिकथा' में किसान आन्दोलन का पूर्ण आभस मिलता है। जमींदार के विरोध में बेदखल किये गये किसान दल बाँधकर रोज नारा लगाते हैं। गरियाते हैं–जालिम, मनकार, गिरगिट, शराबी, जुआरी इत्यादि। इस आन्दोलन में लडके पीछे नहीं है। वे नारे लगाते हैं – "जमींदार का विष दॉत तोड़ेंगें......... ..तोड़ेगें। जमींदार का साथ हाथ छोड़ेगे......... छोड़ेगें।[2] जमींदार स्वयं किसान बन गये हैं। परती परिकथा का ही गुरूवंशी बाबू अब जमींदार नहीं किसान है। दस हजार बीघे जमीन हैं दो–दो हवाई जहाज रखते हैं । काशः कि भारतीय किसान ऐसे होते। वर्तमान स्थिति में गुरूवंशी बाबू कम से कम भारतीय किसानों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। निम्नवर्ग का नवयुवक जयमंगल लाती जमींदार को 'ब्रहमपिशाच' की संज्ञा देता है।

'सूनीं घाटी का सूरज' में किसान–मजदूर की स्थिति का चित्रण है। इन लोगों में प्रत्येक परिवार के साथ यदि कुछ भी तो वह बीघा–डेढ़ बीघा पथरीली भूमि से अधिक न थी । केवल अपने गौरव की प्रतिष्ठा में वे अपने आपकों किसान कहते थे । वस्तुतः वे सभी मजदूर थे।[3] इस प्रकार किसान मजदूरों की श्रेणी में आते जा रहे हैं। 'लोक परलोक' का निम्न वर्ग संगठित होकर अब उच्चवर्ग का दबदबा अस्वीकार करने लगा है।

'चौथा रास्ता' के मजदूरों मे इतना साहस आ गया हैं। कि वे मालिकों को चुनौती दे सकते हैं। झम्मन मजदूर चौधरी रूप सिंह से कहता है–"चौधरी जी हम मजदूर हैं। जहॉ शरीर हिलावेगें, पेट भर लेंगे। म्हारा आपके बिना काम चल जायेगा पर आपकी सफेदी, म्हार आपके बिना कायम नाय रहे।"[4]

'सूरज का सातवॉ घोड़ा' में शोषित वर्ग शोषण में मुक्ति पाने हेतु संघर्ष की आवश्यकता अनुभव करता है। वर्तमान मध्यवर्ग में 'प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विच्छृखंलता, इसलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता

---

1. परती परिकथा : फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ–24
2. वही, पृष्ठ–61
3. सूनी घाटी का सूरज : श्री लाल शुक्ल, पृष्ठ–64
4. चौथा रास्ता : यज्ञदत्त शर्मा, पृष्ठ–42

और अंधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। पर कोई न कोई ऐसी चीज है जिसने हमेशा हमें अंधेरा चीर कर आगे बढ़ने, समाज व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुनः स्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी है।[1] 'सुखदा' का लाल अर्थ के महत्व को प्रतिपादित करता है।–" इन असंख्य लोगों की जान पैसा है......उन अनगिनत लोगों के आपसी नाना व्यापारों द्वारा बने हुए बड़े समाज शरीर का वह लहू है। वह जीवन को जगाए रखता है। वह जहाँ सूखता है, वहॉ आदमी सूख जाता है। इसलिए आत्मनीति और धर्मनीति को बाद में देखा जायेगा। अर्थनीति को पहले देखना होगा।[2] 'बीज' तो कोयला पानी हैं। जिससे समाज का इंजिन आगे बढ़ता हो। पैसा न हो तो सब चीज जहॉ की तहॉ ठप।"[3]

'भूले बिसरे चित्र' के ज्वाला प्रसाद यह मानते हैं 'सत्ता इस युग में भुजबल से नहीं, सत्ता अब रूपये में है।[4] वह रूपये पैसे को ही जीवन की सभी बुराइयों की जड़ स्वीकार करते हैं यही मीर साहब की यह मान्यता है–"धन दौलत से मुहब्बत हर एक इंसान को होती है और होता यह है कि यह धन दौलत का देवता हमारे असली देवता को खा जाता हैं।[5] इसी उपन्यास का लाला प्रभुदयाल पूर्णरूप से महाजन वृत्ति को प्रतीक है। 'सामर्थ्य और सीमा के प्रसिद्ध उद्योगपति रतनचन्द्र मकोला रूपये को ही शक्ति, देवता और सब कुछ मानते हैं।[6] अलग–अलग वैतरणी' उपन्यास में भूलेसरा के नवचा (नौजवना) चौधरी लच्छीराम के कथन से वर्ग संघर्ष की भावना अभिव्यक्त होती है।... भाइयों, रामकिशुन जी का अरज–गरज आप लोगों ने सुन ली । यह कोई इनका अकेले का मामला नहीं है। यह सारी कौम की इज्जत का सवाल है।"[7]

निष्कर्ष रूप में हम प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में वर्ग– सामंजस्य से वर्ग संघर्ष की ओर बढ़ती हुई सामाजिक चेतना देखते हैं। आज समाज में, किसी संस्था या विभाग में, जो शोषण और लालफीताशाही की अहम् में अहमियत को स्थान नहीं देता है, सामंजस्य की स्थिति शान्ति की अपेक्षा क्रान्ति और संघर्ष का आहवान करती है। शोषित वर्ग घुटन, छटपटाहट, कसमसाहट और व्याकुलता के कारण नैराश्य के गर्त में डूब जाता है। शोषित की सत्य तथ्य विवशता संहर्षोन्मुख होने के लिए उद्वेलित तथा उत्प्ररित करती है। परम्पराओं के साथ भी प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में यही स्थिति है और संघर्ष हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर काल में हर व्यक्ति की भाषा और मांग की स्वतन्त्र निजाभिव्यक्ति होने से

---

1. सूरज का सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती, पृष्ठ–330
2. सुखदा : जैनेन्द्र, पृष्ठ–155
3. बीज : अमृत राय, पृष्ठ –255
4. भूले बिसरे चित्र : भगवती चरण वर्मा, पृष्ठ–44
5. वही, पृष्ठ–43

युवा वर्ग परम्परा के पूर्ण प्रशस्त मार्ग पर चलने को तैयार नहीं हुआ। पुरानी मान्यताओं को बर्बरता के साथ तोड़ा। भले ही कुछ समय के लिए भर्त्सनात्मक बना, आज के युग में वर्ग संघर्ष का मार्ग सफलता प्रदन पथ सिद्ध हो रहा है।

(ङ) वर्ग संघर्ष का सामाजिक परिदृश्य :

राजनीतिक अधिकारवादी चेतना के फलस्वरूप भारतीय सर्वहारावर्ग में नूतन उन्मेष परिलक्षित होता है। भारतीय ग्रामीण परिवेश में भूपात और भूमिहीनों का वृहत अन्तराल वर्ग संघर्ष की पृष्ठभूमि है। इसे लक्ष्य कर डॉ0 विवकी राय ने अपने शोध प्रबन्ध 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्रामजीवन' में लिखा है कि भूमिहीन और भूपतियों के इस संघर्ष का सूत्रपात स्वतंत्रता के पूर्व ही हो गया था। किन्तु स्वराज्य के बाद जमींदारी उन्मूलन आदि से दलित लोगों में जो आत्मविश्वास जगा उसने इस संघर्ष को 'वर्ग–संघर्ष' का रुप देकर कहीं–कहीं राजनीति से जोड़ दिया।'[1] राजनीतिक सन्दर्भो में कार्लमार्क्स के साम्यवादी जीवन दर्शन और समाजवादी उद्‌घोषणाओं ने भारतीय जनमानस को पूर्णतया प्रभावित कर समाज में वर्ग–वैषम्य के प्रति उनकी आँखें खोल दीं। फलतः सदियों से शोषित, दलित और उत्पीड़ितों में अधिकार बोध की प्रखर भावनाएं स्वत्व संघर्ष के रूप में शोषक समाज के प्रति उभरीं। यथार्थ मूलक वैषम्य ने सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी व्यापक बीजवपन किया। फलतः जीवन मे भयंकर यातना और उत्पीड़न की दारुण व्यथा से प्रतिहत सर्वहारा वर्ग में वर्ग संघर्ष का सूत्रपात हुआ। न केवल ग्रामीण जन–जीवन वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र ही स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में संघर्षशील हो गया। जिसे सुरेश सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास' में निष्पक्षता से आलोचित करते हुए लिखा है कि –स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् योजनाओं के गलत निर्धारण और त्रुटिपूर्ण कार्यान्वयन के कारण आर्थिक प्रगति की शिक्षा ही बदल गई। जिसका समाज पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था। इससे वादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिला और वर्ग वैषम्य बढ़ता गया। बढ़ते हुए वर्ग वैषम्य से वर्ग संघर्ष का रूप लेलिया और यह ने केवल आर्थिक स्तर पर वरन् सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक पृष्ठभूमि पर प्रतिफलित होता हुआ भारतीय सर्वहारा वर्ग और उच्च अभिजात वर्ग के मध्य पनपने लगा। स्वतंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने वर्ग संघर्ष का प्रभावशाली चित्रांकन अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया। नागार्जुन, भैरव

---

1. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–407

प्रसाद गुप्त, राम दरश मिश्र, फणीश्वर नाथ रेणु, हिमांशु श्रीवास्तव, जयसिंह आदि कथाकारों की कृतियों में शोषित सर्वहारा वर्ग का संघर्ष वर्ग चेतना का नया उभार लेकर प्रस्फुटित हुआ है।

समाजवादी यथार्थ के प्रस्तोता नागार्जुन की कृतियों मे उभरा वर्ग संघर्ष अत्यन्त प्रभावशाली है। शोषक और शोषितों के मध्य का अन्तःसंघर्ष समाजवादी चेतना से उद्भूत होकर व्यष्टिगत सीमाओं के मध्य भी बड़ा व्यापक है। 'बलचनमा' के आन्तरिक स्तर पर व्यक्त संघर्ष संकल्प को डॉ0 विवेकी राय ने वाहय परिस्थितियों का आन्तरिक विस्फोट[1] माना है। व्यक्तिनिष्ठ प्रखर भावनाओं में एक अत्यक्त विद्रोह उभर रहा है, अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए संगठित होकर संघर्ष के सूत्रपात की परिकल्पना करने वाला बलचनमा' सोचता है कि–'जन बनिहार, कुली–मजदूर बछिया खवास लोगों की अपने हक के लिए बाबू भैया से लड़ना पड़ेगा।'[1] बलचनमा इस संघर्ष से आहत होकर भी आगत भविष्य में संघर्ष का मार्ग निर्धारित कर जाता है। 'वरूण के बेटे' में निषाद जाति सामूहिक रूप से अपने अधिकार हनन के फलस्वरूप संगठित होकर 'गढ़पोखर' क रक्षार्थ जमींदार से लोहा लेने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। 'बाबा बटेसर नाथ' सामूहिक स्तर पर उभरीं वर्गचेतना का स्वर अत्यन्त मुखर है। अन्याय और उत्पीड़न के विरूद्ध संगठित होकर मुक्ति, प्रयास की अदम्य कामना करने वालों का नया वर्ग नागार्जुन की कृतियों में उभरता दृष्टिगत होता है।

प्रमुख प्रगतिशील उपन्यासकार भैरव प्रसाद गुप्त की कृतियों में वर्ग संघर्ष का व्यापक चित्रण प्राप्त होता है। साहित्यिक पृष्ठभूमि में उपन्यासकार जिस उग्र संघर्ष का चित्रण प्रस्तुत करता है वह वस्तुतः अभी यथार्थ जगत में पूर्णतः अवतीर्ण नहीं हो सका है। फिर भी शोषक और शोषितों के परिवर्तित संदर्भ तथा तजन्य असंगतियों का पारदर्शी चित्रण 'मशाल', 'गंगा मैया' और सती मैया के चौरा' में डूबा है।

'मशाल' के प्रमुख संघर्षशील श्रमिक पात्र रंगवा, धेनुक मजूद और नरेन जीवन की आवश्यक मांगों के प्रति उदासीन प्रशासनिक व्यवस्था को चुनौती देते हुए इनकी पूर्ति के लिए क्रांति और संघर्ष का आवहन करते है। पूर्वान्चलीय ग्रामीण जन जीवन की पृष्ठभूमि पर आधृत कृति 'गंगा मैया' का मटरू साम्यवादी संचेतनाओंके प्रकाश मे शोषक भूपतियों के विरूद्ध वर्ग संघर्ष का नया स्वर मुखरित करता है। 'सती मैया का चौरा' में

---

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–66

वर्गीय हितों के रक्षार्थ संगठित होते सर्वहारा वर्ग की एक झलक प्रस्तुत है कि 'गरीब का दुख गरीब ही समझ सकता है बाबू भैया लोग क्या समझेगे?'[1] बिहार प्रान्त के युग धर्म का यथार्थ अंकन करने वाले प्रबुद्ध उपन्यासकार हिमांशु श्रीवास्तव की कृतियों में भी वर्ग संघर्ष का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत है। 'नदी फिर बह चली' का समस्त परिवेश शोषण की करूण कथा उद्धत करता है। व्यक्तिगत चित्रों की रक्षा के लिए समूह बद्ध होकर संघर्ष का शंखनाद करने वाली परबतिया जानती है कि......''मेरे पास एक धुर भी ज़मीन नहीं है तोक्या, लेकिन आखिर मे किसान और मजूरों का ही बहु बेटी हूँ– आगे बढ़कर रोटी–रोजी के लिए लड़ने के सिवा हमारे पास रास्ता क्या है? हम शककर बैठ नहीं सकते[2]। उत्पीड़कों और शोषकों के विरूद्ध 'किसान और मजदूरों की अनगिनत पांती समुद्र की तरह आगे बढतीं जा रही थी।'[3] और वर्ग एकता की शुष्क धारा को अपने जीवन का दान देकर रस सिक्त बनाने वाली परिबतिया बलचनमा की ही भाँति अगणित शोषितों को मुक्तिमार्ग का पथ प्रशस्त करने की युक्ति दिखाकर अपने जीवन का अन्त कर लेती है। उपन्यासकार की दूसरी कृति 'लोहे के पंख' में ग्रामीण भूमि संतरित नगर भूमि तक आने वाली कथा मे शोषण के विरूद्ध जीवन्त संघर्ष अतीव प्रामाणिकता के साथ उपलब्ध है। मंगरूआ का वैयक्तिक संघर्ष उपन्यास के पूर्वार्द्ध–उत्तरार्द्ध में आते–आते स्वातंत्र्योत्तर पृष्ठभूमि पर अत्यन्त जागरूक और व्यापक हो जाता है कतिपय विडम्बनाओं वश जीवन भर संघर्ष का संकल्प लेने वाला मंगरू अपने इंकलाबी साथियों की मृत्यु के उपरान्त इस संघर्ष मार्ग से समता और न्याय नहीं पा सकता है किन्तु सर्वहारा वर्ग के इस प्रतिनिधि के अन्तर्विरोध और संघर्ष की प्रक्रिया बड़ी मार्मिक है।

प्रमुख उपन्यासकार रामदरश मिश्र की कृतियों में वर्ग संघर्ष का सूत्रपात स्वतंत्रता पूर्व हो जाता है। विदेशी शासन व्यवस्था के अन्याय मे घुटने वालेसर्वहारा चमारें और ब्राह्मणों के मध्य वर्ग संघर्ष मे अनेक चमार हताहत होते हैं और मुकद्मा करने के लिए तथा उपचार हेतु गोरखपुर अस्पताल में जाने लगते हैं तो उन्हें अपने नेता के इस कथन से कि–'अगर अंग्रेजी सरकार हट जाए कांग्रेसी' सरकार हो जाए तो भाई–भाई आपस में लड़े ही नहीं।'[4] आगत भविष्य में अपनी समस्याओं के निराकरण का आश्वासन प्राप्त होता है। किन्तु इनकी दूसरी कृति स्वातंत्र्योत्तर मूल्यों की प्राप्तिके विघटित स्वरूप का उभार प्रस्तुत करती है। महीप सिंह द्वारा दो बीघे खेत काटने की तैयारी में जगपतिया दारोगा साहब को चेतावनी दे देता है कि' अगर किसी ने खेत पर हाथ लगाया तो लाश गिर

---

1. सती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त, पृष्ठ–292
2. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–329
3. वही, पृष्ठ–329
4. पानी के प्राचीर : रामदरश मिश्र, पृष्ठ–184

जाएगी चाहे हम मरें चाहे वो'।[1] सबके आगे चमचमाता गँडासा लिए लाल ऑखें किए अपनी पार्टी के साथ जगपतिया खेत काट लेता है।

फणीश्वर नाथ रेणु कृत' मैला आंचल' में भूस्वामियों द्वारा संथालों के अधिकार हनन के फलस्वरूप उभरा वर्ग संघर्ष अत्यन्त प्रभावशाली है। ज़मीन बन्दोबस्ती के मध्य अनैतिक साधनों से भूमि हड़पने वालों में और भूमि च्युत किए जाने वाले संथालों में वर्ग संघर्ष होता है। 'संथाल लोग तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद के चालीस बीघा वाले बीहड़ के खेत में वीहन लूटने जाते हैं क्योंकि डाक्टर प्रशान्त से इन्हें ज्ञात हो चुका है कि ये ही जमीन के असल मालिक हैं। विभिन्न प्रभावशाली नारें के मध्य दो दर्ज़न संथाल डेढ़ दर्जन संथालिये घेर ली जाती हैं। हर गौरी सिंह को संघातक चोटें लगती हैं माँ, बहन की कसम गुरूदेवता की गुहार पर स्वर लहरियॉ गूँज रही है.........साले सब भाग रहे हैं। घेर लो! भागने न पावें संथालिने पास के खेतों में घुसी हुई हैं। घेर लो![2] अमानुषिक अनाचारों की संघर्ष भूमि में दर्जनों असहाय लोग मृत और घायल होते हैं। अधिकार हीन आदिवासियों को इस वर्ग–संघर्ष में समर्थ अभिजात वर्ग द्वारा कुचला ही नहीं जाता है वरन् जिस मुकद्में की पैरवी संथाली ने अपना सर्वस्य बेंचकर करती हैं उसमें सभी संथालों को हींज हो जाता है।[3]

जय सिंह की प्रख्यात कृति 'कलावे में उभरते शोषण, बेकारी और सामन्ती अनाचार के प्रति तीव्र विक्षोभ की सूचना प्रस्तुत होती है कि अपने चारागाह काटो और जो दखल करे, उसका सिर तोड़ दो।[4] इस संकल्प के साथ जमींदार की शक्ति से पराभूत होकर भीलों को अपने घरबार से हाथ धोना पड़ता है। किसी भी मूल्य पर गाँव न छोड़ने की अभिलाषा मर जाती है। पाल के भस्मसात् हो जाने पर दूर पहाड़ी पर यायवरों की भाँति इन्हें शरण लेनी पड़ती है।

वर्गसंघर्ष का अत्यन्त उग्र स्वरूप मधुकर सिंह की कृति 'सबसे बड़ा छल' परिलक्षित होता हैं। समाजवादी मूल्यों की छत्राच्छाया में चौधरी बेला सिंह की गर्दन बराबर लगी धान की फसल को काटते हुए सर्वहारा लोग यह सोच रहे हैं कि ये लोग अपना हक ही तो काट रहे हैं। एक दिन हम इस पर अपना हल चलाएगें। देखना है कि चौधरी की बन्दूक मे कितनी ताकत है। चौधरी बेला सिंह के बन्दूक का सामना करने के लिए भूमिहीन लाठी भालां के साथ तैयार हो रहे हैं।'[5] भूमिहीनों की जमात तगड़ी होती

---

1. पानी के प्राचीर : रामदरश मिश्र, पृष्ठ–379
2. मैला आँचल : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–238
3. वही, पृष्ठ–270
4. कलावे : जयसिंह, पृष्ठ–175
5. सबसे बड़ा छल : मधुकर सिंह, पृष्ठ–79

जा रही है, ज्वार सेभी तेज इस वेग को रोक पाना चौधरी के वश की बात नहीं है। थाना पुलिस कब तक उनकी संरक्षक बनेगी।[1] किन्तु इस वर्ग–संघर्ष का परिणाम अत्यन्त भयावह होता है अब बेला सिंह की प्रतिशोधाग्नि में हरिजन बस्ती जलकर खाक हो जाती है। शिवप्रसाद सिंह की ख्याति लब्ध कृति 'अलग–अलग वैतरणी' के वर्ग–संघर्ष के संदर्भ को डॉ0 विवेकी राय ने मूलतः सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक प्रश्नांकित [2] माना है। जहाँ अस्पृश्य जाति उत्पन्ना सुगनी और सवर्ण सरजू सिंह के अनैतिक सम्बन्धों से उत्पन्न वर्ग संघर्ष के मध्य असवर्ण समाज को बुरी तरह कुचल दियाजाता हैं चमारों का निहत्था जुलूस जब गली के मोड़ पर आया तो ठकुराने के लठैत बिना कहे सुने उन परटूट पड़े।[3] सरूपय भगत की बर्बर मृत्यु ने वर्ग–संघर्ष में आहत सर्वहारा वर्ग की दारूण स्थिति को स्पष्ट कर दिया है।

उपरोक्त उपन्यासकारों की कृतियों में सर्वहारा वर्ग का दमित विक्षोभ विस्फोटक के रूप में स्वत्वाधिकार की घोषणा करता दीख रहा है। प्रगतिशील कृतकारो ने सामयिक युग धारा में व्याप्त परिवर्तन की इस लहर का अत्यन्त सूक्ष्म और जीवन्त चित्रण प्रस्तुत किया है।

(च) सर्वहारा वर्ग की नव आधुनिकताः

युगों से संत्रस्त, दलित, उपेक्षित सर्वहारा वर्ग के समक्ष नवयुग सर्वथा अतीत से भिन्न नूतन उपलब्धियाँ लेकर आता है। शोषण के प्रतिकार में उभरती संघर्ष दृष्टि में नयी क्रान्तिकारी मुद्रा दृष्टिगोचर होती है। परम्परागत जीवन मूल्यों को नकारती सर्वहारा चेतना स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में परिवर्तित होकर अपने अस्तित्व का न केवल रूपान्तर कर रही है वरन् अपने नए परिवेश मे विलक्षण प्रगति कर रही है। कतिपय उपन्यासकारों ने सर्वहारा वर्ग की इस अभिनय मुद्रा का सहज और स्वाभाविक अंकन अपनी कृतियों में प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

नागार्जुन कृत 'बाबा बटेसर नाथ' में वटवृक्ष इस नवोन्मेष को अपने सशक्त स्वरों मे उद्घाटित करता हुआ कहता है कि इतना बड़ा अन्याय अब दुनिया यों ही बरदाश्त कर लेगी बेट, नहीं रे हरगिज नहीं'।[4] नागार्जुन की दूसरी प्रख्यात कृति 'बलचनमा' में बलचनमा का आत्मोन्मेष अपने वर्ग की आधुनिक जीवनदृष्टि का प्रतिनिधित्व कर रहा है। वह भूकम्प में मिले सरकारी अनुदान राशि को लेने के लिए माँ को वर्जित करता है।

---

1. सबसे बड़ा छल : मधुकर सिंह, पृष्ठ–78
2. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–408
3. अलग–अलग वैतरणी : डॉ0 शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ–616
4. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन, पृष्ठ–52

किन्तु दैवी विपत्ति में सरकारी अनुदान के प्रति समर्थ समाज की घृणित लोलुप वृत्ति से संक्षुब्ध होकर अपनी वर्गगत स्थिति का विश्लेषण इन शब्दों में प्रस्तुत करता है कि 'जो लोग आज मालिक बन बैठे हैं आगे भीतर माल वही उड़ाएगें। हम लोगों के हिस्से में सीठी ही सीठी पड़ेगी'।[1] बलचनमा आन्तरिक स्तर पर घटित होने वाले व्यक्तिगत संघर्ष संदर्भ में नव चेतना का आह्वान कर रहा है। अधिकार हनन के फलस्वरूप व्याप्त क्षोभ में नयी आधुनिक दृष्टि का उदय हो रहा है।

'दुख मोचन' में यह उन्मेष अपने चरम शिखरपर आरूढ़ है। सर्वहारावर्ग की सुषुप्त भावनाओं में नया उफान आ गया है। अब वे अपमानजनक तरीकों से कोई काम न करेगें। न कुछ इनाम अकरार ही लेंगे, जूठन में चाहे अमृत ही क्यों न हो, उसे कोई नहीं उठायेगा.......।[2] नागार्जुन की कृतियों में सर्वहारा वर्ग आन्तरिक दृष्टि से आधुनिक सामाजिक परिवेश में नव्य जीवन दृष्टि को स्वीकार करता जा रहा है।

प्रख्यात उपन्यासकार रेणु के मैला आंचल मे दलितान्मेष का विद्रोहधर्मी बिम्ब अत्यन्त प्रभावशाली है। मेरीगंज गाँव के तन्त्रिमा टोले की पंचायत मे बंदिश की घोषणा, स्वातंत्र्योत्तर भारतीय सर्वहारा वर्ग की आन्तरिक उद्वेलनशीलता का विद्रोह मिश्रित उन्मेष स्वर झंकृत करती है.... तंत्रिमा टोले की कोई भी औरत अब बाबू टोले के किसी आंगन में काम करने नहीं जाएगी। बाबू बबुअन लोग शाम को गाँव में आवें, कोई हर्ज नहीं, किसी की अन्दर हवेली में नहीं जा सकतें मजदूरी में जो एक आध सेर मिले उसी में सबको गुज़र करना होगा। वालाई आमदनी में कोई बरक्कत नहीं।[3] सामूहिक रूप से नवजागरण की चेतना से आन्दोलित सर्वहारा समाज में यह उन्मेष कहीं–कहीं संघर्ष सीमाओं को स्पर्श सा करने लगा है। 'परती परिकया' में विद्रोह धर्मी आधुनिक जीवन दृष्टि से सम्पृक्त दलित नाटक मण्डली के सदस्य सवर्णो के अनुकरण पर अपने लुप्त अधिकारों के लिए नयी वैचारिक प्रक्रिया के आग्रह में सोचते हुए कहते है कि 'पचीस साल से चन्दा लिया जा रहा है, मगर हीरो का पाठ नहीं मिला। पर्दा–पोशाक परदलित नाटक मंडली का कब्जा होना जायज है। देखना है कौन माँगने आता है पर्दा पोशाक तो क्या एक मूँछ भी नहीं मिलेगी'।[4] अन्तहीन विवशतामूलक परम्परागत जीवनधारा को विछिन्न करने वाली इन मुद्राओं के मध्य नवोदित जनोन्मेष को उपन्यासकारों ने नई वाणी दी है। अन्तर्विरोधों ने शोषितों के मन में विरोध संकल्प को स्थायित्व प्रदान किया है।

---

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–167
2. दुख मोचन : नागार्जुन, पृष्ठ–81
3. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणु, पृष्ठ–132
4. मैला आँचल : फणीश्नवर नाथ रेणु,पृष्ठ–83

समता के अधिकार पाने वाले वर्ग में विषमता मूलक परिस्थितियों ने नयी आधुनिक संघर्ष दृष्टि का प्रसार किया है। आधुनिक सभ्यता और संस्कृति से सुदूर जीवनयापित करने वाले अर्द्धसभ्य शोषित समाज में भी उन्मेष का स्फुरण त्वरित गति से हो रहा है इसका परिचय आदिवासी जीवनाधृत कृति 'कलावे' में वीरजा के कथन मे मिलता है। ठाकुर की शोषक और लोलुप मनोवृत्ति के प्रतिकार में उभरा उन्मेष संघर्ष धर्मिता का अवलम्ब लेकर कहता है कि पचास रुपये में भैंस? गया वह ज़माना। उसे लिखाने में शरम भी नहीं आयी। अगर भैंस नदे तो वह क्या कर लेगा?[1] वीरजा के अर्न्तप्रदेश में उदित आधुनिक जीवन दृष्टि का समर्थन करती गमेती की यह वाणी कि 'अब सिपाहियों को रूपए देने की जरूरत नहीं।'[2] सर्वहारा वर्ग में संतरित होने वाले व्यापक जीवनोन्मेष को घोटित करती है।

आधुनिक प्रगतिशील कथाकार मधुकर सिंह की कृति 'सबसे बड़ा छल' में अधिकार हीनों का असंतोष उन्मेष की व्यापक अनुभूतियों में संघर्ष की अभिव्यक्ति तक पहुँच जाता है। सामाजिक संचेतना के प्रसार मे लोगों में नये विद्रोह धर्मी उन्मेष का सूत्रपात किया है। गोविन का यह आहवान कि 'आओ सहस्त्रो लाखों हाथों को एक में जोड़ दो और सीना तानकर जालिमों के सामने खड़े हो जाओ।'[3] इनकी क्रान्तिदर्शिता में घुले उग्र उन्मेष का परिचय देती हैं। हिमांशु श्रीवास्तव की कृति 'लोहे के पंख' का मंगरूवा नगर जीवन में आकर आधुनिक जीवन दर्शन को स्वीकार कर अंखफोड हो जाता है और मंगरू के 'दिल के सूखे खेत में इन्कलाब का बीज पड़ जाता है।'[4] परस्पर विरोधी स्थितियों में इन्हें नयी आन्तरिक सम्वेदनाओं से भर दिया है।

ख्वाजा अहमद अब्बास की नगर जीवनाधारित कृति 'तीन पहिए' में मीकू खट्टारा वाले का उन्मेष उग्रता के शिखर पर है। शोषक के प्रति उसका शोधात्मक उन्मेष आधुनिक जीवन दृष्टि के कारण ही इतना तीव्र है। कि वह उसकी हत्या कर देता है। उग्र उन्मेष के विपरीत भारतीय ग्रामीण सर्वहारा के मध्य व्यक्त जीवनोन्मेष कहीं अधिक संयत और विवेकशील है जिसका चित्रण शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, सच्चिदानन्द, धूमकेतू आदि की कृतियों में प्राप्त होता है। अलग–अलग वैतरणी के स्वरूप भगत का मुखर उन्मेष व्यक्तिगत सीमाओं को पार कर समष्टिगत हितचिंतन का प्रतिनिधित्व करता लक्षित होता है। सर्वहारा वर्ग के जीवन की मार्मिक और विवश अन्तर्दशाओं का उल्लेख के मध्य अभिनवच क्रान्तिदर्शी उन्मेष का साक्षात्कार हो जाता है जब भगत यह कहते हुए

---

1. कलावे : जयसिंह, पृष्ठ–81
2. वही, पृष्ठ–82
3. सबसे बड़ा छल– मधुकर सिंह , पृष्ठ–75
4. लोहे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–214

सम्बोधित करता है कि 'हम पुराने लोग ठहरे' सारी ज़िन्दगी बड़े लोगों का तलवा चाटते बीत गई। तुम लोग नए खून वाले हो। हम लोग सहते रहे हैं सहने की बान पड गयी है। तुम लोग सहोगे तो अपने को बड़ी कचोट होगी। भावनाओं और विचारों मे अभिव्यक्त आधुनिक सम्वेदनाओं की ये अभिव्यक्तियां सर्वहारा वर्ग की अन्तश्चेतना में उभरते नए मूल्यों से जुड़कर पर्याप्त परिवर्तन की सूचना देती है। धूमकेतु कृत 'माटी की महक' का हरखू कहता है कि 'हम लोगों के बिरादर का अमेदकर था जो इतना बड़ा विद्धमान बन गया। रसिया और चीन में सब कोई बराबर है। कहाँ का निसाफ है कमाए हम और चकल्लस उड़ाए दूसरा आदमी।'[1]

स्वातन्त्र्योत्तर सर्वहारा वर्ग के सामाजिक नवोन्मेष और आधुनिक दृष्टि सम्बन्धी इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वतंत्रतोपरान्त जिन सुख सुविधाओं का प्रलोभन उसे राष्ट्रीय स्तर पर मिला था वर्तमान में वह मात्र स्वप्न रंजन ही बन कर रह जाता है। फलतः अभावों के मध्य उभरता यह उन्मेष कहीं मंद और कहीं तीव्र है। आधुनिक परिवेश में सर्वहारा वर्ग को व्यापक जीवन दृष्टि दी है। जीवन मूल्यों की प्राप्ति में प्रयत्नशील यह वर्ग कहीं–कहीं रूढ़ि परम्परा और जड़ पूर्वाग्रहों के श्लथ बंधनों में स्वंय को कुढ़ाने के लिए तत्पर हो उठा हैं। उपन्यासकारों ने सर्वहारा वर्ग की इस अभिनव मुद्रा का अत्यन्त सूक्ष्म और सजीव चित्रण अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया है।

सर्वहारा : शेष सामाजिक स्थितियों का आकलन :

दुर्निवार शोषण चक्र में पिसने वाले सर्वहारा वर्ग की आन्तरिक दशाओं का प्रतिचित्र स्वतंत्र्योत्तर उपन्यासों में प्रतिबिम्ब मिलता है। वैज्ञानिक प्रगति के मध्य सर्वाधिक क्षति इसी वर्ग को उठानी पड़ी है, इसका उल्लेख नागार्जुन के 'बाबा बटेसर नाथ' में आया है जहॉ ग्रामीण परिवेश का सत्य निरीह सर्वहारा वर्ग यांत्रिक युग में और अधिक वंचित होकर नगरोन्मुख हो जाता है और नगर सभ्यता में समाहित होकर दिशा हारा के रूप में भटकता हुआ संत्रास की विभिन्न स्थितियों को भोगने लगता है। परम्परागत जीवन कर्मो की टूटती श्रृंखला में सर्वहारा वर्ग पूंजी और सुविधा के अवसरा भाव में सामाजिक अधोगति के निचले स्तर तक पहुॅच जाता है। नागार्जुन साक्षी हैं कि 'चमार जूते बनाना भूल गये। मेमिनों के पॉच करघे थे सो अब एक ही रह गया। ग्रामीण स्तर पर कुटीर

---

1. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन, पृष्ठ–95

उद्योगों के ह्रास से विघटित सर्वहारा वर्ग की समाजिकता का यथार्थ अंकन है यह न केवल यांत्रिक सभ्यता के सम्बर्द्धन ने सर्वहारा वर्गीय सामाजिकता को विघटित किया वरन् ग्रामीण सर्वहारा को विघटित करने वाले अन्यान्य तत्व भी प्रमुख है। अपने समाज के अन्तःवर्ती सम्बन्ध सूत्रों के विखर जाने से भी यह वर्ग निरन्तर हीनतर जीवन मूल्यों से सम्पृक्त होता गया है। सर्वहारा समाज के नैतिक मानकों की पाखण्डपूर्ण स्थितियों ने भी इनकी सामाजिक स्थिति को दुर्वह बना दिया है। 'नदी फिर वह चली' में परबतिया की विमाता मुगिया अपनी शीलपती पुत्री को मेले में खो जाने पर स्वंय ही लांछित करके अपने पति और पुत्री की स्थिति को गर्हित बना देती है। फलतः नैतिक विडम्बनाओं के परिवेश में सामाजिक व्यवस्था के दण्ड को स्वीकारने वाले पिता को प्रायश्चित हेतु 'पंचहती' में पांच रूपए जुर्माना और बिरादरी के सभी लोगों को एक वक्त पक्की और एक वक्त कच्ची भोज की व्यवस्था के लिए पूर्वपत्नी के सोने के कड़े को बंधक रखना पड़ता है। पितृगृह की दुखिता परबतिया पति गृह आकर भी अपने समाज की हेय स्थिति के कारण नगर से गॉव आकर भी उत्पीड़ित होती है। जनार्दन राय का नौकर यह कह कर कि ताड़ से जो देह रगड़ता है, उसका हाल बुरा होता है।[1] उसकी बिडम्बना ग्रस्त सामाजिक यथार्थता को उद्घाटित कर देता है।

सर्वहारा वर्ग के सामाजिक विघटन के तीव्रगति ह्र्स का प्रभावशाली अंकन रामदरश मिश्र की कृतियों में प्राप्त होता है। 'पानी के प्राचीर' में दुर्भिक्ष कालीन स्थिति में उच्च्व और निम्नपूर्ण सामूहिक रूप से विपन्न स्थिति को भोगते हुए नगरोन्मुख होने लगता है। फणीश्वर नाथ रेणु के परती परिकथा में सर्वहारा निम्नवर्ग की अशिक्षा, अज्ञान और रुढ़िवादिता से लाभ उठाकर इनकी सामाजिकता का विघटित करने का षड्यन्त्र लुत्तो, त्रीर मद्दर और निरसूभगत द्वारा स्वा जाता है। ग्रामीण स्तर पर अनन्त दुखों को स्वीकारने वाले शोषित सर्वहारा वर्ग की विघटनशीलता का मार्मिक चित्रण 'लोहे के पंख' मे उपन्यस्त है। जहाँ बेगार और कर्म ने दारिद्रय का दायित्व इस वर्ग को सौप कर इनके जीवन को विपण्ण बना दिया है। मंगरूआ का दादा मालिक की गुहार में; पिता औषधि के अभाव में तथा वह स्वयं अपने इन्कलाबी नारों के महय खोखला होता हुआ मृत्योन्मुख होकर सर्वहारा जीवनकी सामाजिक विघटनशीलता को मूर्तिमन्त कर देता है।

सर्वहारा वर्गीय जीवन की विघटित सामाजिकता को और अधिक दुर्बह बनाया है सामन्तशाही और नौकरशाही ने। 'कब तक पुकारूं' में नट जाति का सामन्तीय शोषण

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्वत, पृष्ठ–312

और प्रशासनिक परिसीमाओं में उत्पीड़ित की मार्मिक अभिव्यक्ति संगुम्फित है। 'क्लाव' में भीलों की सामाजिकता को विच्छिन्न करने में पुलिस प्रशासन और जमींदार संलग्न है। राजेन्द्र अवस्थी कृत 'जंगल के फूल' में आदिवासियों की अंतरंग सामाजिकता विघटित होती है। 'सूरज किरन की छांव' में विदेशी ईसाई मिशनरियाँ आदिवासियों का जीवन बोझिल बना देती है। चारों ओर से अशक्त, दीन, निरुपाय बना सर्वहारा वर्ग नगरोन्मुख होकर जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ करना चाहता है किन्तु नगर जीवन की विसंगतियों से भी त्राण कहाँ? अशिक्षा, अज्ञान, बेकारी, निर्धनता से अभिशापित जीवन को स्वीकार ने वाले नगर सर्वहारा को भी कतिपय प्रगतिशील कथाकारों ने प्रामाणिकता के साथ उपन्यस्त किया है। जयवन्त दलवी कृत 'घुन लगी बस्तियाँ का पूरा परिवेश सर्वहारा वर्गीय जीवन पर आघृत हैं। लूका, वेन्वा, तम्मा, आयशा, चमन्या, सोचा जैसे स्त्री की दीन–हीन सामाजिक स्थिति पुलिस प्रशासनद्वारा निरन्तर उत्पीड़ित होती रहती है। ख्वाजा अहमदअब्बास कृत 'तीन पहिए' में भीकू खट्टारा वाला समग्र जीवनयापन करने का निश्चय तो करता है किन्तु शोषक सेठ की कुत्सा में उसका सर्वस्व स्वाहा हो जाता है।

महानगरीय घुमुहाकों और अकिंचनों के पारदर्शी चित्रण का प्रतिनिधित्व करने वाली कृश्नचन्दर की कृति 'दादर पुल के बच्चे' में नागर परिवेश जीवन मूल्यों की टकराती मानसिकता को सत्ता के संदर्भ में उदयशंकर भट्ट ने 'सागर लहरें और मनुष्य' में चित्रांकित किया है नैसर्गिक सुषमा सम्पन्न सागर तट की वासिनी रत्ना महानगरीय भौतिकता से आकर्षित होकर यह कहती हुई कि बरसोवा तो नरक हैं, गॉवड़ा'[1] नारी जीवन की अमूल्य निधि नारीत्व से ही हाथ धो बैठती है। अनैतिक प्रसंगों के मध्य रत्ना के पूरे परिवार को गहरा धक्का पहुँचता है।

सर्वहारा वर्गीय जन जीवन में व्याप्त चारित्रिक विसंगतियों का अंकन करके अन्दर बाहर संस्कारों की सीमाओं को निरूपित करता है। अतीत की कटु अनुभवशीलता, वर्तमान को कुंठित करने वाली विषमता इनकी अनुभूतियों को कटु बना देती है तो मुक्ति की तीव्र अकुलाहट कोअपशब्दों, खीझ और कभी–कभी संघर्ष के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। स्वातंत्र्योत्तर कृतिकारों ने इनकी गुढ़ मनोवैज्ञानिक स्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। शिव प्रसाद सिंह कृत 'अलग–अलग वैतरणी' में घरबिनमा के पिता की विवश मानसिक भावाभिव्यक्ति की अन्तर्वेदना का साकार चित्र प्रस्तुत है। हुचुक–हुचुक कर रोते

---

1. सागर लहरें और मनुष्य : उदयशंकर भट्ट, पृष्ठ–112

पुत्र को खाली हाथ लौटते देखकर वह गुस्से में उबलते हुए कहता है कि तो तूं ससुरे उनके दरवन्जे का करने गया था।' हम उस साले केहियां अब चूकने भी नहीं जाते।[1] अपनी असमर्थता में लाचार झिनकू मालिक को गालियां देकर अपनी मनःस्थिति को तुष्ट कर लेता है किन्तु पुत्र को तीव्र विदृष्णा से मार कर थप्पड़ जड़ते हुए कहता है, 'क साले गए थे खायक मांगने।[2]

केवल अभिजात वर्ग के शोषण दलन और उत्पीड़न के प्रतिरोध में ही नहीं वरन् पारस्परिक विरोधों में भी सर्वहारा वर्गीय समाज, व्यंग्यों कटुक्तियों और अपशब्दों का प्रयोग करता है। 'नदी फिर बह चली' में निम्न वर्ग की सामाजिक स्थितियाँ और उनकी जटिल मानसिकता को अभिव्यक्त करने वाली भाषा उपन्यरत हैं। दुलरिया कहती है कि.... .....कसविनियां का बाप आया था गोर पर पगड़ी रखने'।[3]

सर्वहारा वर्गीय जनजीवन अपनी सामान्य विसंगतियों के मध्य अनेक बिकृतियों से ग्रस्त है। जीवन मे विपुल अभावों से घिरे इस वर्ग को अशिक्षा, अज्ञान और परमुखापेक्षिता ने अत्यन्त दीन–हीन और कलुष मनोवृत्तियों से त्रस्त बना दिया है। 'रेणु' ने 'परती परिकथा' में इस स्वाभाविक विकृति का यथार्थ परक अंकन नट जाति के खन्तर गुवाव छड़ी वाला के परिप्रेक्ष्य में किया है। मानवीयता से शून्य अपराध की मनोवृति वाले इन विकृत मानवों को जितेन्द्र 'सांप बिच्छुओं से भी जहरीला प्राणी' कहता है। सर्वहारा वर्ग के कतिपय संदर्भो में इनके समाज की घोर विकृतियों की यथार्थ झलक है।

इस विशाल राष्ट्र की परम्परागत जीवन धाराओं में बहते सर्वहारा वर्ग का अपना जीवन दर्शन भी पर्याप्त भिन्नत्व गर्भित है। संस्कृति, धर्म, आस्था, रुढ़ि से ग्रस्त सर्वहारा वर्ग की अन्तवर्ती भावधारा में राष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा अक्षुण्य है। दुःख, आवेश, विवशता और यंत्रणा पूर्ण जीवनीय स्थितियों में दैवीय आस्था की शरण लेने वाले सर्वहारा वर्ग की परम्परागत मूल्यों से विशेष परम्पराओं के माध्यम से इनकी संस्कृति और सामाजिकता की झलक प्राप्त होती है। 'नदी फिर बह चली' में सुहागिन स्थिति में मृत परबतिया की माँ को 'लाल साड़ी और लहठी पहनाकर मांग सेनुर से भर कर, मंजिल ले जाना चाहिए, की परम्परा पूरी की जाती है।

अपनी विशेष लोक रीतियों के मध्य जीवन दर्शन के शाश्वत मूल्यों को स्वीकारने वाला यह वर्ग अपनी सामाजिक सीमाओं मे आज भी विशिष्ट बना हुआ है। पूंर्वांचलीय

---

1. अलग–अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ–249
2. वही, पृष्ठ–290
3. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–309

ग्राम मनके सहज पारखी डॉ0 विवेकी राय ने 'बबूल' में सर्वहारा वर्गीय पात्रों की दृढ़ दैवीय आस्था और विश्वास के यथार्थ अंकन किया है। जलप्लावन की विभीषिका से आक्रान्त घुरविन की करूण मनः स्थिति की अभिव्यक्ति में उसका अत्यक्त जीवन दर्शन निहित है। ह्रदय द्रावक चीत्कारें के मध्य सिसकते प्राणी की आह का प्रतिवेदन 'हाय हो संझा माई! आह! आह! आहि हो गंगा माई। अब हम कवना देशे भीख मागे आइव ए गंगा माई। आहिए भगवान.......[1]. परम सत्ता के प्रति आकुल भाव निवेदन करने वाला यह प्राणी पूजा चार की विधियों से सर्वथा अनभिज्ञ है फिर भी अपनी समग्र व्यथा की आहत पुकार मे इनकी विलक्षणआस्था और धैर्य अनुस्यूत है। उपन्यासकार की दूसरी कृति 'पुरूष पुराण' में भी दुखन लौकिक विपत्तियों के शर्मनार्थ 'बारह खण्डी' और हनुमान चालीसा का पाठ करने लगता हैं आस्था और विश्वास की गहराइयों में डूबे इन पात्रों के जीवन दर्शन की नयी अभिव्यक्ति इन कृतियों में उभरती है। जयसिंह कृत 'कलावे' में मील अपने वर्तमान संत्रास से मुक्त होने के लिए 'नाग देवता' के प्रति असीम आस्था से भर जाते हैं। अभिलषित इच्छाओं की सम्प्राप्ति के लिए ईश्वरीय आराधना की परम्परा का सहज निर्वाह करते ये प्राणी पूर्व परम्पराओं से आज भी जुड़े हुए हैं। अभावों के दर्शन पर आघृत इस समाज के कतिपय पात्र क्षमा, दया, त्याग और करूणा से मंडित है। वे दैत्य, निरीहता और अभावों से संघर्षशील मनः स्थिति में भी तपः पूत जीवन की मर्यादा नहीं खोते, आदर्श के निर्वाह मे संयमित होकर राग द्वेष, हर्ष, अमर्ष से अति दूर रहकर जीवन के प्रति नव्य और भव्य दर्शन प्रसारित करते हैं। अभावग्रस्त जीवन के मार्मिक प्रसंगों के उद्गाता डॉ0 विवेकीराय के उपन्यासों के पात्रों का जीवन–दर्शन इनकी कोमल व्यथामयी अभिव्यक्तियों में मुखरित होता है। 'बबूल' का महेसवा कहता है कि 'जाड़ा उसे सताता है जिसके पास कपड़े है। परिस्थितियाँ मर्मान्तक पीड़ाओं की गहरी चोटें सहत हुए भी ये पात्र ईश्वर और अनीति से भयाक्रान्त है।[1] 'पुरूष पुराण' का दुखन धनी अमराइयों की गंध से स्वयं को बचाता हुआ कबीर के दर्शन से आत्मसात करके कहता है 'अपने खाय खिलाय, परके चित्त न डुलावे। इन अत्यन्त जीवन दर्शनों में समाहित है। भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न जीवन्तता। कोरे आदर्श से दूर यथार्थ की घनी पीड़ाओं में भी भोगवृत्ति से दूर रहने की संचेतना इनके मनः प्राणों में परिव्याप्त है।

इस प्रकार सर्वहारा वर्ग की इन सामाजिक स्थितियों के नए उपन्यास गत चित्रणों के अध्ययन से कुछ मूल्यवान निष्कर्ष हमारे सामने प्रस्तुत हो रहे हैं। हिन्दी उपन्यासकारों

---

1. बबूल : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–21

ने सर्वहारा वर्ग की जिन सामाजिक स्थितियों का साक्षात्कार किया है। वे उनके ध्वंस वाले भाग को स्पष्ट तो करते हैं फिर भी सम्पूर्ण स्थितियों के चित्रण की आवश्यकता शेष रह जाती है। जिसे आधुनिक समाजशास्त्री परिभाषा में सामाजिक जीवन कहा जाता है इस प्रकार के सामाजिक जीवन जीने की सुविधा और स्वतन्त्रता इस वगई को उपलब्ध नहीं है। वे कौन सी शक्तियाँ हैं जो इस वर्ग को इन सुविधाओं से वंचित करती हैं। इस प्रश्न में प्रवेश करनेकी लेखकीय दिशाएँ शायद अधूरी हैं। हिन्दी उपन्यासकार इन कारणों की खोज करने के लिए सुविधा सम्पन्न वर्ग की ओर से आने वाली बाधाओं की ओर देखता है। आवश्यकता इस बात की है कि लेखक उनके निजी जीवन में भी इन कारणों के परिप्रेक्ष्य में झांक कर देखे और उपलब्ध तथ्यों का उद्घाटन करें यह होते हुएभी इस सन्दर्भ में हिन्दी उपन्यास कारों की ईमानदारी पर संदेह नहीं किया जा सकता।

(छ)सर्वहारा चेतना की सामाजिक स्थितियों का अवलोकन :

सन् 1947 ई0 में चौदह अगस्त की रात और पन्द्रह अगस्त की सुबह के बीच देश की स्वाधीनता बहुत कुछ एक झटके की तरह आई। वैसे ऐसे बहुत लोग थे जो इस रात सोए नहीं थे, लेकिन सोकर सुबह उठने वालों को कहीं कुछ अजूबा और चमत्कार नहीं लगा। स्वाधीन भारत की सरकार राष्ट्रीय विकास के नाम पर सोवियत संघ का मॉडल ले रही थी और भारतीय कम्यूनिस्टों के विरूद्ध दमन और उत्पीड़न की नीति पर अमल कर रही थी। नेहरू भ्रष्टाचार और काला–बामारी के विरद्ध लम्बी–चौड़ी घोषणाओं के बावजूद, तेजी से फैलती और पसरती इस हाहाकारी बाढ़ के आगे असहाय थे। नेताओं के रातों रात चोला बदलने के विद्रूपपूर्ण चित्र यशपाल ने अपने उपन्यास 'झूठा–सच' के दूसरे खण्ड 'देश का भविष्य' में बहुत ही सहज ढंग से उकेरा है।

स्वाधीनता के बाद का उपन्यास सामाजिक विद्रूपताओं के विविध वर्गो यथार्थ का पर्याप्त विश्वसनीय रूप मे उभारने और अंकित करने की कोशिश करता है। अपने सारे विचलन और भटकाव के बावजूद। इस यथार्थ के प्रतिनिधित्व लेखकों में कमलेश्वर, गिरीश अस्थाना, शिवप्रसाद सिंह, शानी, माकेण्डेय, हृदयंश, बदीउज्जमां, गिरिराज किशोर और जगदीश चन्द्र आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

कमलेश्वरः नई कहानी आन्दोलन में कमलेश्वर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे मार्क्सवाद और वामपंथी शक्तियों के नाम पर सत्ता के समर्थन और सहयोग की राजनीति में उतर जाते हैं। ''लौटे हुए मुसाफिर''(सन् 1961 ई0) में वे फिर भी पाकिस्तान के नाम पर छले गए आर्थिक दृष्टि से विपन्न मुसलमानों की यातना का अंकित करने का प्रयास करते हैं।

गिरीश अस्थाना का 'धूल भरे चेहरे सन् 1956 ई0 में प्रकाशित यह उपन्यास रिक्शा चालकों पर केन्द्रित है। आस–पास के गाँवों से आकर रिक्शा मालिकों और पुलिस के दोहरे शोषण का शिकार होकर वे गरीबी, बीमारी, अभाव और बिपन्नता में ही समाप्त हो जाते हैं।

शिवप्रसाद सिंह की उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' काशी को केन्द्र मे रखकर, युवा–आक्रोश पर लिखा गया है। आन्दोलन में समाज विरोधी तत्वों की शिरकत आन्दोलन के लक्ष्य को ही नष्ट कर देती है। काशी की अन्तः प्रादेशिक और सामाजिक संस्कृति को लेखक किरन, जयंती और लागो के माध्यम से उद्‌घाटित करता। जिनमें जयंती बंगाली और किरन गुजरती है। अपने–अपने संस्कारों के माध्यम से अपने ढंग ये दोनों अपनी–अपनी संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास लेखन परम्परा में सर्वहारा वर्ग का सामाजिक चित्रण शानी ने अपने उपन्यासों में बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है। शानी का रचनात्मक विकास बस्तर के आदिवासी क्षेत्र में हुआ था। शानी ने अपने उपन्यास कस्तूरी में जो सन् 1961 ई0 में लिखा गया इस क्षेत्र के औद्योगिक विकास को केन्द्र में रखकर संक्रमण औरतनाव को अंकित करना चाहा था। यही उपन्यासवाद में सन् 1961 ई0 में ''सांप और सीढ़ी'' के नाम से लिखा गया। लेकिन शानी की वास्तविक ख्याति का आधार उनका ''काला जल''(1965) है। यह बस्तर के ही दो निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवारों की कहानी के रूप में लिखित है। 'काला जल' वस्तुतः इसी निम्न मध्यवर्गीय जड़ता और सड़ांध का प्रतीक है जिसने जीवन के सारे सौन्दर्य और आकर्षण को सोख लिया है। चूंकि यह उपन्यास बस्तर के एक लम्बे काल खण्ड को समेटता है–शताब्दी के पहले दशक से स्वाधीनता के कुछ बाद तक समय को इस दूर–दराज क्षेत्र में घटित सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन के संकेत भी उसमें हैं।

जगदीश चंद्र का उपन्यास 'धरती धन न अपना' पंजाब की पृष्ठभूमि में, दलितों और हरिजनों के जीवन पर लिख गया है। काली, ज्ञानो, बन्तो, निहाली, प्रीतो और प्रसिन्नी आदि पात्र मन पर गहरी छाप छोड़ते हैं। दलित–वर्ग के जीवन का यह बहुत ही प्रामाणिक साक्षात्कार है। जिसमें उनकी क्षुद्रताओं, द्वेष और स्वार्थी के प्रति लेखक कहीं उदासीन नहीं रहा है। काली गाँव की खुली हवा और वैसे ही खुले मन की आशा लेकर गाँव लौटता है। काली की लड़ाई के दो मोर्चे हैं। एक ओर यदि अपने समाज की क्षुद्रताओं और स्वार्थी से टकराना होता है, उसकी रूढ़ियों से भी वहीं उसे चौधरियों से भी संघर्ष करना है जो वर्ग–संघर्ष का ही एक रूप है। इस दुतरफा लड़ाई में ज्ञानो की छाँह ही उसका सबसे बड़ा बल है। भले ही शहर आकर कालीं के लिए वास्तविक नरक चमड़े का कारखानाहो, लेकिन उसके पहले के दो पड़ाव भी नरक के ही भिन्न रूप हैं। यह 'अधर्मी–उत्पीड़ित वर्ग– के घोर संघर्ष की कहानी है जिसमें यथार्थ का संश्लिष्ट चित्रात्मक अंकन में ही उसका महत्व निहित है।

'कभी न छोड़े खेत' में जगदीश चन्द्र ने जाटों के पुश्तैनी झगड़ों, झूठी आन–बान के फेर में चौतरफा बर्बादी को बहुत यथार्थ ढंग से प्रस्तुत करते हैं।यदि रचना–कर्म में निरंतरता और सकियता की भूमिका को देखा जाए तो गिरिराज किशोर इस काल–खण्ड के सर्वाधिक सक्रिय और ऊर्जावान लेखक माने जा सकते हैं। 'लोग'(सन् 1966 ई0) से लेकर ''ढाई घर''(सन् 1991 ई0) तक उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपन्यास लिखे हैं यह भी एक सुखद संयोग है कि अब तक उनका अंतिम उपन्यास 'ढाई घर'' एक तरह से उनके पहले उपन्यास ''लोग'' का विस्तार है। ''लोग'' में गिरिराज किशोर सामन्ती समाज को एक बच्चे की दृष्टि से देखते हैं। बाबा यशवंत राय के साथ किए जाने वाले अंग्रेज हाकिमों के व्यवहार का, बाबा की सारी खुशामद और सहयोग के बावजूद बच्चे पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यशवंत राय के अहम् के बचाव का गहरे संघर्ष, अवसाद और करूणा का प्रभाव छोड़ता है। ''चिड़ियाघर'' में गिरिराज किशोर रोजगार दफ्तर को केन्द्र में रखकर कथानक बुनते हैं। सुदूर क्षेत्रों से नौकरी की तलाश में आए युवा प्रत्याशी और स्थितियों के प्रति उनकी हताशा इस दफ्तर को सचमुच एक चिड़ियाघर में बदलती है।

"यथा प्रस्तावित" उपन्यास में गिरिराज किशोर यदि दफ्तरों की जड़–पहल–विरोधी मानसिकता का अंकन करते हैं तो "परिशिष्ट" में एक तकनीकी शिक्षण संस्थान को केन्द्र में रखकर दलित वर्ग और आरक्षण के मुद्दे का गहन पड़ताल करते हैं।

अपनी कहानियों की तरह उपन्यासों में भी सतीश जमाली समाज के तलछट और व्यवस्था के शिकार निम्नवर्ग के लोगों की तीसरी दुनिया प्रस्तुत करते हैं। उनका "प्रतिबद्ध" उपन्यास(1974) दिल्ली के समीप एक औद्योगिक नगर में साइकिल कारखानें के मजदूरों के संघर्ष पर केन्द्रित है। "प्रतिबद्ध" में परिवेशगत यथार्थ पर उनकी पकड गहरी और विश्वसनीय है। मालिकों के षडयन्त्रों और मजदूर–विरोधी कारवाई के विरोध में हरीलाल की एक विशिष्ट भूमिका है। मजदूरों की आपसी लड़ाई एवं फूट के विरुद्ध वह बहुत सजग हैं और जानते हैं कि लड़ाई में बहुत जोश एवं चतुराई की जरूरत होती है। मजदूरों की इस लड़ाई में देविन्दर पाल की एक विशिष्ट भूमिका है। देविन्दर पाल एक पढ़ा–लिखा आदमी है जो फैक्ट्ररी मे क्लर्क है। वही वस्तुतः हरीलाल का गुप्त सलाहकार है। हरीलाल से बात करते हुए वह हड़ताल एवं लम्बे संघर्ष की कठिनाइयों की चर्चा करता है। वह कहता है, "अगले दिनो में तुम लोगों को और भी हिम्मत और साहस से काम लेना है और इस लड़ाई को जारी रखना है। इसमें सिर्फ एक बात ध्यान देने की है कि लड़ाई के लिए समझदारी और उचित हथियार होना पहली शर्त है"......... प्रौढ, पारदर्शी और सैद्धान्तिक सोच से जुड़कर ही प्रतिबद्धता का कोई अर्थ हो सकता है। बंशक मजदूरों को अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी है। लेकिन उनकी लड़ाई में रणनीतिक स्तर पर, पढ़े–लिखे बुद्धिजीवियों की भूमिका भी हो सकती है। यह सहयोग कहीं लड़ाई को अधिक अर्थवान बना सकता है।

रमाकांत का "जुलूस वाला आदमी" (1993) और स्वयं प्रकाश का "बीच में विनय" वामपंथी संगठनों और निष्ठावान कार्यकत्ताओं के बीच व्याप्त होने वाली हताशा को उद्घाटित करते हैं। "जुलूस कला आदमी" का नायक राकेश एक निम्नमध्यवर्गीय युवक है जो आगे की पढ़ाई के लिए इलाहाबाद आता है। वहाँ विश्वविद्यालय में चन्द वामपंथी युवकों, ताहिर आदि की सम्पर्क मे आकर वह धीरे–धीरे वामपंथी राजनीति से गहराई से जुड़ता जाता है। "जुलूस वाला आदमी" नेहरू–युग के आरम्भिक वर्षो के व्यापक मोहभंग की कहानी है। पार्टी सिर्फ मध्यवर्गीय वर्चस्व की पार्टी रह गई है। यदु दा पार्टी के इस

मध्यवर्गीय करण का विरोध करते हैं।वह सर्वहारा की पार्टी के रूप में मजदूरों और अन्य बुनियादी वर्गो की सक्रिय हिस्सेदारी के पक्ष में है। लेकिन मजदूरों और अन्य बुनियादी वर्गो की सक्रिय हिस्सेदारी के पक्ष में हैं। लेकिन इसी मुद्दे पर उसे पार्टी मीटिंग से गाली देकर निकाल दिया गया है। शेषम्मा, मोनिका, गीता, सुनीता और कंवली आदि स्त्री–पात्र समझौते, संघर्ष और उत्पीड़न के विभिन्न संदर्भो को रूपायित करते हैं।

अब्दुल बिस्मिल्लाह का झीनी–झीनी बीनी चदरिया (1986) बनारस के साड़ी बुनकारें के शोषण और अभावों की एक अन्तरंग झांकी प्रस्तुत करता है। कड़ी मशक्कत के बावजूद इन गरीब बुनकरों का हासिल क्या है? चुल्हे से उठता धुँआ, खांसी और तपेदिक। उनका शोषण करने वाले लोग कोई और नहीं, उन्हीं की बिरादरी और धर्म के अपने लोग है। साम्प्रदायिक उन्माद के इस दौर में अब्दुल बिस्मिल्लाह धर्म की वास्तविकता पर से पर्दा उठाते हैं और उसे श्रेणियों और वर्ग–विभाजन से जोड़कर देखने पर बल देते है।

संजीव को एक उपन्यासकार के रूप में ख्याति उनके उपन्यास "सावधान! नीचे आग है" (1986) और "धार" से ही मिली। बिहार के झारखण्ड क्षेत्र में कोयलांचल के मजदूरों के शोषण और उनमें विकसित प्रतिरोधी चेतना को ये उपन्यास विश्वसनीय रूप में अंकित करते हैं। माफिया, पुलिस और सत्ता का गठबंधन कोयलांचल के मजदूरों के उत्पीड़न को कैसे असहय और उनके जीवन को नरक बना रहा है, इसे संजीव ने कलात्मक सूझबूझ के साथ उद्घाटित किया है।

डॉ0 गणपति चन्द का मत है कि भले ही हम मार्क्स के विचारधाराओं का शत प्रतिशत सहमत न हों, किन्तु इतना तो सभी स्वीकारते है कि श्रमिक वर्ग को पुरा पारिश्रमिक मिलना चाहिए; चाहे मजदूर की गरीबी अमीरों में न बॉटी जाय, किन्तु अमीरों की अमीरी तो मजदूरों में बाँटनी चाहिए।[1]

श्री अरविन्द पाण्डेय ने दिशाओं के परिवेश में सर्वहारा वर्ग की स्थिति का विश्लेषित करते हुए प्रभावक शब्दों में लिखा है कि इसका उत्पीड़न देखकर सभीप्रकार की सामाजिक तथा आदर्शोन्मुख मान्यताओं, आस्थाओं के प्रतिमन अविश्वस्त हो उठता है।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : डॉ0 गणपति चन्द गुप्त, पृष्ठ–757
2. दिशाओं का परिवेश : श्री अरविन्द पाण्डेय, पृष्ठ–104

"सर्वहारा के उत्पीड़न के मर्म को समझकर 'दुनिया के मजदूर एक हो' का नारा बुलन्द करने वाली यह जनवादी संस्था एक दिन अर्थ की विषमता मिटाकर विश्व में मजदूरों एवं किसानों की सार्वभौमिक सत्ता स्थापित करने में अवश्य सफल होगी।[1]

****

---

1. एक और मुख्यमंत्री : डॉ0 यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, पृष्ठ–82

सातवाँ अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग का सांस्कृतिक आत्मबोधता :

(क) सांस्कृतिक चेतना का परिवेश :

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवादी स्वरों की प्रधानता है। अतः जीवन के सांस्कृतिक पक्ष के पूर्ण उभार में गतिरोध उपस्थित हुआ हैं। यह तो सन् उन्नीस सौ पचास के बाद व्यापक रूप से उभरी आंचलिकता की लहर है

जिसकी लपेट में आकर हिन्दी उपन्यास भारतीय संस्कृति के मोहक चित्रों से परिपूर्ण हो गये । इस घटना में बहुत सहजभाव से अविकसित आंचलिक इकाइयों में युग–युग से निवास करते उन दीन–हीन, अपूछ, अदेख, फटेहाल और अभावग्रस्त लोगों का चित्र सामने आ गया जिनकी यहीं एक संज्ञा हो सकती है, सर्वहारा वास्तव में इस वैज्ञानिक बीसवीं शताब्दी की बुद्धिवादी परम्परा के दौर में संस्कृति की विलुप्त पहचान इन्हीं अशिक्षित, अविकसित, अंधकाराच्छन इकाइयों में शेष है। आधुनिक सभ्यता का गर्वस्फीत व्यक्ति इन सांस्कृतिक चिन्हों को अंधविश्वास, मूर्खता अथवा मृत परम्परा कहकर उपेक्षित करता है– क्योंकि उसके जीवन में सांस्कृतिक स्त्रोतों के आस्वादन का अवकाश नहीं है। हिन्दी उपन्यासकारों ने सभ्यता और संस्कृति के इस टकराव को बुद्धि और ह्रदय के इस द्वन्द्व को बहुत कुशलता के साथ चित्रित किया है। मेले, त्यौहार, विश्वास, पूजा, नृत्य, गीत और विशेष परम्पराओं में सर्वहारा क्षेत्र की जो संस्कृति अभिव्यक्त होती है यद्यपि वह महानगरीय सभ्यता के अभ्यस्त लोगों के लिए मनोरंजन की वस्तु है तथापि समाजशास्त्री उसी में से मूल्यवान निष्कर्षों को निकाल लेता है। प्रस्तुत प्रबन्ध मे अविकसित सर्वहारा वर्ग का जो चेतना उपस्थित करने का प्रयास किया गया है, उस का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आयाम सांस्कृतिक स्त्रोत से सम्पूर्ण है। उन सांस्कृतिक उनकी सम्वेदनाओं और परिवर्तित स्थितियों में उभरी उनकी विकृतियों को

किस रूप मे स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने साक्षातकृत किया है यह विश्लेषित करने का प्रयास किया जा रहा है।

शाश्वत, चिरन्तन जीवन मृत्यों से निबद्ध भारतीय लोकमानस की सांस्कृतिक चेतना की परिधि अति विशाल है। भारतीय संस्कृति मूलतः कृषि संस्कृति से सम्बद्ध होने के कारण ग्राम जीवन से अनिवार्यतः जुड़ी हुई है। फलतः सांस्कृतिक चेतना का अक्षुण्य स्वरूप लोक जीवन में ही समाहित है। इस विराट राष्ट्र का सांस्कृतिक रागबोध अनादिकाल से जन मानस को निर्वाध रुप से अभिसिंचित करता चला आ रहा है। विभिन्न वर्ण, उपवर्ण, जाति और धर्मावलम्बियों का आश्रय होने के कारण पर्याप्त सांस्कृतिक विचित्रतायें दृष्टिपथ में आती है। इस परिप्रेक्ष्य में सर्वहारा वर्ग की संस्कृतिक निष्ठाओं की व्यापक चेतना का संदर्भ उभरता है। इनकी धर्म और संस्कृति के प्रति आस्थाशील मनोवृति की स्वतंत्रतापरवर्ती उपन्यासकारों ने बड़ी कुशलता से अपनी कृतियो में रूपायित किया है।

निखिल भुवन के नियंत्रण कर्ता की महाशक्ति के प्रति आस्थावान सर्वहारा की भावपूर्ण मुद्राओं के उभार के साथ – साथ उनके धर्म सम्बन्धी आडम्बर का स्वरूप भी सामने आता है। जो कहीं–कहीं वाह्ययचारों से जुड़कर विद्यटित धार्मिता को अनावृत करता है। मूर्त देवी स्वरूपों को लोक जीवन, मे अगाध श्रद्धा से देखा गया है। लोक जीवन के पाररवी हिमांशु श्रीवास्तव की कृति "नदी फिर वह चली" में सौभाग्यदात्री पतित पावनी गंगा के चरणों में अपनी सम्पूर्ण आस्था को न्योंछावर करती हुई परवतिया कहती है कि "कलयुग में तो सभी देवता–पित्तर छिप गये, मगर तुम्हारा परताप नहीं छिपा, तुम नहीं छिपी। गंगा मइया, इस गरीबिन को न भूलना।[1] भारतीय जन मानस में गंगा माँ के प्रति आस्था और विश्वास की रेखाएँ बड़ी गहरी है। आर्न्तवाह्य के समग्र कल्मषों को प्रक्षालित करने वाली मनोभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली देवी के प्रति परवतिया की श्रद्धाभिव्यक्ति तो सहज सम्भावित है, और उपन्यासकार इस यथार्थ का अतिनिकट से द्रष्टा और भोक्ता बनकर इस सत्य को उद्‌धाटित भी करता है, किन्तु उपन्यासकार की शैली में परवतियां के सहज हृदय –राग को अकृतिम रुप से प्रस्तुत नही होने दिया है। नारी मन का आन्तरिक उद्‌गार कृत्रिम शैली में दबकर करूणाकातर निवेदन होने के स्थान पर अपने भावों की स्वयमेव वकालत करने लगता है जो

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव पृष्ठ–2

अस्वाभाविक प्रतीत होता है गंगा के प्रति अत्यन्त आस्थापूर्ण मनोभाव धूमकेतू के "माटी की महंक" मे अभिव्यक्त हुए है। सर्वहारा वर्ग की नरियों का समूह अपनी जननेत्री गौरी के स्वास्थ सम्बर्द्धन की कामना से गंगा माई की मिन्नतें मानता है। आस्थाओं की आधारशिला पर आधृत आदिवासी जन–जीवन की अत्यन्त सूक्ष्म और सरल अभिव्यक्ति राजेन्द्र अवस्थी कृत "सूरज किरन की छांव" मे हुई है। बंजारी धर्म परिवर्तन के उपरान्त भी स्वधर्म और आस्था के शाश्वत मूल्यों से जुड़कर मेंमिनों से पूछती है कि "क्या यहोबा बड़ा महादेव से भी बड़ा है।[1] अपने देवता के प्रति हास्यास्पद तिरस्कारपूर्ण अभिव्यक्ति करने वालियों के प्रति बंजारी और वितृष्णा से भर जाती है। मूर्ति और भागे विषयक वार्ता के द्वारा उसकी आस्था के दृढ़ संकेत चिन्ह मिलते हैं। अवस्थी जी ने सर्वथा अछूते आदिवासी जीवन का अध्ययन निकटता से किया है। उनकी गतिविधि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण उपस्थित है। इस कृति मे सांस्कृतिक स्तर पर सनातन मूल्यों से सम्बद्ध नारी मन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में उपन्यासकार समर्थ रहा है। दोनों मेमिनों के प्रति उभरा क्षोभ, अशिक्षा और अज्ञान के तमस मे अंधविश्वासों के मध्य डोलती आस्था का पूर्णचित्र लेखक अंकित कर देता है।

सर्वहारा वर्ग की ईश्वर विषयक विश्वासों की गहन अभिव्यक्ति डॉ0 विवेकी राय कृत "बबलू" और "पुरूष पुराण" में हुई है। प्राकृतिक विनाश लीलाओं के निवारणार्थ महाशक्ति का आह्वान करता हुआ, घुरबिन यद्यपि पूजोंपंचार की विधियों से अनभिज्ञ हैं किन्तु उसके स्वर में शाश्वत सांस्कृतिक अभिचेतना का अविरल प्रवाह कातर वाणी के माध्यम से व्यक्त होकर जड़ चेतना भी को समान रूप से द्रवित करने की क्षमता रखता है। संझा और गंगामाई के स्तवन के साथ विराट सत्ता तक अपनी पुकार पहुँचाने वाला धुरबिन निःसन्देह इस युग का परम आस्थावान प्राणी है। "पुरूष पुराण" का दूखन तो आस्थाओं के चरम शिखर पर आरूढ़ ऐसा व्यक्ति है, जो लंगूर को हनुमान का अवतार मानकर भाव नग्न हो चरण वन्दना करने के साथ ही चने के भुजने के साथ अपना शरीर भी समर्पित कर देता है। इतना ही नहीं लंगूर के काटने पर हर्षोन्मत होकर वह कहता है कि नहीं वे हमकों काट नही रहे थे। एकदम हिलमिल गये थे। हमारे शरीर को जुठार कर पवित्र कर दिया।[2] प्रस्तुत कृतियों मे उभरे लोकमानस की आस्था चिरन्तन मूल्यों से अनुस्यूत है। कृतिकार भारतीय जनमानस का इतना सूक्ष्म और यथार्थ दर्शी चित्र उपस्थित करता है जो अंधविश्वास और रूढ़ियो की श्रृंखलाओं में बधकर भी

1. सूरज किरन की छांव : राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ–42
2. स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास और ग्राम चेतना : डॉ0 विवेकी राय , पृष्ठ–7

अत्यन्त सहज और स्वाभाविक लगता है। व्यक्ति के मानस स्तर पर उतर कर उसकी भावनाओं का सफल बिम्ब उपस्थित करने मे डॉ0 विवेकीराय सिद्धहस्त है। पात्रों के मनोभावों से एकरूपता स्थापित कर उनके स्तर पर विषय का सरलीकरण करते हुए जीवन मूल्यों की उद्घाटन क्षमता से पूर्ण कृतिकार सहज ही इनकी सांस्कृतिक सीमाओं का व्यापक परिवेश साकार कर देता है।

"सागर लहरे और मनुष्य " में निषाद जाति अपने जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले समुन्द्र देवता खण्डाला देव के प्रति पूर्ण आस्थाशील है। इनकी श्रद्धा का आन्तरिक स्वरूप बडा भव्य है। "मैला आंचल" के अवर्षण काल में आस्थाशील सर्वहारा नारी वर्ग भगवान इन्द्र के प्रसन्नतार्थ नृत्य, गायन, वादन, वादन से उनकी अर्चना करती है । मायानन्द मिश्र कृत "माटी के लोग सोने की नैया" में नदियों के मातृ सत्तात्मक आदि दैविक स्वरूप की परम्परा लक्षित होती है। उपन्यासकार लोकमानस में व्याप्त कोशिका मैया के प्रति अखण्ड आस्थाओं का चित्रांकन सशक्त शैली में प्रस्तुत करता है।

ईश्वरीय आस्था की ही भांति आंचलिक उपन्यासों में भिन्न – भिन्न वर्णो और जातियों के अपने–अपने देवी–देवताओं के प्रति आस्था का स्वर भी अत्यन्त मुखर है। अमूर्त के स्थानापन्न मूर्त स्वरूपों के प्रति प्रबल आकर्षण आज भी भारतीय जनजीवन मे व्याप्त हैं। डॉ0 ज्ञानचन्द्र गुप्त ने "हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना" मे इसे विश्लेषित करते हुए लिखा हैं कि आधुनिक जीवन मे जबकि ईश्वर का लोप होता जा रहा है, गांवों में इन्ही देवी–देवताओं के रूप मे धार्मिकता शेष है।[1] प्रमुख आंचलिक उपन्यासकार राम दरश मिश्र की कृतियों में ग्रामीण निम्नवर्ग की देवी–देवताओं के प्रति उभरी आस्था का प्रामाणिक स्वरूप उद्धत है। पांडे पुरवा के मेले में देवी के पुजारी रामधन तेली आँख खोलकर एक बार सबकी ओर देखते है। फिर सांस को अन्दर की ओर खीच कर गले लगाते हुए एक बार जोर से चीखते है– 'हत देवी कहां सोह गई तू तोहरे दरसन खातिर एतनी भीड़ लगलि बा। और फिर वे झूमने लगते है। चारों ओर हाथ पांव मार रहे है। छाती पीट रहे है।[2] रामदरश मिश्र ने ग्रामीण निम्नवर्ग के परम्परित जड़ जीवन मूल्यों की वास्तविक व प्रामणिक मुद्रा का चित्रांकन किया है। देवी–देवताओं के प्रति भारतीय ग्रामीण जीवन में घुले वाह्याडम्बरों का रूपक अत्यन्त सजीव है। भाव और

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना : डॉ0 ज्ञान चन्द गुप्त , पृष्ठ–201
2. पानी के प्राचीर : राम दरश मिश्र, पृष्ठ–34

भाषा दोनों लोक जीवन की इस रीति–नीति की सशक्त अभिव्यक्ति करते है। कथाकार पात्रों से स्वीकृत होकर इनके सांस्कृतिक परिवेश का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

आदिवासी जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को उजागर करने वाली कृतियो में इनके देवी–देवताओं की पूजा अर्चना की विविध विधियों का बहुरंगी चित्र उपस्थित है। राजेन्द्र अवस्थी का "सूरज किरन की छांव" और "जंगल के फुल" में गोंड़ों की लोक संस्कृति का रंग निखरा है । इनके विशिष्ट देवी–देवताओं में प्रमुख है नारायन देव। वर्ष भर में एक बार गांव के सामूहिक कल्याण के लिये इनकी पूजा होती है। मैदान के मध्य भाग को साफ कर गोबर से लीपकर नरायन देव को अर्पित करने वाले सूअर को विधिवत अभिमंत्रित किया जाता है। गुनिया ने एक नारियल फोड़ा थोड़ी लांदा चढ़ाई और फिर जोर–जोर से मन्तर पढ़ने लगा। सूअर झूमने लगा। ओझा ने उचाट भरी। पीछे से एक जवान ने आकर मूसर से सुअर की पूंछ काट ली। पूंछ कटते ही नरायन देव की आत्मा सूअर पर उतर आयी। उसने फिर खूब चावल खाये। ओझा नें सूअर को सिन्दूर लगाया।[1] गर्म जल वाले गढ़े में ढ़केलने से निकली व्यथापूर्ण चीत्कारों को सुनकर गौड़ समाज हर्षित हो जात है। देवपूजा की इन विविध क्रियाओं में रूढ़िगत आस्था के क्रूर कृत्यों के मध्य अपनी आस्था का विशेष प्रभाव छोड़ने वाली जाति के समग्र परिवेश को प्रामाणिक संगतियों–विसंगतियों के साथ उपन्यासकार मूर्तित कर देता है। "जगल के फूल में गांव का गायता अंग्रेंज अफसर से कहता है कि सिरकार में बिमारियां का राजा है। सारी बिमारियों इसी के कहने पर चलती है।[2] गोड़ जीवन के सांस्कृतिक संस्पर्श की एक झलक देवेन्द्र सत्यार्थी के "रथ के पहिये" में भी प्राप्त होती है। इन कृतियों मे आदिवासी अर्द्धसम्य जनजातियो की गहरी आस्था, अवैज्ञानिक रीति–नीतियों और मृत्युपर्यन्त चलने वाली विश्वासधर्मिता को कृतिकारों ने बड़े मनोयोग से अंकित किया है। "कलावे में "भील कलावों के नागदेवता का प्रसंग इनकी सामयिक समस्याओं के निदानार्थ उभरता है। माल (एक अनाज की रोटी), मल्ली और शराब का मांग पाकर ढ़ाक और थाली के सुमधुर गायन वादन के परिवेश में नाग देवता की सवारी आने पर गिलहरी की भाँति फुकदते हुए बूढ़ा गमोती पूछता है कि "बोलो रे पालवाले मुझे क्यों बुलाया है।[3]" और ग्रामवासियों के काटर दुःख निवेदन के प्रसंग में उसकी भविष्यवाणियाँ गूजंती है। भैसों के अपहरण, जंगल पर लगी रोक, झरी के सुखते जल तथा घोड़ी की

---

1. सूरज किरन की छांव : राजेनद्र अवस्थी, पृष्ठ–90
2. जंगल के फूल : राजेनद्र अवस्थी, पृष्ठ–10
3. कलावे : जैसिंह, पृष्ठ–171

मृत्यु संदर्भ पर वांछित निदान प्रस्तुत करने वाली गमोती की वाणी में उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक पहलू को अत्यन्त कुशलता के साथ संगुम्फित कर देता है। स्वातंत्र्योत्तर देशकालिक अवस्था में सामन्ती प्रथा का छिन्नामूलित प्रारूप उन्हे सुदूर भविष्य में दिखाई पड़ता है। उपन्यासकार मीलों के इस आन्तरिक परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवेश में अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकित करता है। सांस्कृतिक परिवेश और देवता पूजन की मधुर अलंकृत करता है झांकी उभरती है, "सागर लहरे और मनुष्य में बरसोवा के मछलीमारों के सर्वप्रिय देवता खण्डाला। नारियल पूर्णिमा के अवसर पर इनकी पूजा का रोचक परिदृश्य उभरता हैं। नूतन वस्त्रालंकारों से विभूषित, देवी– विदेशी वाद्य यंत्रों के साथ सोनिंया महादेव के मंदिर से गुजरता जुलूस सजी–धजी नावों पर आरोहित होकर नृत्यगीत के मनोरम वातारण में सागर पूजन के लिए जाता है। रजत और सुनहरे पन्नो में लिपटे नारियल उन पर गुलाब और चम्पा के फूलों की मालायें अनुपम शोभा विकीर्ण करती है। " समुद्र के किनारे जाकर सबने नारियल चढ़ाये और खण्डाला देवता समुद्र की पूजा की । तट की धूल माथें में लगाकर आंखों और शरीर पर पानी छिड़क कर कोलियों ने अपनी–अपनी शक्ति के अनुसार रंग–बिरंगे नारियलों का प्रसाद चढ़ाया। और गाते–बजाते लौट आयें।[1] महानगरों के परिपार्श्व में प्राकृतिक जीवन के अभ्यस्त मछुआरों के सांस्कृतिक परिवेंश के चितात्मक रूपायन में कृतिकार ने इनकी परिष्कृत अभिरूचि का परिचय दिया है।

वृन्दावन लाल वर्मा ने "उदय किरण" और "कभी न कभी " में बुन्देल खण्डी लोक जीवन के मान्य कुल देवताओं के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा और आस्था स्पष्ट आलेखन किया है। "कभी न कभी " मे अंतरंग मैत्री के चिरस्थायित्व के लिये " भूमिका के चबूतरे पर लछमन ने नारियल और देवजू ने बताशे चढ़ाये और दोनो ने मुग्ध होकर खाये।[2] लोक जीवन के अन्यतम पाररवी रेणु ने "परती परिकथा" में जन जीवन के आस्था और विश्वास के केन्द्र बिन्दु चक्कर परती के परमादेव का प्रभावशाली चित्रण किया है। "परमादेव वैसे तो छोटी जाति वालों के देवता है।[3] किन्तु देव तो देव ही हैं अमंगल की आशंका निवारण हेतु तथा वांछित अभिलाषा की सिद्धि के लियें ग्रामीण निम्न और उच्च वर्ग किस प्रकार खोखले धार्मिक विश्वासों को बल देता है इसे रेणु ने पूर्णतः अनावृत कर दिया है।

---

1. सागर लहरें और मनुष्य : उदय शंकर भट्ट, पृष्ठ–152–153
2. कभीन कभी : वृन्दावन लाल वर्मा, पृष्ठ–23
3. परती परिकथा : फडिस्वर नाथ रेणू, पृष्ठ–88

स्वतंत्रतापरवर्ती उपन्यासकारों ने भारतीय जनजीवन में व्याप्त असंख्य देवी–देवताओं के अस्तित्व, उनके प्रति प्रबल जन आस्था तथा उनकी पूजा के नाना विधि–विधानों का विस्तार पूर्वक आलेखन प्रस्तुत किया है। कुलदेवता, स्थानीय देवता के अतिरिक्त विभिन्न वर्गों के अपने–अपने अलग–अलग देवी देवता लौकिक वांच्छा और परमार्थ प्राप्ति के लिए उद्धत लोकजीवन के अनेक प्रसंगं अन्यान्य कृतियों में उभरे हैं । 'कब तक पुकारूं' में सुखराम दारोगा से प्रतिशोध लेने के लिए चन्दन से 'चामड़ मैया' की पूजा करवाता है। 'मांटी के लोग सोने की नैया' में खाल में आशातीत मछलियों को देखकर निषाद जाति अपने कुल देवता (गढ़बैनाथ) की जय–जय कार करती है। वैज्ञानिक युग में संयंत्रों की सांस्कृतिक पूजा का उल्लेख भी आता है जब भोला मांझी 'सिन्नुर निठार' से गोसाई को ट्रैक्टर की पूजा करने के लिये कहता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय सर्वहारा समाज संस्कृति और धर्म के प्रबल सूत्रों से बंधकर आज भी अपनी अन्तस्थ आस्था और विश्वास को प्रकट कर रहा है जिसे उपन्यासकारों ने सहज और स्वाभाविकता के साथ कृतियों में उभारा है।

भारतीय सर्वहारा वर्ग में महाशक्ति और देवी देवताओं के प्रति अनन्त आस्था के उपरान्त भी भौतिक अभौतिक ईप्साओं की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की सेवा और साधनायें प्रचलित हैं । मनोभिलाषायें और उनकी प्राप्ति पर जड़ चेतना सभी के प्रति अभिव्यक्त होने वाली इनकी आस्था और विश्वास का प्रतिफलन स्वातंत्र्योत्तर कृतियों में हुआ है। सदियों से भारतीय जनास्था के केन्द्र बिन्दू वटवृक्ष को देवी अभिचेतना में मंडित कर उसके प्रति समर्पित साधना की नाना विधियों को नागार्जुन ने बड़ी कुशलता से बाबा वटेसर नाथ के माध्यम से उद्वृत किया है कि मनोरथ पूरा होने पर लोग आकर धूमधाम से मनौतियां चढ़ाते है । रेशम की झूलें, कोढ़िला के बने सिरमौर और मण्डप, जरी, गोटे की मालायें पीतल कांसे की घंटिया, लाल इकरंगे का टुकड़ा।................ धूप दीप, फूल–फल, अच्छत दूब और गंगा जल, बेल और तुलसी के पत्ते............ फर फरहरी, मिठाइयां, पकवान, पान, मखान................ढोल ठाक–पिपटी। बारह महीनों में बीस–पच्चीस बकरे भी बलि चढ़ते थे – मचलते मुण्डों और तड़पते धड़ों की खूनी पिचकारियों से मेरा सीना सुर्ख हो उठता था, रगों में बिजली दौड़ जाती थी, क्षणभर के लिये पत्तों का हिलना रूक जाता था।[1] वटवृक्ष का मानवीकृत रूप, नाना प्रकारीय

1. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन, पृष्ठ–61

साधना का यह सफल बिम्ब वीमत्स, लोमहर्षक और विचित्रतापूर्ण पद्धति का परिचय देते हुए कृतिकार की सूक्ष्म अन्तेषिणी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। श्री नागार्जुन ने स्वार्थ सिद्धि के लिये बलिकर्मों में प्रवृत पौराणिक मान्यताओं से जुड़े समाज की विभिन्न साधना मुद्रा को सक्षमता से अंकित किया है। स्थानीय और क्षेत्रीय देवताओं की साधना विधियां पूर्ण भिन्नत्व लिए हुए हैं। हिमांशु श्रीवास्तव ने 'नदी फिर बह चली' में अनन्य भक्ति भावना से सम्पृक्त होकर साधना की भिन्न नीतियों का उद्घाटन करने वाली मनोवृत्ति का अंकन साधु महतो के व्यक्तित्व में किया है। परबतिया के विवाहोपलक्ष्य में हरिहर नाथ के दर्शनों के लिए गया महतों इलायची दाने के खदोने और पांच आने पैसे को पुजारी द्वारा छूकर उठाले ने पर बटुली दूध उनके नाम पर ढरकाकर बिना दर्शन किये ही चला जाता है। आस्थाओं और विश्वासों की इस श्रृंखला में साधना की क्रियायें गौड़ और अन्तस्थ रागात्मक भावनाओं का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है।

पवित्र विश्वासों का समुच्चय धर्म भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है, स्वतंत्रता परवर्ती उपन्यासों में इसके अवमूल्यित स्वरूप का विश्लेषण करते हुए डॉ0 विवेकी राय ने लिखा है कि "इस युग में सर्वाधिक अवमूल्यन धर्म का हुआ है। कथा साहित्य में जिस रूप में यह चित्रित हुआ है, उसे देख कर लगता है कि गांव में धर्म, पाखण्ड, अथवा अंधविश्वास बनकर शेष रह गया, एक दम खोखला उसका सांस्कृतिक रस निचुड़ गया है। उसके केन्द्र भष्ट्राचार के अड्डे हो गये। रेणु और नागार्जुन ने इसका बहुत प्रभावशाली चित्रण किया है।"[1]

धर्म कि बिश्रृंखलता की परम्परा का आधुनिक साहित्यांकन बहुत कुछ संदर्भो में इस उक्ति को समर्थन देता है। किन्तु पाश्चात्य सभ्यता, नवीन वैज्ञानिक जीवन दर्शन और अति बौद्धिकता के युग में भी धर्म की विराट शक्तियों, धार्मिक अशक्तियों द्धारा निरन्तर प्रतिधाटित होने पर भी अपनी व्यापकता और उदात्तता को अक्षुण्य बनाये हुए है। डॉ0 ज्ञान चन्द्र गुप्त ने धर्म की प्रभविष्णुता को स्वीकारते हुए मानव धर्म की स्थापना को इस युग सर्वाधिक मूल्यवान धार्मिक उपलब्धि माना है। कतिपय उपन्यासकारों ने धर्म के मूल्यों के परिवर्तित स्वरूपों का उद्घाटन उपनी कृतियों के माध्यम से किया है। श्री नागार्जुन के बलचनमा का बालचन जहां धर्मभीरू और कर्मशील है। तथा बरम–बध से डरता है। उसकी माँ का स्वरूप नितान्त विलक्षण है, कृतिकार ने इस नारी के माध्यम

---

1. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहिव्य और ग्रामीण जीवन : डॉ0 विवेकी राय , पृष्ठ–242–243

से ईश्वर, धर्म और आस्था के प्रति प्रतिक्षण विघटित होती मानसिकता को अनावृत किया है। मुख्यतः धार्मिकता के सहिष्णु स्वरूप को ही प्रतिबिम्बित करने वाली रचना "सूरज किरण की छांव" की बंजारी अन्त तक धार्मिक मूल्यों से जुड़ी रहती है। चर्च की विशाल इमारत में "कही न कोई कोर थी, न झंडी और न त्रिशुल। हल्दी कू कू किसी को नहीं लगता था। वहॉ न बाजे बजते थें और न नाच होता था"।[1] ऐसी स्थिति में बंजारी की धार्मिक चेतना भ्रमित होने लगती है।

भारतीय ग्रामीण सर्वहारा में शाश्वत धर्म की मूल्यवता आज भी सुरक्षित है जिसे डॉ0 विवेकी राय ने "पुरूष पुराण" के दूखन में चित्रित किया है। ज्ञान और धर्म के एकाविन्त दृष्टिकोण का पोषक दूखन धर्मविरत लोगों को यम की भंयकर यातना से सचेत करता है। पोथी, पुराण, ईश्वर और सदाचार के माध्यम से इस संक्रमण वेला में भी वह धार्मिक मूल्यों को स्थायित्व प्रदान करता है।

धार्मिक विघटनशीलता का परम प्रभावी विश्लेषण रेणू, के "मैला आंचल" के संदर्भ में उभरता है। जहां धार्मिकता के केन्द्र व्यभिचारी स्थल में परिवर्तित हो चुके है। मेरीगंज के मठ में नेत्रहीन महंथ सेवादास पुत्री तुल्य लक्ष्मी को दासिन बनाकर रखता है। इस धवल, अमल, तरूणी को विकृति के पाप पंक के मध्य घसीटने वालों में लर सिंधादास महंथ रामदास है जिन्हे वह सतगुरू की वाणी संकल्पहीन बनाना चाहती है। असहाय लक्ष्मी को ये कामुक पशु निर्विघ्न स्नान भी नहीं करने देते है। लर सिंह दास बांस की टट्ती के छिद्र से देखता है तो सोती हुई लक्ष्मी को इनका नागा बाबा कहता हैं कि .... हरामजादी किवाड़ बन्द करके सोती है। यहॉ कौन सोया है? वहीं पिल्ला रम दसवा! ....अरे उठ, तेरी जात को मच्छर काटे। दासिन को जगा। बाबा का गांजा भरकर सेज पर सोई हुई है। कहां हैं मेरा गांजा ? जानता नहीं तीन भर रोज की खुराक हैं।"[2] धर्म ध्वजों का मुखौटा पहनने वाले लोगों में व्यक्तिगत जीवन का शब्द चित्र प्रस्तुत कर देता है। उपन्यासकार धर्म का स्वरूप कितना विद्रूप हो चला है, इसे नये महंथ की वाणी में देखा जा सकता है। जब लक्ष्मी से नैतिक सीमाओं के अतिक्रमण को मनचाही परिभाषा देता हुआ कहता है कि "कैसी गुरू माई"? तुम मठ की दासिनी हो, महंथ के मरने के बाद नये महंथ की दासी बनकर तुम्हे रहना होगा। तू मेरी दासिनी हो"।[3] लक्ष्मी कोठारिन की स्थानापन्न निम्न वर्गीया नई दासिन रमपियरिया मठ

---

1. सूरज किरन की छांव : राजेनद्र अवस्थी, पृष्ठ—23
2. मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणू, पृष्ठ—97
3. वही, पृष्ठ—142

के सांस्कृतिक और धार्मिक परिवेश को और अधिक घृणित बना देती है। हाथ की सभी उँगलीयों तक को ठीक से न गिन पाने वाली, गंधदोष वाले पदार्थो से स्वयं को विरत न रखने वाली दैनिक स्वच्छता से दूर "जो जूठे हाथों से बीजक उठाती है"।[1] ऐसी दासिन भला मठ की धार्मिकता को कैसे पहन कर पायेगीं।

सर्वहारा वर्गीय जनजीवन की धार्मिक संगतियों विसंगितयों को अन्यान्य उपन्यासकारों ने भी चित्रित किया है। जिनमें प्रमुख हैं नागार्जुन का "इमरतियाँ " धूमकेतू का " माटी की मंहक" डॉ0 विवेकी राय का पुरूष पुराण" उदयशंकर भट्ट का "सागर लहरें और मनुष्य राजेन्द्र अवस्थी का "जंगल के फूल और "सूरज किरन की छांव" आदि।

(ख) जीवन मूल्यता और सर्वहारा वर्ग का विन्यास :

आधुनिक विकासशील सभ्यता में भी भारतीय सर्वहारा समुदाय अपने परम्परागत सांस्कृतिक जीवन मूल्यों से जुड़ा हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारो ने इनका प्रभावपूर्ण अंकन किया है। नागार्जुन कृत "बलचनमा" में सर्वहारा नारी बलचनमा की माँ के अर्न्तमन की स्वाभाविक विभूतियां है आस्था और विश्वास। धर्म और संस्कृति के नियमन में पली यह नारी तब तक पारम्परिक जड़ मूल्यों को स्वीकारती रहती है जबतक उसके नैतिक आदर्शो पर कुठाराघात नहीं होता है। इसके सर्वथा विपरित बलचनमा धर्म और ईश्वर के प्रति आधुनिक मूल्यों सें संग्रहित है। ईश्वरेच्छा को शब्दाडम्बर माननेवाले बलचनमा और उसकी माँ के व्यक्तित्व की यह दूरी संभ्रमित जीवन मूल्यों का निदर्शन प्रस्तुत करती है। "नदी फिर बह चली" की परवतियां सनातन जीवन मूल्यों से अनुबन्धित ऐसे पति की पत्नी है जिसके समक्ष नैतिकता, धर्म और संस्कृति मूल्यहीन है। जीवन की विद्रूप अर्शहीनता में "उसे लगा जैसे उसके सपने टूट रहे है। – मन में आया जनकिया की माई ठीक कहती है। मगर दिल ने कहा नहीं मुझसे यह न होगा"।[2] उपन्यासकार मार्मिक परिस्थितियों के मध्य रखकर इस नारी को तौलता है। मनोवैज्ञानिक सीमाओं पर आकर ठिठकी किंकर्त्तव्य विमूढ़ा यह नारी अपने संचित आदर्शों और परम्परागत जीवन मूल्यों का पायेय लेकर अज्ञात कर्म पथ पर चल

1. वही, पृष्ठ–292
2. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–266

पड़ती है। आदर्शातिरिक में कहीं – कहीं उपन्यासकार ने इसका चरित्र अस्वाभाविक तत्वों से गठित करने का प्रयास किया है किन्तु समग्रतः परवतिया का व्यक्तित्व अपूर्ण सांस्कृतिक मूल्यवत्ता से अनुप्रमाणित होकर अभूत पर्व उपलब्धि प्राप्त करता है। जगदीश चन्द्र के "धरती धन न अपना" के ज्ञानों में परम्परागत मूल्य पर्यवसित हो गये है, किन्तु उसकी माँ जरसों परम्परागत जीवन मूल्यों की संरक्षा में अपने ही पुत्री को विषपान करा देती है। "परती परिकथा" में चित्रित सर्वहारा नारी ताजमनी का व्यक्तित्व जीवन्त सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों से संगुफित है। रागात्मक भावबोधों से जुड़ी ताजमनी के नेतृत्व में "सुन्नरि नैका" के कथावसर पर " तुलसी चौरे पर युगों बाद दीप जले। छोटा सा तुलसी का विरवा । इतने दीपों की रोशनी में उसके पत्र–पत्र पुलकित हुए"।[1] इसी कृति की दूसरी पात्रा मलारी में परम्परागत मूल्यों की कड़ी झनझना कर टूटती दृष्टि गोचर होती है।

"दुखमोचन" की परम्परागत मूल्यों को स्वीकार ने वाली हरखू की माँ अत्यन्त दीनभाव से सरकारी गेहूँ लौटाते हुए कहती है कि "यह मामूली गेहूँ नहीं है कि आसानी से हजम होगा। धरम का अनाज है मालिक"।[2] नागार्जुन को ग्रामीण जन–जीवन की सरल परिधि में रहने वालों की सीधी पहचान है। सीधे सरल आडम्बरहीन कलेवर में भी मार्मिकता की संयोजना करने में नागार्जुन सफल है। प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले कृतकारों ने आधुनिक मूल्यों से सम्पृक्त चरित्रों का चित्रण भी अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया है। "सागर लहरे और मनुष्य" की रत्ना परम्परागत मूल्यों से अधिक आधुनिक जीवन मूल्यों को अपनाने के लिए व्यग्र है।

"सोनभद्र की राधा" का गोविन पुरूष पात्र में अधुनातन मूल्यों से जुड़कर समाज में नया स्थान बना लेता है।" "लोहे के पंखे" का मंगरू नवीन मूल्यों की उपलाब्धि के लिए नगरोन्मुख हो जाता है। परम्परागत और आधुनिक जीवन मूल्यों के स्वीकार, नकार की इस टकराहत में नवीन द्वन्दशील स्थितियों का अभ्युदय सर्वहारा में हो रहा है "इसका चित्राकंन प्रमुख उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में किया है।

अशिक्षा और अज्ञान के अतिरेक में भ्रमपूर्ण स्थितियों को स्वीकारने वाला सर्वहारा वर्ग अंधविश्वासों से सहज ही ग्रस्त हो गया है। डॉ0 विवकी राय ने इसे परिमाणित करते हुए लिखा है कि "गांव का अर्थ है, विश्वास और शताब्दियों का विश्वास अंध काराविष्ट रहा अतः अन्धविश्वास होकर उसके साथ इस प्रकार जुड़ गया है कि

---

1. परती परिकथा : रणु पृष्ठ–139
2. दुखमोचन : नागार्जन, पृष्ठ – 52

अनिवार्य अंग हो गया है"।[1] सर्वहारा वर्ग के परिपेक्ष्य में यह और भी अधिक सटीक है। पूर्वाग्रही लोकमानस भ्रामक सत्यों सें जुड़कर हमारे लिए भले ही अंधविश्वासी हो किन्तु इनका समग्र जीवन इससे अनुप्राणित है। उपन्यासकारों ने इस स्थितियों का निरूपण मनोयोग से किया है। परम्परागत मूल्यों और पूर्वाग्रहों से ग्रस्त ग्रामीण सर्वहारा आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति अंधविश्वास से ग्रस्त होकर "बाबा बटेसर नाथ" में अपनी भावाभिव्यक्ति प्रस्तुत करता हैं कि शहरों के अन्दर यह जो अस्पताल खुल रहें है वे हिन्दुओं को भ्रष्ट करने के खिष्ट्रानी कारखानें है– गोमांस का अर्थ सूअर का लहू, विष्ठा का सत् आदमी की खोपड़ी का गूदा, विलायत से दवाये तैयार होकर आती है"।[2] गांवों में नूतन उपलब्धियों का भ्रमीकरण करके कितनी वीभत्स स्थिति उत्पन्न की जा सकती है इसे नागार्जुन ने निकटता से परखा है। बस्तुतः सर्वहारा समाज वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता से शीघ्र ही जन प्रवाह में बह कर अंधविश्वासों से भ्रमीकृत हो जाता है।

ग्रामीण निम्नवर्ग में प्रचलित अंधविश्वास का सघन और प्रामाणिक अंकन "नदी फिर बह चली" में हुआ है। विपत्ति की मारी परबतियां के ननिहाल आने पर आवभगत तो दूर बन्देला की औरत पुत्र के गले में दौड़कर हींग और लहसुन बांधकर पति से कहती है। कि "नहीं अभी मुझसें फरक रखो। धड़ला में पानी है। जरा पैंर पर ढ़रका कर फिर मेरे पास ले आना"।[3] उपन्यासकार अंधविश्वास ग्रस्त नारी समाज का भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रभावशाली चित्रण करता है। अंधविश्वास लौकिक सीमा तक ही नही व्याप्त है वरन् अलौकिक जगत तक विस्तीर्ण है। "परती परिकथा " की ताजमनी अपने प्रिय के मंगलार्थ मालकिन माँ से निवेदन करती है कि तुम्हारे गुरूदेव की ससमाधि की मांटी से मैने हवेली की चौहदीं बांध दी है तुम्हारे पुत्र का अकल्यान नहीं होगा।[4]

आदिवासी जनजीवन के आस्था और विश्वास की गहरी रेखाओं को उत्कीर्ण करने वाली रचना "कलावे" में घोड़ी के मर जाने पर भील समाज इस अंधविश्वास से ग्रस्त हो जाती है कि "गांव में घोड़ी मर गयी है इसलिए पानी नही बरसेगा।[5] " मैला आंचल का हीरू पार्वती की माँ को अपने अधंविश्वास मन की प्रतीति के लिये ही मार डालता है।

भारतीय लोक जीवन और संस्कृति में रूढ़ियों का महत्वपूर्ण योगदान है। लोक रीतियों ही भविष्य में रूढ़ियों का स्थान ग्रहण कर लेती है। स्वातंत्रयोत्तर उपन्यासकारों

---

1. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहिव्य और ग्रामीण जीवन : डॉ0 विवेकी राय , पृष्ठ–139
2. बाबा बटेसर नाथः नागार्जुन, पृष्ठ–81
3. नदी फिर बह चली : हिमांसु श्रीवास्तव, पृष्ठ–23
4. परती परिकथा : रेणु, पृष्ठ – 69
5. कलावे : जयसिंह, पृष्ठ – 112

ने पूर्वाग्रह और रूढ़ि से एकीभूत हुए सर्वहारा समाज का वस्तुपरक स्वाभाविक चित्रण उपन्यस्त किया है "बबूल" का धुरबिन धार्मिक रूढ़ियों से ग्रस्त सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है। जो अपना परिचय इस प्रकार देता है कि मालिक हम तो आपके पैर की जूती हैं जाति के अछोप और करम के हीन है। आपके चरण की धूर बुहारते पीढ़ियां गल गयी।[1] अवचेतन में स्वयं के प्रति हीनत्व की रूढ़ भावना स्वातंत्र्योत्त्यर परिवेश में सम्बैधानिक समानता पाकर भी रूढ़िमुक्त होने में असमर्थ है। जिसे उपन्यासकार इस कथन में समीक्षित करता है। उपन्यासकार के "पुरूष पुराण" का दूखन संस्कारों और कढ़ियों को तोड़ने वाली अपनी ही पुत्रबधू के हाथों में चूड़ा और नाक में झुलनी देखकर महाभारत खड़ाकर देता है। कि "कहां पर किस पोथी में लिखा है कि कुम्हार की जनाना का झुलनी और चुड़ियां पहननी चाहिए"।[2] रूढ़ियुक्त और रूढ़ियुक्त पीढ़ी की इस द्विधा ग्रस्त स्थिति का चेतना उनके प्रसंगो में उभरती है। "अलग–अलग वैतरणी' में स्वामी और सेवक के सम्बन्धों के मध्य की रूढ़ि में आबद्ध भारतीय निम्नवर्ग अपने वैचारिक सत्योद्घाटन में कितना अक्षम है। अपने ही वर्ग द्वारा शोषण स्वामी की अभ्यर्सना के लिए किसुन टिटकारा जाता है। कि " उठकर जाओं किसुन और मलिकार से मॉफी मांग लो। ऐसे औघेड़ दानी स्वामी भाग्य से मिलते है"।[1] प्रस्तुत कथा के माध्यम से उपन्यासकार ने समग्र सर्वहारा वर्ग रूढ़िग्रस्त मानसिकता का प्रतिबिम्बन किया है।

अंधविश्वास और रूढ़ियों के अतिरिक्त सर्वहारा जीवन को विषण्ण बनाने में प्रेत–भूत और तन्त्र–मन्त्र साधना का भी प्राधान्य है। जिसकी अनिवार्य अभिव्यंजना स्वातंत्र्योत्तर कृतियों में प्राप्त होती है। मनहर चौहान के "हिरन सांवरी" की हिरना भूत प्रेतादि कल्पनाओं के कारण मानसिक और शारीरिक स्तर पर रूग्ण होती है तो गांव वेंगे (ओझा) मिर्चो की ऐसी तीक्ष्ण घूनी देता है कि वह सत्ताहीन हो जाती है। "बाबा बटेसर नाथ " में निम्नवर्गीय महू ड़ोमड़ा कुलीन व्यक्तित्व वाला प्रतीत होता हैं। और तंत्र –मंत्र के असाधारण क्रिया कलापों से जनसाधारण को मंत्रमुग्ध करने की क्षमता र,खता है। वह कर्ण पिशाची चुड़ैल, बह्म को औ ऽ ऽ ऽ ऽ अलख निरंजन भग सा ऽ ऽ ऽ ले ऽ ऽ ऽ ।"[3] की उंची आवाज से और कंकाली माई के लिए एक बकरा और पॉच बोतल दारू की तलब करके भगा देता[4] है।" भूत प्रेतादि का आवलम्बन लेकर यौन विकृतियों का रहस्योद्घाटन 'बलचनमा" की सुखिया के प्रसंग में होता है। अतृप्त कामेच्छा वाली यह

---

1. बबूल : डॉ0 विवेकी राय , पृष्ठ–19
2. पुरूष पुराण : डॉ0 विवेकी राय , पृष्ठ–20
3. अलग–अलग वैतरणी : शिव प्रसाद सिंह, पृष्ठ–600
4. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन , पृष्ठ–74

नारी कोचा खोलकर नंगी हो जाती है और हाय बाप, हाय बाप करती हुई जीभ निकालती है बोलती ही ही ही ही मैं काली हूँ, पोखर पर जो बौना पीपल है उसी पर रहती हूँ। खा जाऊंगी समूचा गांव"।[1]

उपचारकर्त्ता दामों "ठाकुर" ओम काली–काली महाकाली इन्द्र की बेटी बढ़या की साली फूं............. के मंत्र शक्ति से बन्द कमरे में सुखिया का भूत भगाकर स्वेद कणों से लथपथ राह कहते हुए निकलते है कि बड़ा जबरदस्त भूत था– मुश्किल से काबू में आया। " उपन्यासकार निम्न वर्गीय जीवन की इस आंतरिक विसंगति का तथ्यात्मक और चाक्षुण अनुभूतिजन्य विवरण प्रस्तुत करता है, भूतप्रेतों की इस व्याधि से अधिकांशतः निम्न सर्वहारा वर्ग ही ग्रस्त होता चित्रित है। उपन्यासों में "नदी फिर बह चली" में परवतिया की माँ के गर्भिणी मरने पर उस प्रवेश की स्त्रियां कहती है, बिना–पानी कुए मरी है........ फिर वह तो चुड़इन हो जायेगी। इसके तो दोनों तलवों में सुआ ठोकना होगा। नही तो फिर खतरा करेगी वस्तुस्थिति की वैज्ञानिक सत्यता से अनभिज्ञ सर्वहारा समाज भूत प्रेतों से अज्ञात रूप से ग्रस्त हो जाता है। उपन्यासकारों ने भाव और भाषा के सहज सम्बल से ग्रामीण निम्नवर्ग की चित्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक और समय सापेक्ष विश्लेषण प्रस्तुत किया है भूत– प्रेतादि[2] और तंत्र मंत्र की धारणा से अनुस्यूत सर्वहारा का चित्रण" धरती धन न अपना" में चाची प्रतापी के संदर्भ में अंकित है। प्रतापी की मरणासन्नावस्था में झाड़ फूंक में माहिर रक्खे घेवर को बुलाया जाता है जो रूग्णता का रहस्य प्रेतबाधा बतलाते हुए कहता है कि नई इमारत से भूतों को निकाले बिना वास नहीं करना चाहिए"।[3] न्यास के एवज में रक्खा भूत भगाई का परिश्रमिक सवा रूपया लेकर चला जाता है। प्रतापी की स्वाभाविक मृत्यु पर भी निहाली का यह कहना कि "भूत आता है तो तंग करता है और जाता है तो जान सूली पर चढ़ा देता है"।[4] इस समाज के आन्तरिक स्तर पर संघटित होने वाली धारणाओं को अभिव्यक्त करता है।

भूत प्रेतादि और तंत्र मंत्र साधना का अतीत सजीवता "बबूल" में उपलब्ध है। सर्वहारा वर्गीय जनजीवन की मार्मिक परिस्थितियों में उत्पन्न अंधविश्वास और प्रेत बाबा की भयपूर्ण भावना कितनी विरूपस्थिति ग्रहण कर लेती है इसका प्रामाणिक चित्रण इन अंश में अनाहत है। पिता माँ और पत्नी की मृत्यु श्रृंखला की कड़ियों को भूत–प्रेत में गूथने वाले महेश राम के पूछने पर कि "बाबा तनिक बताइये न, गरीब पर कौन सी

---

1. बलचनमा : नागार्जुन, पृष्ठ–30
2. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–16
3. धरती धन न अपना : जगदीश चन्द, पृष्ठ–204
4. वही, पृष्ठ–204

हवा वही है? सोखा दाँत किट किटा कर कहता है "चलरे भगवती। अरे चाण्डालिन कहां देर लगा रही है? हाकिनी, डाकिनी, शाकिनी, पिशाचिनी भूत प्रेत बैताल, नदी पर नाव परताल में, पेड़ पर, धर में, आंगन में ओ, ओ, ओ, चल। जल्दी चल हुं हुं हुं ...."।[1] गांव के ओझा सोखा इन निरीह लोगों के समक्ष कितनी बड़ी मांग रखते हूँ, जिसके पूर्ति की कल्पना वे स्वप्न में भी नहीं कर सकते । हाथ जोड़कर आगे बैठे महेसवा को डांटते हुए सोखा कहता है "अभी खाली हाथ बैठा है, लुच्चा कहीं का? ला एक मन सिन्दूर, आधा मन गांजा, पच्चीस बोतल दारू, तीस सेर कपूर, पांच परेरी सुर्ती ढाई मन दूध और............ अन्ततः नाक रगड़ने भूत भगाई "एक बोतल दारू और पांच भर गांजा पर तै हुआ"।[2] डॉ0 विवेकी राय ने पूर्वांचली सर्वहारा जीवन के प्रसंगों का इतना सूक्ष्म सजीव और संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत किया है कि इनका सम्पूर्ण परिवेश चित्रवत उभर आता है। भाषा की गत्वरता और भावों की सघनता अनूठी है।

अशिक्षा और अज्ञानग्रस्त सर्वहारा समाज का परिवेश सांस्कृतिक मूर्खताओं से रहित नहीं है। अवर्षण के भीषण प्रकोप की शांति के लिए रूपवली ग्राम के 'दो जवान भाव खेलते-खेलते लहू-लुहान होकर गिर पड़े थे"।[3] अंधविश्वास सांस्कृतिक मूर्खताओं की पृष्ठभूमि है। "कब तक पुकारू" में चंदन अंधविश्वास ग्रस्त सुखराम को सहज ही वंचित करता है। चोरी द्वारा लाई गई धनराशी को हस्तगत कर चामड़ मैया की पूजा का उपक्रम करने वाला चंदन ग्रामीणों के दूरस्थ कोलाहल से भयभीत होकर भागने लगता हैं। सुखराम की संस्कृति मूर्खता से लाभान्वित चंदन कुशलता पूर्वक यह कहकर कि "देवी को मंजूर नहीं । विघ्न पड़ गया"।[4] अपनी स्वार्थ सिद्धि कर लेता है।

(ग) विवाह संस्था की मान्यताएँ

भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण संस्था विवाह है जो नारी और पुरूष के मध्य सनातन सम्बन्धों के रूप में अवस्थित हैं। आधुनिक उपन्यास साहित्य के विशाल कलेवर में इस संस्था का विधिवत रूपांकन अभिजात और सर्वहारा वर्ग के परिप्रेक्ष्य में हुआ हैं। किन्तु इस संस्था का अविकृत सहज रूप यदि कही अपनी नैसर्गिकता में सुरक्षित है तो वह सर्वहारा वर्ग में ही। अभिजात और कुलीन संस्कृति में आर्थिक व्यवसाय और कृत्रिम

---

1. बबूल : डॉ0 विवेकी राय , पृष्ठ–71
2. वही पृष्ठ–71
3. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन, पृष्ठ–54
4. कब तक पुकारूं रांगेय राघव, पृष्ठ–436

विडम्बनाओं के साथ स्वीकारी जाने वाली यह संस्था आज नाना विसंगतियों का केन्द्र स्थल बन नर–नारी के चिरन्तन राग–बोध के विकास के स्थान पर कृत्रिमता और क्रय विक्रय का आधार प्रस्तुत कर रही है। किन्तु अंकुलीन सर्वहारा में आज भी यह सहज मानवीय बोधों पर आधृत है। ग्रामपंथी परिवेश को रूपायित करने वाली कृतियों मे इस संस्था की मुख्यतः विभिन्न कोणो से संश्लेषित – विश्लेषित किया गया है। नागार्जुन कृत "बलचनमा" में ऐश्वर्यहीन निम्न वर्ग के इस सांस्कृतिक महोत्सव की एक झलक मिलती है। " सिंगा बजाने वालों का नजारा कभी भी नहीं भूलेगा। बड़े मालिक के यहा से पालकी मंगनी की गई थी । वनेर के फूल से थोड़ा बहुत सजाकर मुसे उस पर बैठाया गया बरात में दस–बारह जने गये थें । पीले रंग की धोती धारीदार हरा सा कुर्ता माथे पर जरी सी गोटे वाली टोपी। पैर खाली"।[1] अल्पायु में विवाह और के शोर्य में द्विरागमन की इनकी विशेष रीति है। गौने में आयी बलचनमा बधू का निरलंकृत सहज सौदर्य मुग्धकारी है। पीली साड़ी, लाल चोली जावक रंजित चरण युगल और आंचल में सौभाग्यवर्धक समग्री धान–दूब, पान सुपारी में इन धरती पुत्रों का निसर्ग जीवन क्रम अभिव्यंजित है। जीवन की रागरुण बेला में अभाव कम नहीं, हृदय का तरल राग पुआल की सेज पर भी मधुरिमा बिखेरता है। नागार्जुन ने मानवीय भावनाओं का संश्लिष्ट चित्र बलचनमा और उसकी बधू के प्रणय प्रसंग में नितान्त स्वाभाविकता से प्रस्तुत किया है। मूक संदर्भो में भी जीवन का सहल राग स्वयमेव मूर्तवन्त हो गया है। ऐसा ही मधुर चित्र उभरा है "बबूल " के महेश राम के विवाह संदर्भ में । अभिजात और निम्न संस्कृति का एक ही अवसर पर समानान्तर चित्रण उपलब्ध है। चार वर्षीय अबोध बालक की विवाह वेला में "उसे पीली धोती और लाल रंग का कुर्ता पहना दिया गया। आंखो में कागज डटा दिया गया, गले में एक सोने की गुल्ली पहना दी गई। " ...." बधू के लिए एक कुर्ती और साड़ी खरीदी गयी। सिंधोरा ताग – पाट, सिन्दूर, धूप मसाल आदि का बाजार पांच रूपये मे हुआ"।[2] अलंकारों के नाम पर गहनों के रूप में पांच माठी (गिलट की चुड़िया) खरीदी गई। बीस आने पैसे खर्च हुये। यही असली सुहाग था" ।[3] अल्पायु में बाल–विवाह की इस प्रथा में महेश राम के सोने पर गुड़ देकर कनिया लाने को लोभ दिखाकर चुप कराया जाता है। बीस पैसों मे सम्पन्न होने वाला विवाह अभिजात वर्ग की व्ययसाध्य व्यवस्था से कितनी भिन्नता रखता है सहज द्रष्टव्य

1. बलचनमा : नागार्जुन , पृष्ठ–113
2. बबूल डॉ विवेकी राय, पृष्ठ–65
5. वही, पृष्ठ–63

है। अज्ञानावस्था में हुए विवाह की अनेक कमियों को उसका गौना पूरा कर देता हैं। पैरों में झलकता जानक, लाल चादर में लिपटी मन्दगामिनी नववधू, उन्मुक्त कामनओं से तंरगित महेश पीछे उलट कर देखता है तो "लाल चादर के रंगीन जल के भीतर काजल की नाव में तैरती दो मछलीयां झलक जाती है"।[1] उपन्यासकार प्रकृति के क्रोण में पल–पल जीवन रस का आस्वादन करने वाले मुक्तकामी निर्वन्धों के जीवन का सफल बिम्ब उत्कृष्ट करता है जहां बन्द पालकी में झपकी लेने वाले वर के स्थान पर

खुशियों से छलकते दूलहे का ह्यस, उल्लास विभिन्न मुद्राओं में अभिनर्तित होता रहता है। तपती धूप की गुलाबी तरावत अनुभूत करने वाली नवबधू और वर का यह परिवेश चित्र आज भी अपने सहज सरल अकृतिम रूप में गांव के सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। कृतिकार ग्राम्य सर्वहारा जीवन का काव्यात्मक व्याख्याकार बनकर इन स्थालों का अनुभूत्यात्मक संजीव और मार्मिक चित्रण करता है। विम्वों की इस अपूर्ण संयोजन में लोक जीवन के अकूते सन्दर्भो को उद्घाटित करके उपन्यासकार अपनी मौलिकता का नया यथार्थ प्रस्तुत करता है। प्रमुख आंचलिक कृति "नदी फिर वह चली " में उपन्यासक प्रारम्भ ही इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के साथ होता है। पीले रंग की धोती, गुलाबी कुर्ता कन्धे पर चादर लिये जगलाल के साथ अवगुन्ठनवर्ती "परबतिया" की मांग सेनुर से भरी हुई उस पर सोने का मंगाटिका। दोनों हाथों में भर–भर कर लहठी । उस पर से कगना और पहुँची। गले में हैकल, पांव में काड़ा – काड़ा दोनों पांव की उगुलियों में पांच पांच विछियां [2] अंलकरणों की मधुर झंकार के साथ आन्तरिक भावों की मधुरिम अभिव्यक्ति भी इस अवसर पर उपन्यासकार ने दी है। ग्रामीण निम्न वर्ग की आन्तरिकता और कपायित करने वाले ये संदर्भ इनकी सांस्कृति के बहु मूल्य आधार है। इस पुनीत और मांगलिक सम्बन्ध के श्वेत और श्याम पक्ष की संगतियों विसंगतियों का भी चित्रण उपन्यासकारों ने किया है। अभिजात संस्कृति के विपरित, पुनर्विवाह, बाल विवाह आदि की विकृत अवस्था के प्रतिचित्र भी उभरे है।

"नदी फिर बह चली" में पूर्व पत्नी की मृत्यु के उपरान्त साधु महंतो की दूसरी पत्नी परबतिया की विमाता सुगिया, पिता पुत्री के जीवन को नरक तुल्य बना देती है। पिता द्वारा पुत्री को घर बुलाने की बात पर नितान्त अशोभनीय भाषा में कहती है, " बुला न लो मेरी सउतिन को, मुझसे क्या पूछते हो?[3] बाल विवाह की समस्या "लोहे के

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–16
2. वही, पृष्ठ– 207
3. लोहे के पंख : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–47

पंख " में अपने पूर्ण यथार्थ के साथ उपस्थित है। हरिजन छकौड़ी की पुत्री के विवाह पर झगडू गम्भीरता दर्शाता हुआ कहता है कि 'दस ग्यारह बरस की बेटी विना व्याह के? अब तक तो उसका गौना हुआ रहता ।" सर्वहारा जीवन आज भी सहज मानवीयता से अनूस्यूत है। उच्चवर्ग की मानसिकता के विपरीत इनके रीत–रिवाज भी भिन्न है। विधवा विवाह, दहेज प्रथा जैसी समस्याये इनके समाज में नहीं है। "बबूल" की दरपनी यदि पुत्र के प्रति अमार मोह से नरेश का प्रस्ताव ठुकरा देती हैं तो वहीं पलकी अपने निराश्रित अरिक्षत जीवन के लिये विद्युर महेश राम से पुनर्विवाह कर लेती है। निम्नवर्ग का अभिजातों द्धारा चतुर्दिक शोषण यौनाचार की अनेकों विकृतियों को जन्म देता है। कहीं आर्थिक और सामाजिक सुविधा भोग की ललक में यें स्वयं असंगतियों का वरण करते दृष्टिगत होता है। आंचलिक उपन्यासों में यौनपरक संगतियों असंगतियों का प्रभूत चित्रण हुआ है।

नगर सभ्यता, सामाजिक बदलाव और आर्थिक अभावों ने इस वर्ग की नैतिकता को पर्याप्त प्रभावित किया है। सवर्ण–असवर्ण उँच–नीच की विभाजक रेखाओं में बँटा समाज इस क्षेत्र में कितनी विडम्बनायें खड़ी करता है। इसका प्रामाणिक और यथार्थ चित्रण रामदरश मिश्र के उपन्यासों "जल टूटता हुआ" और "पानी के प्राचीर" में हुआ है। "जल टूटता हुआ में ब्राह्मण कन्या पार्वती अपनें हलवाहें हरिया के साथ काम–कली करती है और यौनाकर्षण में बधी यह तरूणी उसके साथ अंधेरे में भागने का प्रयास असफल देखकर चीखते हुए कहती है, छोड़–छोड़ अभागे, नहीं तो मै, तेरी जान ले लूंगी, कमी ने मुझे कुछ ऐसा वैसा समझता है क्या'?[1] सारा अभिजात वर्ग सत्यता से अनभिज्ञ होकर हरिया की पिटाई करता है। प्रतिवाद शून्य हंरिया की ओर से उसकी बहन लवंगी की आक्रोश भरी वाणी से फूटती हैं इन ऊचे लोगों का शोषण सन्दर्भ ? क्या हुआ अगर मेरे भाई ने एक वामन लड़की से भला बुरा किया? चमार का खून खून नहीं है? वामन का ही खून,खून है। हमारी कोई इज्जत नहीं होती क्या, वामनों की ही इज्जत होती है? अपनी जाति के नेता जग्गू को चुनौती भरे स्वरों में ललकारे वाली यह नारी कहती है, जब चमरोटी की तमाम लड़कियों पैरये बाबा लोग हाथ साफ करते है तो कोई परलय नही आती और कोई चमार वामन की लड़की को छू दे तो परलय आ जाती है।[2] असहाय उपेक्षित और दीन वर्ग की इस सत्यभिव्यक्ति पर आंवाजें उभरती है।

---

1. जल टूटता हुआ : राम दरस मिश्र , पृष्ठ–35
2. वही, पृष्ठ–353–354

चुप रह "हरजाई" उपन्यासकार इनकी मार्मिक व्यथा का शब्द चित्र उकेरता है, उनके प्रसंगों में बदमी और कुंज के प्रेम में धराशायी होती वर्ण व्यवस्था, नयी चेतना की स्वीकृति का परिणाम है। "पानी के प्रचीर" की बिन्दिया चमाइन भी लवंगी का ही प्रतिरूप है, जो गांव के उच्चवर्ग की वास्नाग्नि का मर्म पहचानती है। सारा गांव उसके रूपज्वाला में जलता है। और वह इन अपधातियों को अपने शब्दों में प्रताड़ित करते हुए कहती है......... "अधेरे में उसे चूसकर ये बामन लोग उजाले में पंडित बने घूमेगे और उसकी छाया से भी बचने का ढ़ोग रचेगे .... रात में विष्टा तक खा लेगे और दिन को आठों पर पान की पीक पोतकर महकने की कोशिश करेगे।[1] रामदरश मिश्र की रचनाओं में निम्न वर्गीय जीवन का चतुष्कोणीय शोषण ही नही उभरता है बरन इनकी नारी पात्र में विलक्षण अभिनव चेतना का प्रस्फुटन भी अमानुषिकताओं के विरूद्ध उभरता है। सत्य को स्वीकारना इनका नियति है। वदमी की प्रगतिशीलता से प्रामाणिकता कम लेखकीय आक्रोश ही अधिक है। भारतीय ग्रामीण सर्वहारा को यत्किंचित अवलम्बन देने में भी अपनी अवमानमा समझाने वाले सवर्ण समुदाय में इतनी नैतिकता कहां जो इस कठोर सत्य को सहर्ष स्वीकार कर लें। धार्मिक अनुष्ठान और सांस्कृति केन्द्र में पनपते व्यभिचार का परिदृश्य "सूखता हुआ तालाब" में साकार है। जहॉ निर्धन हरिजन कन्या चेनइया का अस्मत धर्मेन्द्र और दयाल जैसे नररक्षित लूट लेते हैं और प्रत्यक्ष रूप से चेनइया के भाई द्वारा प्रसाद छू लेने पर थप्पड़ मार कर अपनी धार्मिकता का परिचय देते है इस व्यंग्यात्मक संदर्भ के द्वारा उपन्यासकार सवर्णो–असवर्णों के मध्य के अन्तराल का उद्घाटन करता है।

यें अनैतिक यौन संदर्भ जातीय संघर्ष की पृष्ठभूमि का निर्माण भी कर रहे है। भैरव प्रसाद गुप्त ने "सती मैया का चौरा" में इसका सजीव और पारदर्शी अंकन किया है। दिन दहाड़े तेलियाने से गुजरती कमसिन कुंवारी कैलरिया का शील हरण जब नन्दराम का पुत्र किशन कर लेता हैं तो सारी चमार टोली की आंखों में खून खौलने लगता है। लज्जा से गठरी बनी पुत्री के प्रति न्यायाधिकार पाने के स्थान पर चौकीदार की कूटनीति पर प्रहार करती उसकी माँ करूण हो उसके मुंह पर थूक कर कहती है जा जा, महाजन ने तेरे लिए चह बच्चा खोल रखा है। हरामी कही का। भगवान करे तेरे बेटी का भी मुंह काला हो। तू उफ्फर पड़े। तेरी आंखों में माड़ा पडे, जो तू देखकर भी नही देखता । तेरी इस पगड़ी में आग लगें।[2]......... 'तीक्ष्ण संवेदनशील आंचलिक

---

1. पानी के प्राचीर : राम दरश मिश्र, पृष्ठ–50
2. सत्ती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त पृष्ठ –53–54

भाषा में लूटी हुई नारी की यह अन्तर्वेदना हृदयद्रावी है। रंग से काली किन्तु नशशिख से अजन्ता की चित्रित रमणी की तरह सुन्दरी बसमतिया से गांव का प्रगतिशील कहलाने वाला मन्ने अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस सत्यता को अल्हण बसमतिया मन्ने की पत्नी के सम्मुख व्यक्तकर इस सत्यता को अल्हण बसमतियां मन्ने की पत्नी के सम्मुख व्यक्तकर पिटती है तो उसकी माँ मन्ने को धिक्कारने साथ अधिकार प्रयोग की धमकी भी देती है किन्तु बसमतिया अपना सर्वस्व लुटाकर केवल इतना ही कह पाती है कि "जिसके लिए हमने घर छोड़ा भतार छोड़ा, धरम छोड़ा, तुरूक के मुंह से मुंह सटाया वही आज कहता है.........राम...........राम"।[1] अपनी असमर्थ अवस्था पर करूण क्रन्दन करने वाली ये हतभागिनी नारियां कितना अन्तर्दाह और पीड़ायें सहती है। इसे इन सम्बन्धों की गहराई से माना जा सकता है। उपन्यासकारों ने सर्वहारा जीवन में उभरती अभिनय संचेतना का उभार सर्वाधिक शोषित नारियों के प्रसंग में ही चित्रित किया है। इस वर्ग का पुरूष मूक द्रष्टता की भांति आज भी यथास्थितिशील रह कर अन्याय और उत्पीड़न की नियति स्वीकार रहा है किन्तु नारी चिर विद्रोहिणी बन कर अपनी रक्षा के लिए सन्नद्ध हो उठी है। राही मासूम रजा के "आधा गांव" मे शिया सुन्नी का पारस्परिक भेद मानते हुए भी नीच जाति की स्त्रियों को दोनों प्रकार के मुसलमान अपने – अपने घरों में रखते है और अपना दम्म पालते है"।[2] नीच जाति की मेहकनिया, सेफुनिया, झगरिया बो, बछनिया आदि सर्वहारा नारियां जमीदारों द्वारा नैतिक स्तर पर शोषित होती है। पंजाब प्रान्त के निम्न वर्गीय जीवन पर आधृत कृति "धरती धन न अपना" लच्छों झोली भर सिट्टों के बदले अपना नारीत्व हरदेव चौधरी को सौप आती है तो उसकी पत्नी उन्हें भी लेती है सूखी रोटियों से बदलकर ।

रेणु के "परती परिकथा" की मलारी और सुवंश तथाा जितन और नहिन कन्या ताजमनी के यौन संदर्भ आधुनिक शिक्षा और सभ्यता से प्रभावित होकर नवीन मूल्यों की स्थापना करते है। अन्यथा सभी स्थलों पर निम्नवर्ग की नैतिकता को स्थापना करते है। अन्यथा सभी स्थलों पर निम्नवर्ग की नैतिकता को विखण्डित करता उच्चवर्ग सभी उच्चवर्ग इनके सांस्कृतिक, धार्मिक और नैतिक जीवन मूल्यों को धराशायी कर रहा हैं। "माटी की महक" की गुलटेन की पुत्री इंजेरिया जैसे नारियों भ्रष्ट होकर कालान्तर में अनैतिक सम्बन्धों की कड़ियां स्वयं भी जोड़ने लगती है।

---

1. सत्ती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त पृष्ठ –572
2. आंचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प : ज्ञान चन्द गुप्त, पृष्ठ–67

अर्द्ध सभ्य जनजातियों की सांस्कृतिक, धार्मिक और नैतिक मूल्यवत्ता भी सभ्य और उच्च वर्ण के संसर्ग में आकर टूटती दिखाई पड़ती है। जरायम पेशा नट जाति का समग्र परिवेश नैतिक बोध से हीन है। जिसे लक्ष्य कर डॉ0 ज्ञानचन्द गुप्त ने लिखा हैं कि नैतिक अनैतिक बोध से हीन इनकी स्त्रियों का हाल भूखी गाय भैसों जैसा है जो मानवीय एवं सामाजिक दृष्टि से कितने शोषित है ये लोग जिन्हें नांद और अपनी स्त्रियों को भी दूसरे को देना पड़ता है। किसी भी नांद और खेत में मुंह भार लेती है। वस्तुतः पेट की आग या सम्बृद्ध वर्ग का उत्पीड़न ही इनकी अनैतिकता का कारण है।[1] उच्चवर्ग का उत्पीड़न और इनकी बुभुक्षा के अतिरिक्त भी शिक्षा और संस्कृति की हीनतम परिधि में रहने वाला यह समाज सदियों से घोर अज्ञान में जड़ी भूत हो गया है।

(घ) आधुनिक बोध गम्यता :

पाश्चात्य जीवन दर्शन, विज्ञानजन्य भौतिक उपलब्धियों की परिर्वतनकारी स्थितियों ने भारतीय सर्वहारा वर्ग को प्रभावित किया है। सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक, सांस्कृतिक सीमाओं में प्रविष्टि आधुनिकता ने समाज के सांस्कृतिक मूल्यों में अभूतपूर्व परिवर्तन किया है। सदियों की समाज नियामक नीतियां नगर–परिवेश में बहुत कुछ आमूल चूल हुई है। किन्तु चिरन्तन मूल्यों की श्रृंखला अभी गांवों में पूरी तरह टूट नही पाई है। धर्म संस्कृति और दर्शन के क्षेत्र में नगर सर्वहारा आज नई मान्यताओं को अपनाने में जरा भी हितकिचाहत नहीं अभिव्यक्त करता है किन्तु ग्रामीण जन जीवन परम्परागत संस्कृति के प्रति विश्वस्त अधिक अविश्वस्त कम है।

स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों ने इस युग धर्म का व्यापक चित्रांकन विभिन्न उपन्यासों में किया है। नगर जीवन की समग्र विरूपताओं का आलेखन करने वाली जयवन्त दलवी की कृति "घुन लगी बस्तियां "का समस्त परिवेश महानगरीय सभ्यता से आक्रांत होकर उच्च और कुलीन संस्कृति के समानान्तर चलने वाली अभिशप्त नियमित सर्वहारा संस्कृति के नितान्त हेय जीवन चित्रों की मार्मिक अभिव्यक्ति करती है। अंकिचन श्रमिकों और निरूपाय आजीविका विहीनों के हित चिन्तन का ड़का पीटने वाली शासन व्यवस्था, विशाल योजनाओं के मध्य इनके सुधार का भी भविष्य की कोई रूपरेखा नही प्रस्तुत करती। फलतः दैनिक जीवन के आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए असंवैधानिकता का

---

1. आंचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प : ज्ञान चन्द गुप्त, पृष्ठ–61–62

अधिकार ग्रहण कर अवैध शराब, चोरी, छुरेबाजी और घृणित यौनाचार इनका जीवन दर्शन बन जाता है। कृति में वर्ग विशेष का नैतिक स्तर पर उड़ता नग्न यथार्थ पवित्र मूल्यों की धज्जियां उड़ा देता है। आधुनिक सभ्यता पदाघात से विखण्ड़ित मानवता की झलक लूका के इस कथन में प्राप्त होती है जब पुत्र की आयु वाले वेन्वा के समक्ष वह वेश्या सुन्द्रा को होथों पर निर्वस्त्र उठाकर पूछता है। कि ऐ मड़वे देख कैसा माल हाय हाथ लगायेगा [1] ? इसी लूका के साथ झोपड़ी में सोई माँ की स्थिति की कल्पना करने वाला वेन्वा सोचता है कि सुन्द्रा को जैसे उसने उपर उठाया था अम्मा को भी उठायेगा क्या[2] ? माँ और पुत्र के मध्य पाशविक यौनाचार की फ्रायड़वादी प्रतिक्रिया का सन्दर्भ आहत के साथ उपन्यस्त है। फिर भी मानवीय स्तर पर जीवन के मार्मिक प्रसंगो के द्रवीभूत होने वाले वेन्वा की कुंठा ग्रंथियों खुलती है चमन्या की हलाल हुई मुर्गी के मृतपरों क पास चूं चूं करते चुजों की कातरता से । वह स्वयं भी आहत हो जाता है। मानवीय संवेदनाओं की तरलता से कथाकार पूरी कृति में एक संतुलन बनाये हुए है। अर्थ के लिये विवशतः घृणित नैतिकता को स्वीकार ने वाले मान मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में पीछे नही है।

ख्वाजा अहमद अब्बास की नगरा धारिता कृति "तीन पहिये" अपनी प्रतीकत्मकता में सर्वहारा जीवन की स्वतंत्र्योत्तर आस्था, मर्यादा और सांस्कृतिक मूल्यों को अवमूल्यति सूक्ष्म और यथार्थ अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती है। महानगर के जन संकुल परिवेश में दिशाहारा सर्वहारा की संस्कृति के टूटते बंधन और जुड़ते नवीन जीवन संदर्भो का मनोवैज्ञानिक स्तर पर आकलन हुआ है। दुनिया के गलीज को ढ़ोते ढ़ोते उसी में आकंठ निमग्न लोगो की जीवनचर्या का यथार्थ बिम्ब उभरता है जब कचेर वाले सेठ के दिये हुए पारिश्रमिक से उसी के ताड़ी खाने मे ताड़ी या ठर्रे की नौटांक चढ़ाकर नशे में धुत कभी–कभी नशे की हालत में और अंधेरी झोपड़ियों में कभी भूल से और कभी की जानबूझ कर भी बीबियों की अदला बदली हो जाती है?[3] इस नयी नैतिक परिर्वतनशीलता का आधार आधुनिक प्रभाव पड़ता है।

नगर भूमि से जुड़े कृश्न चन्दर के "दादर पुल के बच्चे" में स्वीकृति जीवन मूल्यों का बिखरा परिवेश नये बौद्धिक चेतना संस्पर्श से पूर्णतया बिदीर्ण होकर धर्म और संस्कृति का नया अवमूल्यित स्वरूप प्रस्तुत कर रहा है। अत्याधुनिक बौद्धिक कुत्साओं में क्षयिष्णु मर्दित मानवता उभरती है। सर्वहारा पीढ़ी धर्म, संस्कृति और परम्परागत

1. घुन लगी बस्तियां : जयवन्त दलवी पृष्ठ –33
2. वही, पृष्ठ–52
3. तीन पहिए : ख्वाज अहमद अब्बास, पृष्ठ–67

जीवनदर्श सभी को प्रबल पहुंचा कर मानवता का गला घोंट देती है। उपन्यासकार धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना आधुनिक प्रभावों से नगर परिवेश में अवहेलित होती है। किन्तु ग्रामणी जन जीवन की गहरी सम्पृक्ति रखता है। आंचलिक कथाकारों ने इस सांस्कृतिक यथार्थ को अनेक कोणों से आलेखित किया है। ग्रामभूमि से नगर भूमि का तक संतरणशील कृतियो में आधुनिक मानसिकता का निवेशन होने पर भी संतुलन दिखाई पड़ता है। नागार्जुन, रेणू, हिमांशु श्रीवास्तव, शानी, रामदरश मिश्र, उदयशंकर भट्ट, धूमकेतु, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र अवस्थी की रचनाओं मे युगधर्म आधुनिकता नवीन जीवन दृष्टियों का अभ्युदय करती है। नागार्जुन के बलचनमा में बालचन नगर जीवन यापित कर उदास जीवनदर्शों से उत्प्रेरित होकर अन्याय के विरूद्ध संघर्षरत होने की क्षमता ग्रहण करता है। रेणु के "मैला आंचल " और "परती परिकथा" में वर्ण वंधन शिथिल हो रहे है, अस्पृश्यता, रूढ़ियाँ, परम्परागत आस्था और विश्वास आधुनिक शिक्षा और सभ्यता की चपेट में टूटकर नया परिवेंश सृजित कर रहें है। "मांटी की महक " मे सर्वहारा संस्कृति आधुनिकता से सम्पृक्त होकर नयी चेतना का आह्वान कर रही है। हिमांशु श्रीवास्तव के "लोहे के पंख" और "नदी फिर वह चली" मे आधुनिकता परम्परागत भावों और विचारों मे परिष्करण तो करती है। अर्द्धसभ्य आदिवासी के जीवन को उपरान्त करने वाली रचनाओं में आधुनिक संक्रमणशील स्थितियां इन्हे चेतना की नई पृष्ठभूमि पर अधिष्ठित करती है। नैतिक स्तर पर पर्याप्त बदलाव भी आता है। "कस्तूरी " नगर नार की कोटी व्यापारिन धान मां "डोली " के सहारे चाय घर में मेला लगाकर रखती है।[1] नैतिक सीमाओं का टूटन में आधुनिकता का प्रभाव स्पष्ट है। रामदरथ मिश्र और शिव प्रसाद सिंह की कृतियों में ग्रामीण सर्वहारा वर्ग आधुनिक मूल्यों की प्रभविष्णता को स्वीकार कर परम्परागत नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों में भावनात्मक क्रांति धर्मी परिवर्तन की आकांक्षा अभिव्यक्त कर रहा है।

उदयशंकर भट्ट के "सागर लहरे " और मनुष्य में ग्रामस्तर से भूमि तक जाने वाली कथा प्रयोगधर्मी नैतिकता के प्रति आकर्षण अभिव्यक्त कर रही है। मायानन्द मिश्र के मांटी के लोग सोने की नैया में आधुनिकता के प्रभाव स्वरूप परम्परा के स्थान पर प्रगति का वर्णन किया जाता है। नगर और ग्रामधारिता कृतियों के सर्वेक्षण में आधुनिक प्रभाव परता के जो आयाम उभरें है वे पुरातन सांस्कृतिक मूल्यों को उध्वस्त कर युगधर्मी

---

1. कस्तूरी : शानी, पृष्ठ –31

अभिनव संस्कृति का प्रसार करते दृष्टिगत हो रहे है। विश्व मानवतावादी संस्कृति कहीं न कहीं से शाश्वत मूल्यों से जुड़ने का प्रयत्न कर रही है। जिसे स्वतंत्र्योत्तर उपन्यासों के सृजनक्रम में सहज ही अन्वेषित किया जा सकता है। आधुनिक विकास सम्यता मे सर्वहारा वर्ग अपने परम्परागत सांस्कृतिक जीवन मूल्यों से जुड़ा है।

(ङ) विशेष अभिज्ञान :

सर्वहारा जनजीवन के सांस्कृतिक अभिज्ञान स्रोत पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के आघात से सूखते जा रहे है। फिर भी इनका अस्तित्व लोक जीवन में सुरक्षित है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में इस विशाल राष्ट्र को संस्कृति का आलेखन कम नही हुआ है। भारतीय सर्वहारा वेशभूषा – आहार–बिहार और अपनी सांस्कृतिक अभिचेतनाओं में अभिजात वर्ग से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। अभावों के मध्य संघर्षशील इन वर्ग का जीवन सांस्कृतिक पर्वो, अनुष्ठानों, उत्सवों आदि पर भी अपना स्वरूप परिर्वतन करता है जहॉ खाने के लिए भोजन और पहनने के लिए वस्त्र का निरन्तर अभाव विद्यमान है वहां और कल्पना ही क्या की जा सकती है? किन्तु मेला, विवाह और उत्सवादि के परिवर्तित परिवेश में इनका चित्रण बड़ी ही स्वाभाविकता से 'रेणु' ने 'परती परिकथा' में किया है। मेले में नहिन कन्या ताजमनी अपनी माँ के साथ सिम्पनी में बैठकर पहली बार रंगीन घाघरों वाला कुर्ता पहन कर जाती है।[1] विभिन्न वस्त्राधरणों में सजी ये नहिनें अपनी वेशभूषा आहार विहार में पर्याप्त भिन्नता रखती है। 'सागर लहरें और मुनष्य' के मछुआरे समुद्र पूजन के अवसर पर नूतन वस्त्रों से विभूषित होकर पूजन के लिये जाते है। अशिक्षा और अज्ञान ग्रस्त होने पर भी इनके जीवन में परम्परागत धार्मिक और पौराणिक चेतना विद्यमान है। 'पुरूषपुराण' का दूखन धर्मशास्त्र वेद पुराण के अधिकृत ज्ञान का अधिकारी ही स्वयं को नही घोषित करना वरन राजा नृग, सरसत्ती माता, राम कथा पर भी अपना अधिकार घोषित करता है। हवाई जहाज को उड़ते देखकर हल्ला मचाता हैं अर नहीं हमको लग रहा है कि आकाश मार्ग से हहास बांध कर अश्वत्थामा उड़ता चला आ रहा है।[2] कृतिकार ने दूखन की अवतारणा सांस्कृतिक पुरूष के रूप में की है।

---

1. परती परिकथा फणीश्वरनाथ रेणू, पृष्ठ –69
2. पुरूष पुराण : डॉ0 विवेकी राय, पृष्ठ–75

अतः अपने अल्पज्ञान में सम्पूर्ण भारतीय धर्म और संस्कृति अवमूत्यित आधुनिक स्वरूप प्रस्तुत करने वाला वह प्रथम प्ररूष है।

'बबलू' का महेसवा सत्यनारायण की कथा अपने सीमित साधनों में सुनने बैठता है' सामने थोड़ी सी जगह बुहार कर गोबर से लीप दी गयी है एक छोटा चौका पूरा गया है।एक पंडित जी बैठकर सत्यनारायण व्रतकथा बांच रहे है..........स्नान के उपरान्त नंगे बदन पीले रंग की धोती में कसौटी के पथ्थर सा लगता शरीर कटोरे में रखा थोड़ा वताशा और चूर्ण दो–तीन हाथ की रस्सी में आम्र पल्लवों को गूथती पलकी और श्रोताओं में एक बकरी''।[1] इन निरीह अकिंचनों का समग्र दयनीय परिवेश साकार हो जाता है। उपन्यासकार की दूसरी कृति 'पुरूष पुराण' का दूखन कथा वाचन से पूर्व शास्त्रीय विधि विधानों का पालन आवश्वयक मानता है। आसन के लिये बारह अगुंल की लकड़ा तोड़ लाता है। नित्य प्रति रामकथा का भावविभोर भक्तगणों के मध्य वाचन करने वाला दूखन तुलसी की चौपाइयों की व्याख्या विचित्र ढंग से करता हैं तुलसीदल और चरणोदक का वितरण, आदि प्रकरण इस वर्ग की गहरी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना को ध्वनित करते है।

भारतीय समाज में सांस्कृतिक अनुष्ठानों का स्वरूप बड़ा ही भव्य है। निम्नवर्गीय समाज भी यथाशक्ति अपने सीमित साधनों द्वारा इन्हें सम्पन्न करता है।' ''सागर लहरे और मनुष्य'' में जीवन मृत्यु के मध्य जूझते मछुए सकुशल घर आते हैं तो उनके घरों में सत्यनारायण की कथा हुई भोजन कराया गया, उत्सव हुए। समुद्र देवता की धूमधाम से पूजा हुई।[2]

'उदय किरण' का परभोले चमार सांस्कृतिक पुनरूदार के लिए प्रयत्नशील है। चबुतरे पर बिछा मैला फर्श और उस पर अवस्थित काठ की पट्टी में लिखा हुआ' कर्म प्रधान विश्वकरि राखा। की पंक्तियां सर्वहारा निम्नवर्गीय समाज में धर्म की शाश्वत भावनाओं की अक्षुण्यता उद्घोषित करती है। 'माटी के लोग सूरज की नैया' का कोशिका मैया की पूजा का सांस्कृतिक अनुष्ठान भाव भीनी परिवेश में साकार होता है। गायन, वादन, और पूजन की इन परम्पराओं में लोक जीवन का अकृत्रिम आस्थावान स्वरूप झलक जाता है।

लोक मानस के शाश्वत मूल्यों को अंगीकृत करने वाली दन्नकशाओं में सदियों की अनुमूल्यात्मक परम्परा सन्निहित है। जड़चेतन सभी के प्रति समभाव ज्ञापित कर

---

1. बबूल : डॉ विवेकी राय, पृष्ठ –116
2. सागर लहरें और मनुष्य : उदय शंकर भट्ट, पृष्ठ–67

करने वाली इस संस्कृत की आस्था विश्वास और लौकिक अलौकिक भावों की समृद्धि लोक कथाओं के माध्यम से की है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों ने इतिहास पुराण, देवी देवता, पशुपक्षी सभी के स्वरूप चिन्तन की सशक्त अभिव्यक्ति लोक कथाओं के माध्यम से की है। रेणु के मैला आंचल के मेरीगंज गांव में सुरंगा सदाव्रिज, कुकर विजोभान, लोरिक की लोक कथा में लोक जीवन की विविधता अनुस्यूत है। रेणु की दूसरी प्रख्यात कृति 'परती परिकथा' में रेणु ने *लोक कथाओं का संगुफन बड़ी प्रवीणता से किया है।* कोसी के आदिदैविक स्वरूप की भव्य और चिन्ताकर्षक अभिव्यंजना बूढ़े भैंसवार के आरोहों अवरोहों में होती है। विभिन्न घाटों की अन्तर्कथायें, सुन्नरिनैका की प्रतीकात्मक गीतमयी लोककथा और शामा चकैवा आदि की लोक कथाओं के उपन्यासकार की सर्जन शक्ति की कुशलता लक्षित होती है। हिमांशु श्रीवास्तव के 'नदी फिर बह चली' में किसान और उनकी पत्नी की मनोरंजक लोककथा उपन्यस्त है जो अपनी चटोरी पत्नी द्वारा सभी सम्पदा को 'खीर पूड़ी' में उड़ा देने पर यह कह कर पीटता है कि सास ने ससुर घर अपने असुर घवकाई।[1]

लोकाचार की सहज सशक्त अभिव्यक्ति अर्द्धसभ्य आदिवासियों के चित्रण में हुई है। राजेन्द्र अवस्थी के "जंगल के फूल' की घोटुल प्रथा और शानी को" कस्तूरी में फूलोंआता के विवाह में हल्दी खेलने के लोकाचार में यौवनोन्मत तरूणों और तरूणियों का उन्मुक्त विहार, तालाब से घर तक सात तीरों में न पहुंचने पर दुल्हन कंधे और पीठ पर ढोने का अनोखा प्रसंग सम्मिलित है। लोक जीवन की समस्त रागात्मक चित्तवृतियों का प्रतिविम्बन करने वाले लोकगीत के प्राण स्वरूप है। सघन अनुभूत्यात्मक *तथ्यों की सहजाभिव्यक्ति ही इनका उद्देश्य है। चिरकाल से मानव मन की सुख* दुखात्मक अनुभूति को मुखरित करनेवाले गीतों के विषय में डॉ0 विवेकी राय का यह कथन कि 'आंचलिकता की प्रवृत्ति ने लोकगीत को खेत खलिहान से अड़ाकर साहित्य के अमर पृष्ठों के साथ जोड़ दिया है।[2] अक्षरशः सत्य है। नृत्यगीत, उत्सव, त्यौहार, मांगलिक अनुष्ठानों पर लोककंठ से निःसृत होने वाली गीत पंक्तियों में जीवन का रागविराग, गुंज उठता है। लोक मानस की अमूर्त मावल हरियां इन गीतों में साकार रूप धारण कर लेती है। सामायिक वस्तु संदर्भ को मुखरित करने वाले गीत, कथा नाट्य और नृत्यादि गीत भी स्वतंत्र्योत्तर कृतियों में उभरे हैं ।

---

1. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–103
2. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य ग्राम जीवन : डाव विवेकी राय, पृष्ठ–276

रेणु के 'मैला आंचल' की फुलिया मदनोत्सव में पति को व्यंग्यपूर्ण उलाहना देती है इन पंक्तियों में ....

"नयना मिलानी करी लेरे सैंया, नयना मिलानी करीले ।
अबकी बेर हम नैहर रहबै, जो दिल चाहे सो करीले" ।

लोक संस्कृति मर्मज्ञ हिमांशु ने "नदी फिर वह चली, में लोक गीतों के भिन्न रूप यथा झूमर, सोहर, गाली भड़ौचा और डोमकछ के गीतों में तरल माननीय रामबोध को मुखरित किया है। विवाहोत्सव में गायें जाते गीत नेइकी के कंठस्वरों से फूटकर पूरे परिवेश को झंकृत कर देते है ...[1]

"हमारा गुल बदन कहीं होगा"
बागों में होगा बगइचों में होगा
कली के बीच में कहीं होगा"[2]

उपन्यासकार की दूसरी कृति "लोहे के पंख में भी विपन्नवर्ग की गहरी मनोव्यथा के करूण स्वर गांव की अमराइयों में गुजते रहते है। खेतों, खलिहानों पंगडंडियों पर व्यतीत यथार्थ विखरने लगता है, चरवाहे की गीत पंक्तियों में ....

पाकल – पाकल पनावा खिअवले गोपी चनवां
पिरीतिया लगाके हो गोपीचनवां.............................. ।

"बबूल " के महेसवाा के कंठ स्वरों से फूटते, तरल स्निग्ध कोमल भावों के अभिव्यंजक लोक गीतों की सरस माधुरी निरीह निरूपाय श्रमिक वर्ग की कलांतता को दूर कर उनके मन प्राणों में अपूर्व उल्लास भर रही है, उपन्यासकार निम्न वर्गीय समाज की सूक्ष्म और मार्मिक स्थिति की अभिव्यक्ति का साधन इन गीतों को बनाता है।

लोक तत्व मर्मज्ञ रेणु की "परती परिकथा' में अवसरानुकूल लोकोगीतों की अपूर्व संयोजना है। ग्राम बालाये शामा चकेवा, करमा धरमा, हाकडाक इत्यादि पर्वो पर सभी भेदभावों को गीत पंक्तियों में मुखरित करती है। " मांटी के लोग सोने की नैया" में उदहा तट पर रात–रात भर विहुला, लोरिकावि, दीनाभद्री और रन्नू सरदार के नाच–गान चला करते थे................।[3] स्वतंत्रता परवर्ती ग्रामगंधी उपन्यासकारों मे अलग अलग वैतरणी, पानी के प्राचीर, "जल टूढ़ता हुआ", मांटी की महंक, "सूरज किरण की

---

1. मैला आंचल : फणीश्वर नाथ रेणु,पृष्ठ –131
2. नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव, पृष्ठ–138
3. माटी के लोग सोने की नैया : माया नन्द मिश्र, पृष्ठ–19

छांव, आदि में लोकगीतों की अपूर्व छटा है। "मैला आँचल" के विदापत नाच में सामायिक जाती है। इस देश के मेरूदण्ड होकर भी इनकी अनाहत अवहेलित और विपन्न जीवनयापन की प्रकिया कितनी दारूण है। यह अत्युक्ति नही, वास्तविकता है, जिसकी यथार्थ पीड़ा का साक्षात्कार लेखक ने निकट से किया है। "पानी के प्राचीर" में इस पुनीतावसर पर निरबल तेली की एकमेव सम्पत्ति गोहरे होलिका को समर्पित कर दिये जाते है तो सामदीन झोपड़ी और चारपाई समेत " सम्मत में डाल देने ने आहत दर्द के साथ होलिकाग्नि में जलने के लिये तत्पर हो जाता है। रिणु के "मैला आंचल " मे आदिवासियों का सिखा पर्व नाना आपदाओं के उपरान्त भी अपनी आन्तर्सत्ता सुरक्षित रखता है अर्धमूलक संस्कृति के प्रसार ने सांस्कृतिक चित्रों का रंग धूमिल कर दिया है। स्थानाभाव में पर्वो को खेलने की समस्या गहरी है। रेणु की "परती परिकथा" में पूर्णिमा की रात को सवर्ण असवर्ण, व्याही–अनव्याही बालायें शाभा–चकेवा के मृणमय पुलालों को विभिन्न, हरे, नीले, पीले, बैगलनी, सुग्गापंखी रंगों की चित्रकारी से सजाकर, दुध केला, गुड़, चावल और मिठाइयां चढ़ाती हुई अपने शिरकते गीतों और सिहरते अंचलों को हिलाकर मधुर स्वर में हिमालय से उतरते पच्छियों का स्वागत करती है। "सूरज किरन की छांव में आदिवासियों के नुकानोरदाना पांडुप के त्योहार का समस्याओं का प्रतिफलन है......................

थारी बेच पटवारी के देलियें।
लोटा बेच चौकीदार।
बाकी थोड़ेक लिखाई जे रहेले
कलम देलक धुराई रे धिरजा। 1

"सागर लहरें और मनुष्य " में होली पर्व पर बससोंवा के कोली पूर्णिमा की धवल आमा में झांरगी और संम्बेल पर रंग गुलाल उड़ाते नाचते गाते है.........

हाय हाय होली खेला तू जायेगा।[2]

भारतीय संस्कृति के अविच्छिन्न अंग उत्सवदि का लोक जीवन में व्यापक महत्व है। स्वतंत्रता परवर्ती उपन्यासकारों ने इनका सजीव और यथार्थ चित्रांकन किया है। निम्नवर्गीय सर्वहारा इन सांस्कृतिक अवसरों पर भी अपनी अकिंचनता के कारण किंतनी करूण स्थिति में जाती है। इसे बबूल की पृष्ठ भूमि में देखा जा सकता है। होली के

---

1. मैला आंचल : फणीश्वन नाथ रेणू , पृष्ठ–102
3. सागर लहरें मनुष्य : उदय शंकर भट्ट, पृष्ठ–222

उल्लासमय वातावरण से दूर चौधरी के खेत में कटिया के लिये गया महेश राम का परिवार घड़ा दो घड़ी रात गये आता है। पत्नी पारिश्रमिक में मिले बोझाा को पीटकर और पीसकर भोजन व्यवस्था में जुट उल्लासमय वातावरण उपस्थित है।

भारतीय जन–जीवन में मेलों की सांस्कृतिक परम्परा अतीत काल से ही चली आ रही है। पुण्य तीर्थस्थलों से लेकर क्षेत्रीय और स्थानीय परिवेश मे पर्वो और तिथियों पर लगने वाले मेले भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इनकी उपयोगिता ग्रामीण परिवेशीय सर्वहारा वर्ग के लिए स्पष्ट है। यह वर्ग अपने वर्ष भर की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति इनसे करता है। स्वातंत्र्योतर आंचलिक कृतियों में मेलों का यथार्थ और आकर्षक चित्रांकन हुआ हैं। अलग–अलग वैतरणी, में रामनवर्मा को करेता के देवी धाम में लगनें वाले मेंले में परिवर्तित परिवेश में धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्य अवमूल्यित होकर मात्र अनैतिक और असांस्कृतिक मौलिकता का परिवेश सृजित कर रहे है। पुरुषों की अपेक्षा वस्त्राभरणों से सुसज्जित निम्न और उच्ववर्ग की स्त्रियां तरूणी मध्या और प्रोढ़ायें ही अधिक है। डोमन चमार की पुत्री सुगनी दयाल महाराज से अपने मलिकार सुरजू सिंह का पता पूछती है कि "अरे अपने गिरहस्त है। मेला लगा है कुछ खरच, बरच देगे?[1] उपन्यासकार प्रस्तुत मेले के संदर्भ में विकृति नैतिक मूल्यों का संकेत दयाल और सुगनी के अन्तर्कथनों में सूक्ष्मता से व्यंजित कर देता है। "पानी के प्राचीर" में पाण्डेय पुरवा के मेले में ग्रमीण सर्वहारा निम्न समाज की विभिन्न स्थितियों का पारदर्शी रूपायन हुआ है। कथाकार इनके जीवन यथार्थ की झांकी का उद्घाटन करता है[1] छोटी जाति के लोगों को देखिये आज धराऊं कुर्ता निकला है। मैली धोती पर यह साफ–साफ लाल–पीला कुर्ता कैसा पलत रहा है।....... अचरों पर चमारों के नृत्य हो रहे है......... देवी की डेवड़ी भक्तों से भर गयी है। बीस बाईस औरते खेल रही है सिर पर एक कपड़ा खिसक गया है, मूत से बाल विखर गये है। चोली के वटन खुल गये है। "वेश भूषा, टोने टोटके, भूत–प्रेत, अंधविश्वास की सचित्र ब्याख्या कृतिकार करता है। मेले के इस परिदृश्य में सब कुछ चित्रांकित हो गया है।

"परती परिकथा" के फारविस गंज के मेले के संदर्भ में परानपुर की नट्टिन वीरांगनाओं के तलवर्ती जीवन का सूक्ष्म, सजीव और विविध वर्णी जीवन चित्र रेणु ने उपन्यस्त किया है। मेंले की सामयिक समस्या ने इन रुपाजीवाओं के जीवन सूत्रों की

अस्त व्यस्त कर दिया है।" मेले के चारों ओर छेकी हुई रंडियों के झुंडा जिले के बड़े–बड़े कस्बे की कस्बिनों के होश उड़ रहे थे, देहाटिनों की क्या बात? अपनी– अपनी ऐठ–गेंठ गठरी मोटरी, हांस– मुंगी,, लठकन, फुदना तम्बू कनात के साथ कुछ धन खेतो के पास, कोई पक्की सड़क के पुल के नीचे तीन दिन से पड़ी थी।[1] रेणु के इस बिम्बात्मक चित्रण में सर्वाधिक प्राणवान उपलब्धि है गंगा बाई की मुखर अभिव्यक्ति। अधिकारी के सम्मुख अपनी ओजस्विता से बुलन्दी का झंडा गाड़ने वाली यह नारी हास्य व्यंग के वातारण मे अपनी विवशताओं का प्रत्यास्थान करती है। रेणु की व्यंग्य विधायिनी क्षमता नट्टिन समाज का परिवेंशीय बिम्ब और मनः स्थितियों का मनोंवैज्ञानिक रूपायन किया है।

साधनहीन निरूपाय सर्वहारा जनजीवन की क्रीड़ा और उनके मनोरंजन के साधन भी प्रस्तुत काल में अपहृत होते जा रहे है। सार्वजनिक क्रीड़ा स्थल व्यक्तिगत सम्पति क्षेत्र में आ लगाये है। फलतः इनके मनोरंजन के सीमित साधन प्रकृति के अंक में ही अब सुरक्षित रह गये है। नगर जीवन के बहुमूल्य, विलासी क्राड़ी साधनों के अभाव मे दंगल, चिक्का, कबड्डी, गुल्ली डंडा, ओल्हापाती जैसे श्रमसाध्य खेल ही इनके समाज में प्रचलित है। ग्रामांचलीय कृतियों मे दंगल का विशेंष और सजीव चित्रण प्रस्तुत हुआ है। "अलग– अलग बैतरणी मे सुदबा नट और देवपाल मल्ल युद्ध की क्राड़ीभूमि में अभिजात और अकुलीनता की परिधि से निकल कर समान स्तर पर वाह्य दृष्टि से उतरते है। अक्षरतः बबूल का महेसवा.................... भरपेट भोजन के अभाव में भी कुलीन वर्ग के प्रतिद्वन्द्वी के कमलदल सरीखे चेहरे को गुलाब सा लाल कनाकर छोड़ देता है।

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में शासक वर्ग की आडम्बर प्रियता ने सर्वहारा वर्ग के सांस्कृतिक परिवेंश को विकृत बनाने पर बाध्य किया है। सरकारी समारोहों में इनके विकास की मिथ्या प्रचार धर्मिता पूरे खोखलेपन के साथ ज्ञानी के कस्तूरी में उभरती है। विद्यालय के सांस्कृतिक समारोह में छोटे'– छोटे बच्चे आदिवासी गीत और नृत्य पेश कर रहे है और उनकी आड़ मे नौजवान मास्टर मियां अपना प्रर्दशन कर रही है जयसिंह कृत कलावे में सरकारी स्तर पर आयोजित यह सांस्कृतिक समारोह उनका शोषण समारोह बन जाता हैं। दिन भर के हाट में भूखे आदिवासी मीलों से मंत्री महोदय

1. परती परिकथा : फणीश्वर नाथ रेणू, पृष्ठ–290

के आगमन पर नृत्य गीत का आयोजन करने के लिए कहा जाता है। और आदिवासी सम्मेलन पर इनकी असमर्थता व्यक्त करने पर इन्हें व्यर्थ की कुद, फांद, पैतरेबाजी और होहल्ले के लिए उकसाया जाता है। पूरे परिवेश में रात की चमारिन का और कानिया चमार के ढोलक की थाप ही थोड़ा बहुत प्रभाव डाल पाती है। किन्तु मंत्री महोदय को इसमें स्वार्थ वश उच्चकाटिक कलानुभूति होती हैं। सरकारी समारोहों की ये हास्यास्पद विकृत स्थितियां जहा शासक वर्ग की कर्त्तव्य और दायित्वहीनता का संदर्भ उभारतीय हैं। वही आदिवासियों की करूण दयनीय विषम स्थितियों का प्रत्याख्यान भी करती है। दिन में के श्रमरत बुमुक्षित मानव अपने अज्ञान में सब कुछ शिरसा स्वीकार करते चले जाते है।

संत कबीर :

"मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी" कबीर की इस वाणी से यह स्पष्ट झलकता है की कबीर ने जो समाज में अनुभूत किया उसको उन्होंने स्पष्ट सवाक वाणी में समाज के सामने प्रस्तुत किया है। कबीर को उपजे लगभग छःसौ वर्ष बीत चुके है इसके बावजूद भी कबीर और उनके संदर्भ बीते हुए नहीं लगते। उनके सवाल आज भी हमारे जवाब की ताक में है आचार्य विवेकदास ने कबीर को सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का सबसे बड़ा मसीहा कहा है।

कबीर जैसे जीवन की सच्चाई से टकराने और अपने जमाने को सही रास्ता दिखाने वाले लोग ही युग द्रष्टा, युगप्रवर्तक और क्रांतिकारी कहे जाते है। निष्ठा समर्पण और संकल्प के गुण या तो क्रांतिकारी में होते है या फिर भक्त में। संयोग से कबीर दोनों ही थे। अपने राम के प्रति समर्पण के समय वे प्रेम की अनन्त गहराई में उतरते है और अपने समय के विद्रूप को उजागर करते समय, समाज को रास्ता दिखाते समय, वे साहस और विद्रोह की चरम उंचाइयों पर पहुंच जाते है शायद इसी गुण को अनेक संदर्भों में वज्रादपि कठोराणि, मृदुनिकुसुमादपि कहा गया है।

कबीर की जिद थी कि मैं सिर्फ सच कहूगा और दूसरों को भी इसी रास्ते पर चलाने की कोशिश करूगा। हम इसे कबीर का दृढ़ संकल्प कहे या जिद वह लगातार

बढ़ती गयी। इसके लिए उन्होंने खूब कीमत चुकाई दुख सहे और सब तरह के अत्याचार झेले।

कबीर ने धर्म और जाति की श्रेष्ठता के स्थान पर करूणा, समानता और अपरिग्रह के मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न किया उन्होंने संप्रदाय और जाति पर जमकर चोट की थी क्या हमारे वर्तमान की समस्या भी यही नहीं है? क्या यह सच नहीं है कि सांप्रदायिकता और जातिवाद के कटघरे जहां तक गाँधी ने तोड़े थे हम उसके बाद आगे नहीं बढ़े? वे कटघरे नये रूप में फिर से खड़े किये गये है; उन्हें मजबूत किया जा रहा है सारे समाज को फिर से अलग अलग बाड़ो में बंद करने का प्रयास हो रहा है। उसे अपने अपने तरीके से हाँकने की कोशिश हो रही है। क्या यह मध्ययुग की वापसी नहीं है? मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जो मध्ययुग को सही रूप मे नहीं समझता वह आधुनिक या प्रगतिशील हो ही नहीं सकता अर्थहीन रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरूद्ध अलग

अलग मंचों से भाषण देना और क्रांतिकारी मुद्रा का प्रदर्शन करके अपने कर्त्तव्य की इति श्री मान लेना आसान है लेकिन जीवन और कर्म के स्तर पर कबीर और गांधी की तरह कदम कदम पर ठोकरे खाते हुए आगे बढ़ना और दूसरों को भी अपनी तरह बनाने के प्रयास में खुद को मिटा देना बहुत मुश्किल काम है इसमें किसी को शक नहीं होना चाहिए कि अगर कबीर आज के जमाने में पैदा हुए होते तो भी उन्हें वही कहना और करना पड़ता जो उन्होंने अपने जमाने में किया था एक अंतर यह है कि वे शायद उतना नहीं जी पाते जितना वे पन्द्रहवी शताब्दी में पैदा होकर जीये थे। अतीत के अनेक रचनाकारो का कृतित्व साहित्यिक इतिहास और सांस्कृतिक संग्रहालय का मृत अंश बन जाता है पर कबीर का साहित्य इस प्रकार का अप्रासंगिक और निष्प्राण साहित्य नहीं है। आज की विचार धारात्मक उठा पटक और सामाजिक विडम्बनावाद के बीच अनेक बार कबीर की बानियों के हवाले दिये जाते है उनकी उक्तियों की सार्थकता बतायी जाती है और उन्हें आज के सवर्ण हिन्दूवादी आग्रहो तथा मुस्लिम कट्टरपंथ से लड़ने के लिए बुलावा दिया जाता है। जातियो धर्मो वर्गो आदि में विभाजित समाज की संकटग्रस्तता के समय कबीर का साहित्य प्रासंगिक हो जाता है क्योंकि मध्ययुगीन समाज की लगभग ऐसी ही चुनौतियो और उथल पुथल के बीच उन्होंने महांन ऐतिहासिक भूमिका निभायी है। भक्ति आन्दोलन कबीर की अगुवाई में एक सर्वहारा

प्रतिरोध है। दूसरे शब्दों को तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन की मांग का आन्दोलन है। मनुष्य के रूप में सांस लेने की मांग अथवा एक नई मनुष्यता रचने की पुकार का आन्दोलन है। यह मांग मनुष्य की आत्म पहचान के गहरे संकट बोध में उभरता है।

मानव जीवन का इतिहास इसका प्रमाण है कि कोई भी व्यवस्था सम्पूर्ण नहीं होती। हर व्यवस्था में संशोधन और परिवर्तन अनिवार्य है। इसके बिना गति नहीं है इसलिए मुझे लगता है कि हर जमाने में किसी न किसी कबीर की जरूरत है, जो हमें झकझोरे जगाये और आगे बढ़ाये कबीर एक प्रतीक है आज छः सौ वर्ष बाद भी हमें कबीर पर चर्चा करने की जरूरत महसूस हो रही है उनकी प्रासंगिकता का इससे बड़ा और क्यां प्रमाण हो सकता है? वे अपने समय में भी प्रासंगिक थे और इक्कीसवी सदी में भी प्रासंगिक रहेंगे। कबीर ने मानवता वादी विचारधारा का विकास करते हुए "वसुदैवकुटुम्बकम्" की भावना का प्रचार करते हुए विश्व बन्धुत्व का विकास किया। दया, क्षमा, उदारता का प्रचारक कबीर ने मानव हृदय को परिवर्तित करते हुए समदृष्टि का प्रचार किया क्योंकि "सब साई के जीव है" इन्होंने ने समाजिक विसंगतियो, धार्मिक विडम्बनाओ, बहुदेव वासना मूर्ति भंजन आदि का समाधान भी इन्होंने अपनी वाणी के विचारों द्वारा साखी, सबद, रमैनी के माध्यम से प्रस्तुत किया।

कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति की बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी। भारत में उत्पीड़ित जनगण की वास्तविक मुक्ति के संघर्ष में कबीर हमारी जीवं सकारात्मक विरासत के अनिवार्य अस्त्र है। अतीव के अनेक रचनाकारों को कृतित्व साहित्यिकइतिहास और सांस्कृतिक संम्प्रदाय का मृत अंश बन जाता है पर कबीर का साहित्य इस प्रकार की अप्रांसगिक और निष्प्राण साहित्य नहीं हैं। जातियां, धर्मो आदि में विभाजित समाज की संकटग्रस्तता के समय कबीर का साहित्यिक प्रासंगिक हो जाता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदीके अनुसार" कबीर युगसंधि के ऐसे ही चौराहे पर उत्पन्न हुए थे, वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे।

वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानों प्रतिमूर्ति थें।[1]

कबीर ने किस आत्मविश्वास से साफ कहा था– 'हम न मरैं मरिहै संसारा'। यह कबीर की गर्वोक्ति न होकर आत्मविश्वास है, आस्था है इसमें यथार्थता थी जो छः सौ वर्ष बीत जाने के बाद आज भी कबीर के जीवित होने से प्रमाणित है। कबीर उस मानव के प्रतीक है जो हमेशा ही आलोक की मशाल लिये मानव को अंधकूप में गिरने से बचाने के लिए जागता और उसकी पीड़ा से खुद ही रोता भी है।

'दुखिया दास कबीर है जागै और रोवै'।

मानव जाति के आरम्भ से अब तक यह दास कबीर जागता और रोता ही रहा है और शायद जागता और रोता ही रहेगा। कबीर की यह पीड़ा आज और भी बढ़ गयी है। क्योंकि आज उसे मारने के लिए भी कोई नहीं दौड़ता उल्टा उसे ही अंधा और 'बौराया'समझ लिया गया है।[2]

आचार्य विवेकदास ने कबीर को सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का सबसे बड़ा मसीहा कहा। कबीर को बांट कर नहीं उनका समग्र तौर पर मूल्यांकन करने की जरूरत है। उनकी प्रेम मूलक रचनाएं बड़ी सशक्त है। जो आज के रचनाकारों को बल देती है, रस देती है और रास्ता भी दिखाती है उनकी उलट वासियाँ इसका प्रमाण है। प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रो0 सत्य प्रकाश मिश्र ने कहा हैं कि, कबीर साधारण कवि नहीं थे उनकी रचनाएं हर रचनाकार को चुनौती देती है और आने वाले समय में भी देती रहेगी उन्होंने कबीर की तुलना तुलसी से करते हुए कहा कि एक बड़ा रचनाकार हमेशा अपने युग को चुनौती देता है। कबीर ने जो सवाल छः सौ वर्ष पहले उठाये थे वे सभी सवाल आज भी अनुत्तरित है।[3]

ज्योतिबा फूले (सन् 1827–90 ई0):

19वीं शताब्दी के समाज़ सुधारकों के सामने ज्वलंत मुँह बाये खड़ी थी रूढ़िग्रस्त व अंधविश्वासो से जकड़ा हिन्दू समाज दीर्घकालीन दासता के परिणाम स्वरूप अंगेजीं आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के समक्ष पूर्णतः पिछड़ा हुआ था। ऐसी ही सामाजिक कुरीतियों और पाखण्डों से भरी मान्यताओं के विरूद्ध महाराष्ट्र के समाज

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास : डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ–77
2. इन्द्रप्रस्थ भारती, कबीर विशेषांक : अप्रैल–जून 2000, हिन्दी एकादमी दिल्ली त्रयमासिक सा0 पत्रिका
3. वही, पृष्ठ–190

सुधाकर महात्मा ज्योतिबा फूले का नाम दीप्तिमान है उनके समय मे छुआ–छूत, जाति–पाँति की ऊंच–नीच की भावनाएं, नारी वर्ग के प्रति अमानवीय व्यवहार, बाल – विधवाओं के प्रति क्रूर दमनचक्र आदि पशुवत प्रथाएं प्रचलित थी। दलित और शुद्रों के लिए साँस लेना तक दूभर और शूद्रों के लिए सांस लेना तक दूभर था विधवा होना अभिशाप बन गया था। पूरी जिन्दगी सफेद सूती धोती में गुजार देना ही उनकी नियति बन गई थी। शूद्र और नारी दोनों के लिए विद्यार्जन करना प्रतिबन्धित था। कुओं से पानी लेना तक वर्जित था मन्दिरों के कपाट उनके लिए बंद थे ऐसी ही विषम परिस्थियों मे ज्योतिबा फूलें ने भारत में फैली इन धार्मिक कुरीतियों, मिथ्याचारों छुआछूत, पाखण्ड, ढ़कोसलों व अस्पृश्यता जैसी दकियानूसी परम्पराओं पर गम्भीरता से सोच–विचार किया इन सबके विरूद्ध विद्रोह का बिगुल फूंक दिया। नारी की कोख से जन्म लेते ही बच्चे को बाह्यण और शूद्र की श्रेणी में वर्गीकरण करने का औचित्य क्या है? किस आधार से पैदा होते ही बालक हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई हो जाता है, जबकि न तो उसे धर्म का ज्ञान होता है और न उसके प्रति कोई आस्था? ऐसे ही तमाम प्रश्नों ने उनके ह्रदय में मनुस्मृति, वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, गीता आदि धर्म ग्रन्थो के प्रति आशंकाओं को उत्पन्न किया। फूले का विचार था कि सभी शूद्रों और अतिशूद्रों को आधुनिक शिक्षा प्रदान करके उनकी दासता और शोषण के विरूद्ध जागरूक बनाया जा सकता है तथा शिक्षा का उद्देश्य विद्रावन होना चाहिए। वह कार्य बाह्यणवादी के सहायता से सम्पन्न नही किया जा सकता है।

उपयोगी शिक्षा के पहलू पर प्रकाश डालते हुए उन्होने कहा कि शूद्र बनाये गये या स्थापित किये गए नये स्कूलो में अग्रेंजी शिक्षा का ज्ञान के अलावा व्यवहारिक शिक्षा जैसे नयी नस्लों के भेड़े का पालन, कृषि प्रदशर्नियों का आयोजन, किसानों का प्रशिक्षण जैसे विषय पाठक्रम में शामिल किये जाये। फूले का मानना था कि शूद्रों के दशा में सुधारों को स्थायित्व देने के लिए सर्वहारा वर्ग के आर्थिक बुनियाद मे परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। अतः उन्होने बन विभाग से अपील की छोटे किसानों हस्तगत भूमि को वापस लौटा दिया जाय जिससे शूद्र समाज आर्थिक स्तर पर आत्मनिर्भर हो सके। अन्ततोगत्वा बाह्यण के वर्चस्व को पूर्णतः अस्वीकार करते हुए उन्होने वैवाहिक अनुष्ठानों

सरलीकरण, बाह्मण पुरोहितों के बिना विवाह कराने स्त्री पुरूष के समान अधिकार देने की आवश्यकता पर बल दिया।

सन् 1873 ई0 में अपने विचारों को संगठित रूप देने के लिए सत्यशोधक समाज की स्थापना की (सत्य को खोजने वाली समाज) तथा धर्म तृतीय रत्न, (पुराणों का भण्डा फोड़) इशारा शिवाजी की जवानी इत्यादि सम्मिलित है।[1] हालाकि वह सन् 1851 ई0 मे ही अस्पृश्यता जातियों के बालकों के लिए पुणें में एक विद्यालय की स्थापना कर चुके थे। 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में सत्यशोधक समाज को कोल्हापुर के महाराज छत्रपति से (जो राजभक्त कहलाये जाते थे) समर्थन मिला। बाद में कोल्हापुर रियासत बाह्मण विरोध का केन्द्र बना। महाराष्ट्र के शूद्र जातिय जैसे कुल्वी, माली, ड़ाँगर, मंग और महारों को इस सगंठन से बहुत फायदा पहुँचा कालान्तर में यह आन्दोलन जैसे आन्धप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु में फैल गया। इस प्रकार महाराष्ट्र की दलित जातियों के अलावा दक्षिण भारत के कामरेडी और बेलाल जैसी जातियां इसके प्रभाव में आयी केरल मे सत्यशोधक समाज को मुस्लिम सम्प्रदाय से उत्साहबर्धक सहयोग मिला। इन्होने सामाजिक एकता के संग्राम को तेज किया उन्होने जाति प्रथा के खिलाफ विद्रोह खड़ा कर दिया। इन सम्पूर्ण आन्दोलनों के प्रभाव के कारण भारतीय समाज मे नई जागृति आई जिससे अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ आन्दोलनों को भी गति मिली। विधवा स्त्रियों के बच्चों के लिए "बाल हत्या प्रतिबन्धक गृह" का फुले ने एक मुसलमान के साथ इस सगंठन की स्थापना की थी। इसमे इनके बच्चे रहते थे। इन्हाने ने अगड़ी तथा पिछड़ी का सोच बदलना चाहते थे। तथा सर्वहारा वर्ग को इनके समान लाने का प्रयास किया। फूले की किताब "गुलामगीरि" में शिक्षा का अध्ययन छात्र तथा शिक्षक दोनों का अवलोकन किया गया है उन्होने उस समय कहा था कि शाम को भी पढ़ायी होनी चाहिए आज वही वर्तमान में भी दिखाई पड़ रहा है।

20वीं शताब्दी में सर्वहारा वर्ग एक शक्तिशाली समुदाय के रूप में अपनी पहचान बनाने का प्रयास कर रहा है। वर्तमान का दलित और शोषित वर्ग अब जाग चुका है और निश्चय ही जिस दिन वह पूरी तरह जाग जायेगा तभी उस कर्मयोगी महात्मा ज्योतिबा फूले की आत्मा को शांति प्राप्त होगी।

डॉ0 राम मनोहर लोहिया :

भारतीय समाजवादी आन्दोलन में डॉ0 राम मनोहर लोहिया का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म सन् 1910 ई0 में हुआ था। वे गांधीवादी समाजवाद के समर्थक थे। सन् 1952 ई0 में वे 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1953 में उन्होंने 'एशियन सोशलिस्ट कान्फ्रेंस का संयोजन किया। इसी वर्ष 'इक्की डिस्टैंट थ्योरी' नामक पुस्तक की रचना की तथा समाजवादियों और कांग्रेस को समाजवाद से दुर रहने का आदेश दिया।

सन् 1954 ई0 में ट्रावनकोर कोचीन में पुलिस द्वारा चलायी गयी गोली कांड का जमकर विरोध किया । दिसम्बर 1955 ई0 में लोहिया ने 'भारतीय समाजवादी दल' की स्थापना की। उनका समाजवाद 'राष्ट्रीय' अथवा 'भारतीय समाजवाद' था। 12 अक्टूबर 1967 ई0 को दिल्ली के विलिंगटन अस्पताल में स्वर्गवास हो गया। वे भारत माँ के सच्चे सपूत थे।

डा0 लोहियाके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर विचार— डॉ0 लोहियाने अपने विचार'मार्क्स, गांधी व सोशलिष्ट' नाम पुस्तक में प्रतिपादित किये है। वे मार्क्स के द्वन्दवादी भौतिकवादी की धारणा को स्वीकारतो कर लेते है पर वे मार्क्स की अपेक्षा चेतना को अधिक महत्व देते है। वे मार्क्स की पूंजीवादी व्याख्या तथा व्यक्तित्व सम्पत्ति की आलोचना को तो स्वीकार करते है पर मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को वे स्वीकार नहीं करते हैं वे वर्ग संघर्ष को गलत तथा अनुचित मानते है। वे मार्क्सवादी हिंसात्मक साधनों के विरूद्ध है। उनका मत है," साम्यवादियों ने रूसी नागरिकों को न रोटी दी और न स्वतन्त्रता, यह तो एक ऐसा गुनाह है जिसमें कोई लज्जा नहीं।" डॉ0 लोहिया साम्यवादी ढंग पर समाजवाद लाने के पक्ष में नहीं थे।

डा0 लोहिया का विचार है कि इतिहास में सर्वहारा वर्गीय जातियों में एकता का अभाव है। जिनसे संघर्ष रहा है। वर्ग एवं जाति के मध्य एक आन्तरिक मतभेद सामाजिक गतिशीलता का प्रमुख कारण है। डॉ0 लोहिया का कहना है कि जातियां, स्थायित्व, अकर्मण्यता तथा परम्परागत अधिकार की रूढ़िवादी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि वर्ग सामाजिक गतिशील तत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। डॉ0 लोहिया

का मत है कि अभी तक इतिहास जातियाँ तथा वर्गों के मध्य एक आन्दोलन रहा है। जातियां वर्गों तथा वर्ग जातियों में परिवर्तित होते रहे है। डॉ0 लोहिया का यह विचारधारा पेरोटी की विचारधारा का ही एक रूप है।

डॉ0 लोहिया गांधी तथा मार्क्स दोनों के विचारों से प्रभावित थे पर वे न तो गांधीवादी ही थे और न ही मार्क्सवादी। उनका विचार था कि देश की परिस्थितियों के अनुसार ही समाजवाद को बदल देना चाहिए। वे कहते थे कि, "रूढ़िवाद तथा संगठित समाजवाद एक मृतक सिद्धांत तथा संगठन है।"

डॉ0 लोहिया पंचतन्त्र की प्रबल समर्थक थे। उनका मत था कि व्यक्ति को भाषण तथा संगठन की स्वतंन्त्रता मिलनी चाहिए तथा व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे। उनका कहना था कि भारी पैमाने पर उत्पादन में आर्थिक केन्द्रीय करण को प्रोत्साहन मिलता है। अतः केन्द्रीयकरण की बुराइयों से छुटकारा पाने के लिए छोटे पैमाने पर उत्पादन किया जाना चाहिए। डॉ0 लोहिया एक नवीन समाजवाद का समर्थन करते थे। एक समाजवादी बुद्धजीवी के रूप में लोहिया ने सूक्ष्म चिंतन तथा मन न किया। उन्होंने समाजवादी समस्याओं को एशियाई दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया। वे सच्वें गांधीवादी थे और उन्होंने गांधीवादी के रूप में गांधीवाद को समाजवादी चिंतन में प्रमुखता देने का भी प्रयास किया। वे साम्यवाद के विरोधी थे। जहां आचार्य नरेन्द्र देव तथा जय प्रकाश नारायण मार्क्सवादी थे वहां लोहिया परगांधीवाद की अमिट छाप थी। वे कृषकों तथा ग्रामों की स्थिति में सुधार लाने के लिए विकेन्द्रीत समाजवाद की स्थापना चाहते थे। वे पंथवादी नहीं थे। वस्तुतः लोहिया यथार्थवादी थे और इसी कारण समाजवाद के पुरातन पंथी चोले को दूर फेंक उन्होंने समाजवाद के साथ–साथ लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को जीवित रखा। आर्थिक विषमता उन्हें पसन्द नहीं थी किन्तु वे राष्ट्रीयकरण की नीति को ही इसका एक मात्र हल नहीं मानते थे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के महान समर्थक होने के कारण उन्होंने प्रशासनिक केन्द्रीयकरण की प्रवृति को विकेन्द्रीकरण के साथ समन्वित करने का आदर्श ही प्रस्तुत किया है।

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर :

डॉ0 भीम राव अम्बेडकर आधुनिक भारत के निर्माता, युग दृष्टा, महान शिक्षा शास्त्री, समाज सुधारक और दलितोधारक मसीहा थे। वे भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में चिरस्मरणीय हैं। भारत सरकार ने उनकी जन्मशताब्दी क उपलक्ष्य मे हाल ही में उनकों मरणोपरान्त "भारत रत्न" की उपाधि से विभूषित किया गया "हर महापुरूष अपने समय के समाज बिना ताज के राजा होता है। वह एक विशिष्ट पुरूष होता है, उसमे कुछ विशिष्ट गुण होते है जिसके नाते से वह हमेशा याद किया जाता है। महापुरूषों के इन्हीं विशिष्ट गुणों के कारण दुनिया उसे भुला नही पाती और उसके पद चिन्हों पर चलने के लिए विवश हो जाती है।[1]

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का जीवन इस कटु सत्य का द्योतक है कि मेहनत और लगन से साधारण से साधारण मनुष्य भी असाधारण ऊचाईयों तक पहुँच सकता है। डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल सन् 1891 ई0 मे इन्दौर के निकट महू कस्बे में हुआ बाल्यावस्था मे ही अम्बेदकर को अछूत होने का अभिशाप सताने लगा था। इसकी परवाह न करते हुए उन्होने अपनी मेहनत और सच्चे संकल्प के सहारे सन् 1907 ई0 में मैट्रिक परीक्षा में सफल रहे। सन् 1913 ई0 में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका चले गये उन्होनें महाराजा बड़ोदरा से छात्रवृत्ति प्राप्त की उन्होनें वहाँ से अर्थशास्त्र में पी0 एच0 डी0 की डिग्री प्राप्त कर सन् 1917 ई0 में न्यूयार्क से भारत लौटने के बाद उन्हें महाराजा बड़ौदा का सैनिक सचिव नियुक्त किया गया। इसके बावजूद सवर्ण हिन्दू उनके साथ एक सामाजिक कोढ़ी का सा बर्ताव करते रहे।

डॉ0 अम्बेडकर का उस समाज के खिलाफ विद्रोह का शंख फूकना स्वाभाविक था। जिसमें इसान इंसान से नफरत ही नही करता था बल्कि वह अपने से हेय समझे जाने वालों की परछाई तक से दूर रहात था, उनके आने–जाने के रास्ते अलग थे, कुए अलग थे, मन्दिर अलग थे। समाज मे अनेक वितृतिय उत्पन्न थी।

छूआछूट विरूद्ध डॉ0 अम्बेडकर के आन्दोलन को तीन चरणों में बाट सकते है पहले चरण का आरम्भ सन् 1920 ई0 में "मूक नामक" नाम की पाक्षिक पत्रिका के प्रकाशन से हुआ। इस काल मे उन्होने दलितों के सामाजिक और धार्मिक अधिकारों पर

---

1. डा0 भीम राव अम्बेडकर व्यक्तित्व के कुछ पहलू : मोहन सिंह, द्वितीय संस्करण 2001

अधिक जोर दिया। सन् 1924 ई0 में उन्होने वहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना की। सन् 1929 ई0 में उन्होने अपनी जाति विरादरी के वास्ते महाद के सार्वजनिक तालाब के प्रयोग के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। श्री कृष्ण लाल श्री धरानी ने कहा था "इतिहास मे पहली बार कमित अस्पृश्य " अपनी लड़ाई खुद लड़ने के लिए उठ खड़े हुए। यह एक आंतरिक बिद्रोह था, बाहर से थोपा गया सुधार नहीं"।

भारत के संविधन के शिल्पी प्रकांड पंडित पद दलितों के मसीहा बाबा साहब डाक्टर भीम राव अम्बेडकर ने अपने अथक परिश्रम, लगन और विशेष प्रयासों से देश विदेश में उच्च शिक्षा प्राप्त कर एक सर्जनशील लेखक के रूप में ख्याति अर्जित की । बाबा साहब के बिचार उनकी कृतियों में संकलित है उनकी प्रमुख कृतियाँ है "शूद्र कौन? गौतम बुद्ध एण्ड हिज धम्म" हिन्दू नारी का उत्थान – पतन" कास्ट इन इण्डिया (1916), फेडरेशन वर्सेज फ्रीडम (1939), रानाडे गांधी एण्ड जिन्ना (1943), पाकिस्तान आर पार्टीशन आफ इण्डिया (1945), दि अनटचेबल्स (1948) इत्यादि उनकी प्रमुख कृतियां है। उन्होनें उपर्युक्त कृतियों में अपने स्वतन्त्र तथा शोधपरक बिचार निर्भीकता के साथ व्यक्त किये है।

संविधान निर्माता डॉ0 भीम राव अम्बेडकर के जीवन में कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी हैं। मई सन् 1928 ई0 में साइमन कमीशन के समक्ष गवाही दी। सन् 1932 ई0 लंदन में हुई गोल मेज सभा में प्रतिनिधि नियुक्त हुए इसी वर्ष सितम्बर माह में रैमेंज मैकडोनल्ड द्वारा कम्युनल ऐवार्ड मे अछूतों के पृथक निर्वाचन प्रतिनिधित्व को त्यागकर महात्मा गांधी के साथ "पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर किये और संयुक्त निर्वाचन मंजूर किया। अगस्त सन् 1936 ई0 में इन्डीपेन्डेट लेबर पार्टी की स्थापना की अगस्त सन् 1947 ई0 डॉ0 भीम राव अम्बेडकर ने पीपुल्स एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना की तथा सन् 1947 ई0 मे ही वह नेहरू मंत्रिमण्डल में विधि मंत्री के रूप में शामिल हुए। 14 अक्टूबर सन् 1956 ई0 को दशहरे के पावन पुण्य तिथि को डॉ0 अम्बेदकर ने अपने लाखो अनुयायियों के साथ नागपुर में 83 वर्षीय बौद्ध भिक्षु चन्द्रमणि से बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर धर्मान्तरण किया। अन्ततः 6 दिसम्बर सन् 1956 ई0 में डॉ0 अम्बेडकर का यह संघर्षपूर्ण जीवन समाप्त हो गया तथा हमेशा के लिए अमर हो गये। इतिहास गवाह है कि डॉ0 अम्बेडकर और गांधी दोनो ही सामजिक शोषण, रूढ़िवादी और जाति प्रथा

कलंक को मिटाने के लिए दोनों ने अपने–अपने ढंग से इस कुप्रथाओं का विरोध किया । मिलकर लड़ाई कभी न लड़ सके जबकि दानों ही कमजोर जातियों का उत्थान करना चाहते थे। इस प्रकार दोनों में बहुत सी समानताएं होते हुए उनके विचारात्मक दृष्टिकोणों में गहरी भिन्नताएं मिलती है। यह भिन्नता उनकी विचारों पर ज्यादा गहरी है कर्म के स्तर पर भी गॉधी का विचार सनातनी हिन्दू के सॉचे में थोड़े से अंतर के साथ समाहित है, पर अम्बेडकर के मन में उनके अपने कटु अनुभवों के कारण हिन्दु समाज व्यवस्था और चिंतन दृष्टि के प्रति विद्रोह का भाव है।

डॉ0 अम्बेडकर और गांधी दोनों छुआ–छूत के प्रबल विरोधी थे। लेकिन लक्ष्य समान होते हुए भी उसे हासिल करने के लिए उनके उपायों में काफी भिन्नता थी। इस मतभेद को नजर अंदाज करना उतना ही घातक होगा जितना की उस पर जोर देना। गांधी अम्बेडकर का संघर्ष ऐतिहासिक सच है, अम्बेडकर ने गांधी के साथ अपने मतभेदों को न सिर्फ आजीवन उग्रता से प्रस्तुत किया वरन गांधी को दलितों के सबसे बड़े शत्रु के रूप में पेश किया । सन् 1920 ई0 में असहयोग आन्दोलन से लेकर सन् 1921 ई0 में बिटेन से पूर्व स्वतन्त्रता की मांग के लिए देश और कांग्रेस को तैयार करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। गांधी का मानना था कि इस लक्ष्य को हासिल करने के भारतीयों में व्यापक एकता जरूरी है इसके खिलाफ अम्बेडकर का सबसे बड़ा लक्ष्य अछूतों पर सदियों से लादे गये गुलामी और अमानुषिकता के जुए को नष्ट करना था।

डॉ0 अम्बेडकर और गांधी में खुल्लम–खुल्ला टकराव सन् 1931 ई0 में लंदन में हुए दूसरे गोलमेज सम्मेलन में सामने आये। दूसरे सम्मेलन में गांधी कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि थे। इसमें भाग लेने से पहले अम्बेडकर और गांधी में एकमात्र मुलाकात 14 अगस्त सन् 1931 ई0 में बम्बई के मणिक में हुई। इस मुलाकात में डॉ0 अम्बेडकर ने गांधी को अपनी यह बात समझाने की कोशिश की कि कांग्रेस ने अब तक अछूतो की दशा सुधारने के लिए कोई ठोस कार्य नही किया है। उन्होने कहा कि गांधी की यह भ्रांत धारणा है कि उनकों जनता के प्रतिनिधि के रूप में अछूतों का भी भारी समर्थन प्राप्त है। गांधी डॉ0 अम्बेडकर के इस राय से सहमत नहीं थे कि कांग्रेस दलितों के लिए कुछ भी नही कर रही है। गांधी और डॉ0 अम्बेडकर में से कोई भी एक दूसरे से अपनी बात नही मनवा सका (द टाइम्स ऑफ इंडिया, 15 अगस्त 1931)।

इस बातचीत के दौरान एक बड़ी गलती गांधी से भी हुई। उनको डॉ0 अम्बेडकर के बारे में यह तो पता था कि अछूतों के उत्थान के लिए काम कर रहे हैं लेकिन उनको यह जानकारी नही थी कि अम्बेडकर स्वंय अछूतों में से एक है। गांधी को लगा कि अम्बेडकर भी इन दिनों सक्रिय अनेक उच्च वर्गीय सुधारकों में से एक है। इसलिए उस मुलाकात में गांधी का रूख उपेक्षापूण भी रहा और थोड़ा अहंयुक्त भी । उन्होनें शुरूआत में ही यह दावा किया कि वे अछूतों की समस्या पर तब से सोचते रहें है, जबकि अम्बेडकर का जन्म भी नही हुआ था। जबाब अम्बेडकर ने भी उतने ही रूखे स्वरूप में दिया कि इसकी वजह यह है कि आप मुझसे पहले पैदा हुए थे। प्रथम गोलमैज सम्मेलन में उन्होंने यही रूख लिया । गांधी ब्राह्मण और ब्राह्मणवाद से नही, बल्कि दक्षिण अफ्रीकी गोरी सरकार के अमानवीय व्यवहार के भुक्तभोगी थे। यह सच है कि गांधी ने ब्राह्मणवाद का समर्थन किया। दुर्भाग्य की बात यह है कि गांधी, अम्बेडकर की और अम्बेडकर, गांधी को ठीक–ठीक नही समझ सकें। फलतः दोनों के बीच भ्रमों को जाल खड़ा हो गया और वे इस जाल को तोड़ कर मिल नही सके।

गांधी और अम्बेडकर की स्थिति को पूरा लाभ फिरंगी सरकार ने उठाया। अगस्त सन् 1932 ई0 में अंग्रेजों ने एक खास तरह का साम्प्रदायिक माहौल बना दिया। इस चाल के तहत प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय के लिए कुछ सीटें विधानमंडलों में सुरक्षित की गयी, जिनके लिए पृथक चुनाव मण्डलों को स्वीकार किया गया। 20 सितम्बर सन् 1932 ई0 को गांधी जी आमरण अनशन पर बैठ गये। कई राजनैतिक दलों ने इस अनशन को गांधी का राजनैतिक नाटक कह कर विरोध किया । लेकिन जनता ने इस अनशन को भारी समर्थन दिया। गांधी, अम्बेडकर का मेल रंग लाया और आखिरकार एक समझौता हुआ जिसे 'पूना पैक्ट या पूना समझौता के नाम से जाना जाता है। इस पूना पैक्ट के तहत दलितों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल का विचार समाप्त कर दिया गया और सुरक्षित सीटों की संख्या में 18 प्रतिशत की वृद्धि की गयी। गांधी ने समय पाकर छुआछूत निवारण आन्दोलन चलाया। 7 नवम्बर सन् 1933 ई0 को वर्धा से हरिजन यात्रा शुरू की और 9 मार्च तक देश का भ्रमण किया।

इस तरह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो तमाम मतभेदों के बावजूद दलितों की मुक्ति मोर्चा पर डॉ0 अम्बेडकर और गांधी एक दूसरे के पूरक थे। डॉ0 अम्बेडकर और

गांधी ने दलितों के। आत्मसम्मान और अपने मानवीय अधिकारों के लिए चेतना जगायी यह सही है कि संवैधानिक मान्यता के बाद भी अछूतों को सम्मान नही मिल पा रहा और स्त्रियों पर अमानवीय अत्याचारों की वारदातें बढ़ रहीं हैं। इसका कारण यह भी है कि हमनें इस विकराल समस्या को महज राजनीतिक ताकत की आजमाइश तक सीमित कर दिया है। अन्तिम विश्लेषण में हम डॉ0 अम्बेडकर एवं महात्मा गांधी से क्या ऐसा कुछ सीख पातें हैं जो पूरे दलित समाज के लिए महत्वपूर्ण ढंग से प्रासंगिक हो। दलित दृष्टिकोण के अनुरूप थोड़ा बदलने की जरूरत भी है, क्योंकि दलितों के लिए गॉव नरक कुण्ड की तरह है। गांवों को दलितों के रहने योग्य बनाना होगा। गांधी और अम्बेडकर की वैचारिक मुठभेड़ के संदर्भ में, मतभेदों को स्वीकार ने और उसके परिक्षण से हम उनके बीच एक गतिशील एकता की सच्चाई तक पहुंचते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त विवेचना से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि बाबा साहब आजीवन सामाजिक एवं आर्थिक असामनता के विरूद्ध संघर्षरत रहे। वे सर्वहारा वर्ग के मसीहा थे वर्तमान पीढ़ी के लोग आगे बढ़ने के लिए उनके जीवन से शिक्षा ग्रहण कर सकते है। आने वाली पीढ़ियों के लिए भी उनका जीवन प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

दलितोत्थान :

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब दो गणतन्त्र बना तब अम्बेडकर जैसे संविधान के निर्माताओं ने अन्त्यज लोगों, तथा कथित शोषित जातियों को, एक सूत्र में बॉधनें के लिए अनुसूचित जाति जनजाति का नाम दिया, परन्तु उनके उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकी। 'हरिजन' शब्द आज भी प्रचलित है इसे असंसदीय करार दिया है।

महात्मा गांधी ने अन्त्यज लोगों को 'हरिजन' नाम से अभिहित किंया है। सन् 1932 ई0 में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की उनका तात्पर्य था कि अछूत कहे जाने वाले लोगों को एक सूत्र में बॉधने के लिए एक नाम दिया जाए। परन्तु बाद में यह शब्द 'हरिजन' दया का द्योतक बना गया जो आज वर्तमान में असंसदीय घोषित कर दिया गया है।

दलित आज के सन्दर्भ में एक सटीक शब्द है, क्योंकि महान केवल उनकी पूरी स्थिति का निचोड़ है बल्कि संघर्ष की भी प्रेरणा देता है। " जिस दिन 'हरिजन' शब्द की भॉति 'दलित' शब्द प्रेरणा का स्रोत नहीं रह जाएगा, उस दिन यह भी सटीक नहीं रहेगा। क्योंकि यह परिवर्तन का युग है और आज का दलित परिवर्तन चाहता है।

स्वाधीनता मिलने से आज तक दलित माध्यमों से इतना धन व्यय किया गया है कि आज यह समस्या नहीं रहनी चाहिए परन्तु समस्या हैं इनके धन से सवर्ण और कुछ इने–गिने दलित अवष्य ही अमीर हो गए हैं । क्यों ? क्योंकि अभी तक केवल प्रशासनिक उपाय ही किए गये हैं जैसे हरिजन उत्पीड़न के निदान के लिए हरिजन थानों की स्थापना, छुआछूत दूरकरने के लिए अस्पृश्यता निवारण अधिनियम, मुकदमा लड़ने के लिए सहायता बोर्ड का गठन आदि।

डॉ0 अम्बेडकर ने अपने जीवन के अंतिम क्षणों में दो महत्वपूर्ण कदम उठाए थे... .... एक था धर्मांतरण का और दूसरा था दलितों की एक स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी रिपब्लिकेन पार्टी ऑफ इंडिया के सूचीकरण का । इन दोनों कदमों का उद्देश्य दलितों को समुदायगत रूप से समाजिक राजनीतिक तौर पर सुदृढ़ करना था। सन् 1936 ई0 में स्वतंत्र मजदूरपार्टी, सन् 1942 ई0 में अनुसूचित जाति संघ बनाने का प्रयास किया परन्तु पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। सफलता आज मिलती दिखाई देती है जब दलितों की सोंच बदल रही है। वे संगठित होने के लिए वेचैन हो रहे हैं। उनकी मानसिकता बदल रही है। अप्रैल सन् 1927 ई0 में डॉ0 अम्बेडकर नें 'बहिष्कृत भारत' पाक्षिक की शुरूआत की थी । दलित आज भी समाज में 'बहिष्कृत' ही माने जाते है दलितों को मुख्य धारा में आने के लिए, एक प्रतिष्ठित स्थान पाने के लिए दूसरों के संघर्ष पर नहीं बल्कि अपने संघर्ष पर विश्वास करना होगा। मै माहौल में बदलाव की बात पर जोर देनाा चाहता हूँ क्योंकि जब तक वातावरण नहीं बदलता तब तक आदमी का दिमाग नही बदलता। सभी अच्छाइयों बुराइयों की जड़ दिमाग में होती है अतः दिमागी परिवर्तन की आवश्यकता है, पर किसके? इसका उत्तर हम आप को ढूंढना है। दलित समाज को ढूंढना है।

इतिहास की यह एक अजीब विडम्वना है कि अम्बेदकर और गांधी दोनों ही रूढ़िवादी सामाजिक शोषण और जाति प्रथा के कलंक को मिटाने की लड़ाई लड़ने पर

भी अलग–अलग रहे। मिलकर लड़ाई न लड़ सके, जबकि दोनों ही दलित जातियों की स्थिति में बुनियादी सुधार लाना चाहते थे।दोनों में बहुत सी समानताएँ कहीं जा सकती हैं परन्तु वैचारिक दृष्टि से दोनों में गहरी भिन्नता विद्यमान थी गाँधी जी का मानसिक गठन विचारशील सनातनी हिन्दु के सांचे में थोडें से अन्तर के साथ समाहित है, पर अम्बेदकर के मन में उनके अपने कटु अनुभवों के कारण हिन्दू समाज व्यवस्था और चिन्तन दृष्टि के प्रति विद्रोही का भाव है।

गाँधी और अम्बेदकर दोनों छुआ छूत के प्रबल विरोधी थे दोनों ने ही लक्ष्य को हासिल करने का प्रयास किया लेकिन लक्ष्य समान होते हुए भी उसे प्राप्त करने के उपायों और प्राथमिकताओं के बारे में उनमें बुनियादी मतभेद थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि गांधी, अम्बेदकर का मतभेद एक ऐतिहासिक सच है, अम्बेदकर ने गाँधी के साथ अपने मतभेद को न सिर्फ आजीवन उग्रता से पेश किया है, वरन गांधी को दलितों का सबसे बड़ा शत्रु माना है।

गांधी ने जीवन भर छुआ छूत का विरोध किया, लेकिन उसके साथ ही वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सबसे प्रबल प्रवक्ता भी थे। गांधी का मानना था कि इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए भारतियों में व्यापक एकता जरूरी है। भारत के अत्यन्त जटिल, जन्मजात, उँच–नीच और शाश्वत सामाजिक विभाजनों से ग्रस्त परिवेश में गांधी न्यूनतम मतभेद और अधिकतम सहमति की तलाश में थे।

अम्बेदकर का सामाजिक विभाजन के प्रति सबसे बड़ा लक्ष्य अछूतों पर सदियों से लादे गए गुलामी और अमानुषिकता के जुए को नष्ट करना था। उनको डर था कि देश स्वतंत्र होने के बाद उच्चवर्ग के लोग अपने बहुमत से दलितों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर सकते हैं।

गांधी जी दूसरे गोलमेज सम्मेलन सन् 1931 ई0 के दौरान यह जान गए कि अम्बेदकर अछूतों के उत्थान के लिए काम कर रहें हैं, लेकिन उनको यह जानकारी नहीं थी कि अम्बेदकर स्वंय अछूतों में से एक हैं। अम्बेदकर जोर देकर कहते हैं कि यदि हिन्दू धर्म को बचाना चाहते हो तो ब्राहमण वाद को खत्म करो। इस तरह के विचारों के कारण कम्युनिस्ट अपने वर्ग संघर्षवाद में गाँधी की तरह डॉ0 अम्बेदकर का भी डट कर विरोध करते रहे। इस तरह ऐतिहासिक परिप्रक्ष्य में देखा जाए तो तमाम मतभेदों के बावजूद दलितों की मुक्ति मोर्चा पर डॉ0 अम्बेदकर और गांधी एक दूसरे के पूरक थें ।

गांधी और अम्बेदकर ने दलितों के आत्मसम्ममान और अपने मानवीय अधिकारों के लिए चेतना जगायी ।

देश में मौजूदा दलित उभार एवं राजनीति की दिशा पर गहराई से सोंचने की जरूरत है। खासकर अपनेको दलितों को असली रहनुमा मानने वालें लोगों द्वारा वर्गवादी साम्प्रदायिक शक्तियों के बार–बार सहयोगी बन जात की परिघटना ने तो बुनियादी सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया के सामने ही प्रश्न खड़ा कर दिया है। यह अजीब विडम्वना है कि बात–बात पर ज्योतिबाफूलें, पेरियार, अम्बेदकर आदि का नाम लेने वाली दलित जमातें अपने राजनीतिक सामाजिक कर्म में उनकी शिक्षाओं और सपनों के साथ वैसा ही सलूक करने लगी है जैसा गाँधी का नाम लेने वाले राजनीतिक खिलाडी गाँधी के आर्दर्शों से करते रहे हैं। होना यह चाहिए था कि अपने विकास की इस मंजिल तक पहुँचकर दलित आंदोलन अपनी गलितयों से आगे निकलते हुए मूलगामी सामाजिक बदलावों के एजेंडे की ओर बढ़तें और अपनी महान विरासत को तार्किक परिणति तक ले जाते। परन्तु दलित आन्दोलन लक्ष्य विहीन हो रहा है।

दलित चेतना के निर्माण एंव उसमें गति एंव शक्ति भरने वाले नायकों में केवल दलित जाति में उत्पन्न लोग ही शामिल नहीं रहे है। दक्षिण भारत में आत्म सम्मान आन्दोलन के जरिए समाज के दवे कुचले तबकों में जागृति पैदा करने वाले ई0 वी0 रामास्वामी नायकर पेरियार जन्मना दलित ने होते हुए भी देश में दलित नवजागरण के एक आधार स्तम्भ है। हमें लगता है कि पेरियार एंव अम्बेदकर की संयुक्त विरासत से ही दलित – मुक्ति ऋचा लिखी जा सकती है।

दलितों के विकास में हमारा पहला कदम होना चाहिए सामाजिक स्तर पर खंडित जातियों को एक करना। आपसी छुआछूत, छोटा–बड़ा, ऊँच–नीच के विचारों को समाप्त करना। दूसरा महत्वपूर्ण कदम होगा उपजातियों को धीरे–धीरे मुख्य जातियों के दायरे में लाना।

ये सारी बातें सामाजिक परिर्वतन की है। सामाजिक परिर्वतन शनैः शनैः होता है क्योंकि यह परिर्वतन भौतिक नहीं मानसिक है। आज हमे अपने समाज के भविष्य के लिए सोचने की आवश्यकता है। सोचता तो हर व्यक्ति है परन्तु वह क्या सोचता है वह महत्वपूर्ण होता है। प्रो0 थार्नडाइक के अनुसार "दैट ए मैन थिंक्स इज ए बाइलोजिकल फैक्ट, ह्वाट ही थिंक्स इज ए सोसियोलाजिकल फैक्ट।" अनुसूचित जाति का अध्यापक

जब पढ़ने जाता था और सवर्ण सहपाठियों से अपमानित होता था तब सोचता था कि "नहीं पढ़ता तो अच्छा होता", यह अपमान ही डा0 अम्बेंडकर को "दलितों क मसीहा के रूप में रूपान्तरित कर दिया और महात्मा फूले को "सत्य शोधक आन्दोलन" चलाना पड़ा था तथा मोहनदास करम चन्द गाँधी को महात्मा गाँधी बना दिया। आज एक नहीं हजारों अम्बेदकर की जरूरत है। दलित बहुत हर गाँव, कस्बे, मुहल्ले मे एक छोटे–मोटे अम्बेदकर की आवश्यकता है। अम्बेडकर पैदा करना हमारा और आपका पुनीत कर्तव्य है। आइए आज हम अपने–अपने स्तर पर समबेल रूप से ऐसी शिक्षा का प्रसार करें जो अम्बेदकर पैदा कर सके, जो कुरीतियों को दूर करने का मंत्र दे सके, जो अशिक्षा के अन्धकार को भगा सके।

डॉ0 अम्बेदकर की तरह हमें निडर, आत्म सम्मानी और दो टूक बात करने वाला होना चाहिए। यदि गाँधी द्वारा अम्बेदकर की सलाह के अनुसार कांग्रेसी सदस्यों को चुना गया होता तब अस्पृश्यता, सामाजिक भेदभाव जैसी कुरीतियां आज नहीं होती।

हम ऐसे वातावरण का निर्माण करे जिसमें सवर्णो को पाश्चाताप का अवसर मिलें और जाति–गोत्र की संस्कृति समाप्त हो, गुणों के आधार पर मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित हो अन्यथा रामधारी सिंह दिनकर की पुस्तक "रश्मिरथी" के शब्दों में–

"धस जाय यह देश अतल में, गुण की जहाँ यही पहचान।
जाति–गोत्र के बल से ही आदर पाते हैं जहाँ सुजान।।

दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें दलितों ने स्वयम अपनी पीड़ा को रुपायित किया है। अपने जीवन–संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनका उसी की अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला नही, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है। हिन्दी में दलित साहित्य का इतिहास उतनाही पुराना है जितना कि हिन्दी साहित्य का इतिहास। दलित साहित्य जाति भेद, ऊंच–नीच, और अस्पृश्या का विरोधी है। वह अलगाव का नहीं, समता का समर्थक है। वह हर प्रकार का गुलामी और अन्यान्य को नापसन्द करता है और मानव स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय का पक्ष लेता है। वह जाति और वर्ण की व्यवस्था के विरूद्ध सम्पूर्ण सामाजिक परिर्वतन की चेतना

का साहित्य है। दलित साहित्य का मतभेद मार्क्सवाद के साथ कई बिन्दुओं पर है, जिसके प्रमुख है सामाजिक और सत्ता परिवर्तन के बीच के छन्द एवं लोकतंत्र और अधिनायकवाद के बीच के द्वन्द। दलित साहित्य राजनैतिक क्रान्ति के साथ–साथ सामाजिक क्रांति पर भी जोर देताहै। और अधिनायकवाद के विरूद्ध लोकतंत्र का पक्षधर है।' दलित साहित्य स्त्री सवालों पर भी संवेदनशील है।

दलित आत्मकथा ने भारतीय साहित्य मे एक विशिष्ट विधा के रूप में स्थान बनाया है। भगवानदास की सामाजिक आत्मकथा 'मैं भंगी हूँ' व्यक्तिगत आत्मकथा न होकर पूरी जाति की सामाजिक आत्मकथा है इसलिए दलित साहित्य के संन्दर्भ में महत्वपूर्ण होते हुए भी सृजनात्मक आत्मकथा के दायरे में नहीं आती।

सर्वप्रथम मोहन दास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' (वाणी प्रकाशन) 1995 (दूसरा भाग 1996), ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन(1997), कौशल्या बैसंती की आत्मकथा (दोहरा अभिशाप 1999), इनके अलावा दयानन्द बटोही, एवं माता प्रसाद आदि लेखक भी अपनी विभिन्न सृजनात्मक एवं आलोचनात्मक कृतियाँ में साहित्यिक गुणवत्ता के स्तर को प्राप्त करते है।

दलित लेखन ओम प्रकाश वाल्मीकि का स्थान साहित्यिक गुणवत्ता की दृष्टि से सर्वोपरि है उनकी आत्मकथा 'जूठन' पहली बार राजकिशोर द्वारा सम्पादित पुस्तक 'हरिजन से दलित' में हवा थी। जूठन दिल दहला देने वाली दलित लेखक की सच्ची कहानी है। इसमें गांव के पूरे जीवन की स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है।

जूठन आत्मकथानक उपन्यास के माध्यम से लेखक ने भारतीय समाज में वर्गगत व्यवस्था की त्रुटियाँ एवं पीड़ा को दर्शाने का प्रयास किया है। जो स्वयम् भारतीय परिवेशमें झेला है। यह वर्ग सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है। भारतीय समाज के स्वतंत्रता प्राप्ति के पाँच दशक बाद भी सर्वहारा वर्ग या प्रतिनिधित्व करने वाला भारतीय समाज का तथा कथित दलित वर्ग की पीड़ा एवं दर्द को दिखाने का प्रयास किया है। वाल्मीकि ने सामाजिक कुरीतियों और परम्पराओं को अपने आत्मकथा 'जूठन' के माध्यम से समाज के बीच लाने का प्रयास किया है।

दलित ही दलित की पीड़ा समझ सकताहै या केवल राख ही जानती है जलने का अनुभव जैसे कथन प्रकारान्त से कार्य–कारण वाले सिद्धांत पर आधारित पुराने विधेयवाद को नया परिधान देने के प्रयास है। मार्क्सवादी समीक्षक डॉ0 नामवर सिंह का

कथन–" वाल्मीकि, व्यास, तुलसी, प्रेमचन्द के उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि ये श्रेष्ठ साहित्यकार तमाम वर्गो से ऊपर और निष्पक्ष नहीं थे। इन सभी साहित्यकारों ने पीड़ित दलित और सताएं हुये का पक्ष लिया था और इसी तरफदारी के कारण उन में उच्च *कोटी की मानवतावादी भावनाएं थी जबकि समाज में स्वार्थो का संघर्ष है तो मानवता* दलित लोगों के पक्ष में होती है, तटस्थता में नहीं होती[1]

डा0 जय प्रकाश कर्दम का उपन्यास 'छप्पर' है जो दलित वर्गीय जीवन से ओत प्रोत है। दलित साहित्य में सर्वहारा वर्गीय संचेतना का उभार प्रतिबिम्बित होता है।

गिरिराज किशोर हिन्दी के प्रतिष्ठित उपन्यासकार है जिनको महात्मा गांधी के जीवन पर आधारित 'प्रथम गिरमिटिया' उपन्यास पर वर्ष 2000 में व्यास सम्मान प्रतिष्ठित पुरस्कार से अलंकृत किया गया है इनका मुख्य उपन्यास जुगलबंदी, दो यात्राए, इन्द्रसूने, लोग यथा प्रस्तावित व असलाह है इन्होंने समाज में दलित समस्या और जाति विभाजन को लेकर गम्भीर लेखन किया। इसके उपन्यास यथा प्रस्तावित व परिशिष्ट में विशेष रूप से संस्थाओं में दलित छात्रों के साथ जो अमानवीय व्यवहारहोता है उसे उपन्यासकार ने दलित विषय बनाया है। इनका कहना है कि' सच पूछिए तो जातियाँ अनुसूचित नहीं होती । मानसिकता ....होती है। मानना और समझना दोनों' । इन्होंने भारतीय समाज में काफी बड़े पैमाने पर व्यास जातिवादी व्यवस्था को परिशिष्ट में एक उच्च स्तरीय शिक्षण संस्थान के सन्दर्भ में काफी निर्ममता और वस्तुगता के साथ उघाड़ा है। उपन्यास का दुःखान्त कथित निम्न जातियों या दलित वर्ग के सामने, बावजूद सारे कानूनी अधिकारों के, उच्च जाति वाद के व्यवस्था पहाड़ का क्रूर चित्र प्रस्तुत करता है। उपन्यास परिशिष्ट का राम उजागर के जुझारू व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मुडा हुआ चरित्र अनुकूल राम का व्यक्तित्व बाहरी रूप में प्रखर अभिव्यक्ति वाले स्वरूप में अलग एक आन्तरिक संघर्षशील व्यक्तित्व को ग्रहण कर रहा है, जिसमें यह धैर्य अधिक है कि इस अन्यान्य को उसे लम्बे समय तक झेलना है, लेकिंन इस अन्यान्य से प्रताड़ना भले ही झेल ले, इसके आगे झूकना नहीं है, इससे पराजित नहीं होना है, और न ही इससे पलायन करना है। वह उच्च जाति दम्भी गुण्डे लड़कों की मार भी बिना पटलकर वार किएं झेल जाता है लेकिन आई0टी0आई0 छोड़ने का नहीं, वही बने रहने का निर्णय लेता है। उसका भविष्य बहुत आशावान नहीं है लेकिन पलायन कर

---

1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां : डॉ नामवर सिंह,पृष्ठ–116

पीछे लौटना और भी अधिक निराशा की कारण है। इसलिए वह कुछ हद तक गांधीवादी निष्क्रिय प्रतिरोध का रास्ता चुनता है। पूरे उपन्यास में दलित सम्वेदनाओं के प्रति निरपेक्षता का भाव दीखता है। उपन्यास के आदि से अन्त तक उपन्यासकार की संवेदना, सहानुभूति, और लगाव पूरी प्रतिबद्धता के साथ अपने उपन्यास के प्रताड़ित दलित चरित्रों के प्रति है। जगदीश चन्द्र की उपन्यासत्रयी की तरह ही गिरिराज किशोर के इस उपन्यास में दलित जीवन के यथार्थ को उच्च शिक्षण संस्थाओं के सन्दर्भ में पूरी वस्तुगता, मानवीय संवेदना न सहानुभूति के साथ चित्रित किया गया है।

आज का दलित साहित्य सर्वहारावर्ग के प्रति सचेष्ट है वैसे हिन्दी में दलित साहित्य आन्दोलन मराठी साहित्य के प्रभाव से उत्पन्न हुआ। दलित साहित्य और चिन्तन से जुड़े अधिकांश विचारकों तथा लेखकों का मानना है कि वास्तविक दलित साहित्य वही है जो दलित द्वारा लिखा गया है। सृजनात्मक दलित लेखकों में ओम प्रकाश वाल्मीकि, कौशल्या वैसंत्री, सूरज पाल चौहान, डॉ0 धर्मवीर, कुसुम वियोगी, मोहनदास नेमिशराय, डॉ0 तुलसीराम, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराजसिंह बेचैन आदि हों अथवा गैर दलित लेखकों में राजेन्द्र यादव, मैनेजर पाण्डेय, गिरिराज किशोर आदि " यदि हम मैनेजर पाण्डेय के एक साक्षात्कार में उद्घृत ज्योतिबा फूले के उस कथन को ध्यान में रखे कि 'गुलामी की यातना को जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कहता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नहीं तो साफ पता चलता है कि दलित जीवन की वास्तविक पीड़ा को वही व्यक्त कर सकता है जो स्वयम् दलित है।[1] संत रैदास की आत्मस्वीकृति, दलित जाति और जीवन से जुड़ी जिस दूसरी पीड़ा की ओर संकेत करती है, उसे वही लोग समझ सकते है जो उससे गुजर चुके है। उनकी भक्ति भावना भले ही समाज की निगाह में ऊंची हो, मगर उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा

रैदास जन्म के कारणै, होत न कोई नीच।
नर को नीच करि डारि दै, औछे करम की नीच।।[2]

हिन्दी में दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं की शुरूआत, कबीर, रैदास, प्रेमचन्द, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला जैसे रचनाकारों से होती है लेकिन उनकी रचनाओं की पहचान दलित साहित्य के रूप में कम, शूद्र और निम्नवर्गीय समाज पर केन्द्रित साहित्य

---

1. दलित साहित्य की वैचारिक संरचना (आतकल दिसम्बर, 2000 में प्रकाशित) : देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ–106
2. वही, पृष्ठ–6

के रूपमें अधिक होती है।[1] ओम प्रकाश वाल्मीकि वर्णव्यवस्था से उपजी घोर अमानवीयता, स्वतंत्रता–समता विरोधी सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रक्रिया को तेज करना दलित साहित्य की मूलभूत संवेदना है तथा इसी क्रम में उनका यह स्वीकारना कि अम्बेडकर और ज्योतिबा फूले की जीवन दृष्टि दलित साहित्य की ऊर्जा है।[2]

दलित साहित्य सामाजिक, सांस्कृतिक मानसिकता में परिवर्तन के साथ–साथ राजनीति में दलितों की आवाज बुलन्द करना चाहता है। जय प्रकाश कर्दम,"दलित साहित्य की संकल्पना में" दुनिया में मानव सबसे बड़ी सत्ता है मनुष्य से बढ़कर कोई चीज नही है। इसलिए दलित साहित्य न वेदो की प्रभाविकता को स्वीकार करता है, न ईश्वर, आत्मा आदि किसी भी नित्य अपना शाश्वत सत्ता के अस्तित्व को मानता। वह कर्म औरकार्यकाल को भी मनुष्य में निहित मानता है।"[3]

इस पर राजकुमार सैनी का यह वक्तव्य उचित हो सकता है, "ब्राहमणवाद, ठाकुरवाद, अथवा बनियावाद जितना अवांछनीय है, उतना ही अवांछनीय शूद्रवाद भी हो सकता है। कोई भी श्रेष्ठ संस्कृति अथवा कोई भी श्रेष्ठ साहित्य अपने समाज के एक हिस्से, एक वर्ग, एक जाति का पक्षधर होकर सार्थक नहीं हो सकता। अन्ततः उसे पूरे समाज के कल्याण के साथ अपने को जोड़ना ही पड़ता है।" मानवता के कल्याण के लिए साहित्यकारों द्वारा लिखा गया उपन्यास सर्वहारा वर्ग के लिए तभी सार्थक होगा जब तक जातिभेद, धार्मिक संघर्ष, आर्थिक शोषण, हिंसा और गैर बराबरी समाप्त नहीं हो जाती।

नारी नवजागरण :

स्वतंत्रता–प्राप्ति से पूर्व भारत दासता की बेड़ियों में जकड़ा था। नारी की स्थिति पुरूष से भी दयनीय तथा सोचनीय थी। समाज भूल चुका था कि कभी दुर्गा, लक्ष्मी, अदिति, ऊषा, इला, श्रद्धा जैसी देवियाँ गार्गी जैसी ब्रह्मवादिनी, तथाा आपाला, लोपामुदा, मैत्रेयी, भारती जैसी सूक्तों की रचयिता विदुषी स्त्रियाँ भी इसी देश मे जनमी

---

1. दलित साहित्य की वैचारिक संरचना (आतकल दिसम्बर, 2000 में प्रकाशित) : देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ–8
2. वही, पृष्ठ–8
3. दलित साहित्य एक परिचय (आजकल दिसम्बर 2000 में प्रकाशित), पृष्ठ–12

थीं। स्त्रियों की वीरता, साहसिकता, कर्त्तव्यपरायणता एवं विद्वता सराहनीय भी।[1] भारतीय मनीषियों का "यत्र नार्यस्ते पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"[2] का उद्घोषक विस्मृतप्राय हो चुका था। इसका स्थान मनु के निम्नांकित श्लोक की भावना ने ले लिया था।

बाल्ये पितुवर्श तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।

पुत्राणां भर्तरिप्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्।।

अर्थात् "स्त्री बचपन में पिता के, जवानी में पति के और पति के मर जाने पर बुढ़ापे में पुत्र के वश मे रहे (उनके आज्ञा और सम्मति के अनुसार कार्य करे) स्वतंत्र कभी न रहे"।[3] देश की राजनीतिक स्थिति ने धार्मिक एवं सामाजिक सुधार ने तथा शिक्षा ने नारी – जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। शिक्षा के व्यापक प्रसार तथा पाश्चात्य जगत के संसर्ग ने भारतीय चिंतन को नई दिशा दी। नारी उत्थान मे आर्य समाज (सन् 1875 ई0), बह्म समाज (सन् 1828 ई0), थियोसीफिकल सोसाइटी (सन् 1876 ई0), तथा गांधी जी के राजनीतिक आंदोलनों ने सहयोग दिया। नारी को यह ज्ञान होने लगा कि वह वस्तुतः अबला नहीं, सबला है। स्त्री वस्तुतः पुरूष की गुलामी नही, अपितु सहधर्मिणी, अर्धांगिनी और मित्र है।

19वीं शताब्दी में नारी जागरण का प्रयास पुरूष द्वारा हुआ था, किन्तु 20वीं शताब्दी में नारी ने स्वयं स्वतंत्रता का आन्दोलन चलाकर अपनी जागरूकता का परिचय दिया। आल इंड़िया वीमेंस कान्फेस (सन् 1927 ई0), इंड़ियन होमरूल लीग (सन् 1928 ई0), इंटरनेशनल फेडेरेशन आफ यूनिवर्सिटी वीमेंस (सन् 1917 ई0), यूनिवर्सिटी वीमेंस एसोसिएशन आदि जैसी राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय संस्थाएं स्थापित की गई। कस्तूरबा गांधी मेमोरियल ट्रस्ट (सन् 1944 ई0), संस्था ने ग्रामणी महिलाओं और बालकों–बालिकाओं के साक्षर बनाने तथा ग्राम सेविकाओं को प्रशिक्षित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

सती–प्रथा निरोधक अधिनियम (सन् 1829 ई0), विधवा पुर्नविवाह (सन् 1856 ई0), बाल विवाह प्रतिबन्ध शारदा ऐक्ट (सन् 1928 ई0) (जो 1 अप्रैल सन् 1930 ई0 से लागू हुआ) बने। हिन्दू मैरिज ऐक्ट (सन् 1955 ई0) द्वारा पुरूष के बहुविवाह पर रोक लगी और अन्तर्जातीय विवाह तथा सबंध–बिच्छेद को स्वीकृत मिली। इसके अतिरिक्त

---

1. भारत की विदुषी नारियां : स्वर्ण भार्गव, पृष्ठ–17
2. मनुस्मृति टीकाकार–हरगोविन्द शास्त्री, 3/ 56, पृष्ठ–113
3. वही, 5/ 148, पृष्ठ–287

हिन्दू स्त्री–संपत्ति अधिकार अधिनियम (सन् 1937 ई0) द्वारा विधवा स्त्री को पति की संपति में अधिकार मिला। हिन्दू दत्तक एंव निर्वाह अधिनियम (सन् 1956 ई0) ने पुत्री को गोद लिए जाने का अधिकार दिया। फलतः नारी को भी जीवन साथी चुनने का, तलाक लेने का और पुनर्विवाह करने का अधिकार मिला। कार्यालयों विद्यालयों, राजकीय संस्थानों आदि प्रायः सभी क्षेत्रों में महिलाएँ कार्य कर रहीं है। " स्वतंत्र भारत की नारी ने अपने चतुर्दिक विकास से सिद्ध कर दिया है। कि .... सभी क्षेत्रों मे पुरूष के समान और कई क्षेत्रों में उससे भी अधिक योग्यता और उत्तरदायित्व से काम कर सकती है।

मार्क्सवाद के अनुसार स्त्री पुरूष का अनुगामी न होकर सहगामी है। "समाज की उन्नति एंव वृद्धि के लिए स्त्रियों की उन्नति और वृद्धि के लिए स्त्रियों के मानसिक और शारीरिक विकास तथा समाज में स्त्रियोंके समान अधिकार के लिए उन्हें भी पैदावर के कार्य मे भाग लेकर उसका फल पाने का अवसर होना चाहिए।[1]

मार्क्सवाद ने पुरूष की विलास लालसा की तृप्ति के उपकरण से भी बढ़कर स्त्री को समाज में स्थान दिया है वह मानता है कि स्त्री समाज का उत्पादक या पैदावार करनेवाला अंग बन जायेगी। मार्क्सवाद की धारणा है कि स्त्रियां भी पुरूषों की तरह मनुष्य है उनके कन्धे पर भी समाज का उत्तरदायित्व उतना ही है। जितना कि पुरूषों के कंधे पर"।[2] परन्तु पुरूष सत्ता का समाज में जहाँ उत्पादन के साधन स्रोत्रों और उत्पादित सम्पति पर अधिकार रहा है, नारी की स्वतंत्रता कभी थी सम्भव नही रहीं हैं। "वास्तव में वहॉ नारी पुरूष के संकेतों पर नाचने वाली वासना तृप्ति और संतानोत्पति का साधन समझी जाती।"[3]

पिछली शताब्दी के प्रौद्योगिकीय एवं आर्थिक परिवर्तनों के कारण न केवल सुस्थापित क्रार्य प्रणाली ही बदली है। बल्कि सोचने तथा कार्य करने की प्रणाली में भी बदलाव आया है। परिणाम स्वरूप स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में भी बदलाव आया है। उसका "स्व " की अवधारणा को भी बल मिला है। नारीवाद रचना दृष्टि आधुनिक युग की कुछ ऐसी ही स्थितियों की उपज है, 19वीं शताब्दी में यह महिला मुक्ति एक विश्वव्यापी आन्दोलन बन गया और अमेरिका तथा यूरोप से शूरू हुआ यह आन्दोलन भारतीय जन–जीवन जीवन को प्रभावित कर स्त्री को संघर्ष प्रक्रिया को नया आयाम प्रदान किया। स्त्री की इस संघर्ष प्रक्रिया का पहला मोर्चा उसका अपना आंतरिक

---

1. मार्क्सवाद : यशपाल, पृष्ठ–84
2. वही, पृष्ठ117
3. मार्क्स वाद और उपन्यासकार यशपाल : डॉ0 पारस नाथ मिश्रा, पृष्ठ–33

समाज था तो दूसरा सांमतवाद, पूँजीवाद, उपभोक्तावाद, बाजारवाद आदि वाह्रय शक्तियों के खिलाफ आक्रोश व विद्रोह भी था।

नारीवाद अथवा स्त्री विमर्श पिछली शताब्दी का एक गंभीर विचार केन्द्रित मुद्दा रहा, किन्तु विडम्बना ही रही कि इस विषय को छूते ही बड़े—बड़े बुद्धिमान व्यक्ति मानवीयता का आवरण उताकर परम्परित सुर अलापने लगे। "नारीवादएक स्वस्थ दृष्टिकोण जो एकांगी नहीं है.............. यह पुरूषों का नहीं उसकी मानवीयता घटाने वाले उस छद्म मुखौटे का प्रतिकार है, जो मदनिगी के नाम पर गढ़ा गया है और जिसके पीछे झूठी अहमन्यता और उत्पीड़क प्रवृति के अलावा कुछ नहीं।

मानव की स्वरूप स्वस्थ परम्परा को सुरक्षित रखने में स्त्री की केन्द्रीय भूमिका होने के बावजूद आज भी स्त्री विशेषकर निम्नवर्गीय कामगार स्त्री किस प्रकार "समाज की परिधि" पर दोयम दर्जे का जीवन जीनें को विवश है। इसकी यथार्थ खोज "मृणाल पांडे" ने तर्कों एवं आंकड़ो, शोध पत्रों की रपट का हवाला देते हुए की है। और मानवीय दृष्टि से उस पर विचार करने की सलाह दी है। कुलश निबंधों के इस संकलन मे दलित भंवरी के संघर्ष, आंध्रप्रदेश के एक जिले की लक्षम्मा की जागरूकता, सेवा जैसी महिला की प्रतिबद्धता के द्वारा लेखिका ने नारीवादी सोच को आक्रामणक तेवर के साथ प्रस्तुत किया है।

देश, भाषा, संस्कृति, सम्यता भिन्न—भिन्न हो सकते है, परन्तु जो भिन्न नहीं है *वह है स्त्री और स्त्री का भाग्य चाहे वे हिन्दू हों या मुस्लिम भारतीय हो या बांग्लादेशीय* सिर्फ वातावरण व स्थान बदल जाने मात्र से स्त्री का भाग्य नहीं बदलता। "तसलीमा नसरीन" ने बचपन से लेकर वर्तमान तक की निर्मम नग्न घटनाओं को बेलाग रूप में प्रस्तुत कर उसे पुरूष प्रधान समाज तथा विकृत सम्यता के गाल पर बड़े व्यंगात्मक अंदाज में थप्पड़ मारा है।

पूरी पुस्तक में उनकी कोशिश यही बताने की है कि स्त्रियों को धर्मशास्त्रों, सामाजिक रूढ़ियों, पुरूष की निरंकुशता और नीचता को ध्वस्त कर अपनी शक्ति खुद पहचाननी चाहिए। वह यह भली—भाँति जानती है कि चाहरदीवारी से बाहर निकलते ही नारी को अपने नारीत्व को कुछ न कुछ कीमत चुकानी ही पड़ती है। चाहे बेड़ियाँ इस्लाम ने डाली हो या हिन्दू धर्मशास्त्रों ने, बेड़ियां तो बेड़ियां ही होती है। चाहें वह

कहीं न कैसी ही क्यों न हों। कहते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण होता है और शायद इसलिए "मृदूला गर्ग" ने इस साहित्यिक आइने में नारी के बदलते स्वरूप का अक्स देखने की कोशिश की है और नारीवाद का नई परिभाषा गढ़ी है। इसे वह "देखी नारीवाद" कहती है।

वर्तमान समय में स्त्री विमर्श अथवा नारीवाद ने एक शास्त्र का रूप धारण कर लिया है। इस शास्त्र को जीवन के लगभग हर क्षेत्र में विश्लेषित करने का श्रेय "अनामिका" को जाता है। समाज व व्यवस्था द्वारा निर्मित व पोषित सभी प्राक धारणाओं से मुक्त होकर अनामिका स्त्री मुक्ति के क्रमिक विकास की व्याख्या करती है और पूर्ण मुक्ति की वकालत करते हुए मानती है कि यह असंभव नहीं।

नारी विषयक समस्याएँ व मान्यताएँ :

साहित्य, समाज, राजनीति आदि लगभग सभी क्षेत्रों मे तो स्त्री परिधि पर ही, परन्तु स्वतंत्रता व समानता का पक्षधर हमारा संविधान भी पुरूष सत्ता के हाथ का खिलौना बना हुआ है, "औरत होने की सजा (अरविन्द जैन) " स्त्री को प्राप्त संवैधानिक अधिकारों की सच्चाई खोल कर पुरूष के अनुकंपा भाव की धज्जियां उड़ा देती है। "अरविन्द जैन" विवाह, बलात्कार, सम्पत्ति, तलाक, निकाह आदि के विभिन्न केसेंा के माध्यम से कानून की कमियों और उसके एंकागीपन को उजागर करते है। शायद इस समय बच्चों का यौन उत्पीड़न व बलात्कार सबसे बड़ा मुद्दा है। परन्तु हमारा संविधान विल्कुल सामंती अंदाज से 15–16 वर्ष की बालिका के साथ हुए बलात्कार को भी यह कहकर न्यायसंगत बना देता है कि वह पहले से संभोगकर चुकी है। इसी प्रकार भंवरी देवी बलात्कार कांड में जज यह कहकर सहज ही पल्ला झाड़ लेता हैं कि समाज के प्रतिष्ठित लोग ऐसा घिनौंना कृत्य नहीं कर सकते।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि स्त्री विमर्श अथवा नारीवाद पुरूष और स्त्री के बीच नकारात्मक भेद–भाव की जगह स्त्री के प्रति सकारात्मक पक्षपात की बात करता है, वस्तुतः इस रूप में देखा जाए तो स्त्री विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं तथा सम्भावनाओं को तलाश करने वाली दृष्टि है।

नारी अधिकारों के प्रति जागरूक नारियां आज सारी दुनिया में नारीवादी चिंतन लेखन और नारीमुक्ति के आन्दोलनों के माध्यम से स्त्रियाँ अपने सन्दर्भ में काफी जागरूक हो गयी है। आज महिलाये पुरानी रूढ़ियों और तरह–तरह के अत्याचारों से मुक्ति अपने अधिकारों की रक्षा और व्यापक रूप में नारी समुदाय की स्वतंत्रता की दिशा में आगें बढ़ रही है। इन सबका असर स्त्री लेखन पर पड़ा है।

साहित्य में स्त्री लेखन के महत्व और स्त्री दृष्टि की जागरूकता के बारे में "प्रभा खेतान" ने जून सन् 1994 ई0 के "हंस" में दो उपन्यास और नारी का "आत्म संघर्ष" नामक लेख में स्त्री को स्त्री के आत्म संघर्ष और सामाजिक संघर्ष की अभिव्यक्ति मानते हुए स्त्री–लेखन की स्वतंत्रत सत्ता और स्त्री–दृष्टि की जरूरत पर जोड़ दिया है, उन्होने ने लिखा है कि "मैं मानकर चलती हूँ कि स्त्री लेखन औरं पुरूष लेखन में फर्क होता है और रहेगा क्योंकि स्त्री और पुरूष आज भी इस पितृसत्ताक समाज में जैविक आर्थिक, सामाजिक, धरातल पर भिन्न है।

भारतीय समाज में स्त्री की गुलामी का इतिहास जितना पुराना है उस गुलामी से मुक्ति के लिए स्त्री के संघर्ष का इतिहास भी उतना ही पुराना है। इस इतिहास की एक झलक " विमेन राइटिंग इन इंडिया" (सन् 1991ई0) नामक पुस्तक में मिलती है। जिसमें ईसा पूर्व 600 से वर्तमान काल तक के स्त्री लेखन के नमूने का संकलन है। और साथ में लगभग ढ़ाई हजार वर्षो के इतिहास में फैले लेखन के विमिन्न रूपों में व्यक्त पराधिनता का बोध और स्वाधीनता की कामना का विवेचन भी है। नारी की मुक्ति का एक माध्यम है। उसका लेखन, जो उसकी स्वतंत्रता की आकांक्षा और आग्रह की अभिव्यक्ति का साधन भी है।

महादेवी वर्मा की "श्रृंखला की कड़ियां" पढ़ते हुए यह देखकर आश्चर्य होता कि भारतीय समाज मे स्त्री की स्वतंत्रता की जो चिन्ता और बेचैनी आज है वह महादेवी वर्मा के लेखों तीस के दशक में व्यक्त हुई थी। महादेवी वर्मा के विचारों में, लेखों की एक विशेषता यह भी है कि उनमें भारतीय दृष्टि से भारतीय स्त्रियों की समस्याओं का विवेचन है, इसलिए आज भी वह विचार भारतीय स्त्री को समझने में तथा उनकी समस्याओं को समझने में सहायक है। तथा उसकी स्वतंत्रता की चेतना को विकसित करने में प्रेरणा दायक। स्त्री लेखन के स्वतंत्र रूप की पहचान के लिए स्त्री दृष्टि के

अर्थ, स्वरूप, और महत्व की पहचान जरूरी है। जब तक स्त्री–दृष्टि और पुरूष–दृष्टि के अभिप्राय परक अन्तर को नहीं जाना जाएगा। तब तक स्त्री लेखन में व्यक्त स्त्री जीवन की जटिलताओं के अभिप्राय को समझना मुश्किल होगा।

जिन अलोचकों ने महादेवी वर्मा की रहस्य भावना की लम्बी–चौडी की व्याख्या की है। उन्होने या किसी अन्य ने भी इस बात पर ध्यान नही दिया है। कि अपने समय और समाज में स्त्री की पराधीनता के विरूद्ध गहरे आक्रोश और बेचैनी से भरी हुई महादेवी वर्मा ने स्वयं अपनी प्रेम की अनुभूति की अभिव्यक्त के लिए रहस्यवाद का सहारा क्यों लिया? सुभद्रा कुमारी चौहान ने भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की वीरांगना झांसी की रानी लक्ष्मीबाई पर ही कविता क्यों लिखी? ये सभी प्रश्न हमें आलोचना की स्त्री–दृष्टि के विकास की प्रेरणा देते है, और सम्पूर्ण भारतीय साहित्य तथा हिन्दी साहित्य की परम्परा में स्त्रीयों की रचनाशीलता के नए मूल्यांकन का आहवान करते है। भारत जैसे उत्तर औपनिवेशिक समाज में स्त्री की अस्मिता को बनाने बिगाड़ने में कई तरह के दबाब काम करते हैं। उनमें से कुछ नये व पुराने तथा कुछ देशी व कुछ विदेशी है।

महिलाओं को पुरूषों के बराबर अधिकार :

महिलाएँ अपने अधिकारों का इस्तेमाल कर सके, यह सुनिश्चित करने के लिए काम, काम के वेतन, छुट्टी और आराम, सामाजिक बीमा और शिक्षा के क्षेत्र में उन्हे पुरूषों के साथ बराबरी का हक दिया गया है, माँ बच्चे के हितों को राजकीय संरक्षण दिया गया है। बड़े परिवारों की माताओं तथा अनव्याहीं मांओं को राज्य की ओर से मदद दी गई है। पूरे वेतन के साथ मातृत्त्व –पूर्व छुट्टी और मातृत्व अवकाश तथा प्रसव गृहों और शिशु–शालाओं व शिशु पालन केन्द्रो का बड़ा सा तंत्र बनाया गया है। सर्वहारा महिलाओं के लिए भी सुविधाएँ हो गई है।

21वीं सदी की महिलाओं का भविष्य :

21वी सदी महिला अधिकारिता वर्ष के (सन् 2001 ई0) रूप में मनाया जा रहा है। योजना आयोग के उपाध्यक्ष की अध्यक्षता में महिलाओं के लिए एक टास्क फोर्स का

गठन किया गया है। जिसमे गरीब परसम्पति विहीन महिलाओं को गैर सरकारी संगठनों के मध्यम से लद्यु ऋण उपलब्ध कराने के लिए राष्ट्रीय महिला कोष को सुदृढ़ किया जाएगा।

महिलाओं के स्वंयसेवी समूहों के माध्यम से 650 विकास खण्डों में महिलाओं की अधिकारिता की एक एकीकृत स्कीम शुरू की जाए। दुरूह परिस्थितियों में रह रही महिलाओं जैसे वृन्दावन, काशी और अन्य स्थानों की विधवाओं, अंकिचन सर्वहारा महिलाओं और अन्य वंचित महिला समूहों के लिए एक नई स्कीम शुरू की जाए। एक तरह देश के तमाम संसाधनों पर महिलाओं के अधिकार व पहुँच को बढ़ाना है तो दूसरी ओर आर्थिक विकास की मुख्यधारा में उन्हे शामिल करना है।

महिला सशक्तिकरण की योजना के जरीए महिलाओं की सामाजिक चेतना को उनकी अपनी भागीदारी के माफित बढ़ाया जाएगा। महिला सशक्तिकरण के उपलक्ष्य में की जाने वाली सहायताओं का मुख्य जोर महिला स्वास्थ्य और शिक्षा पर होगा", विषम परिस्थिति में जी रही महिलाओं विधवाओं, तलाकशुदा औरतों वृद्ध व विकलांग महिलाओं आदि विशेष मदद देने की बात की गई, महिला सशक्तिकरण से सम्बधित तमाम विषयों के प्रचार–प्रसार की बात कही गई। घरेलू हिंसा बालिकाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य व पोषण जैसे मुद्दें को प्रधानता देने की बात भी हुई है।

पिछले तीस वर्षो में महिलाओं के जीवन में काफी परिवर्तन आया है। नई आर्थिक नीति लागू होने के बाद से खासकर यह परिवर्तन साफ दिखाई देने लगा। कुछ नहीं, तो महिलाओं की जनसंख्या में, कम से हम एक हलचल पैदा होने लगी। औरतों को नई अर्थव्यवस्था में हिस्सेदार बनाने की तमाम घोषणाएं हुई।

पंचायत में महिलाओं की भागीदारी :

पंचवर्षीय योजनाओं की दिशा में परिवर्तन होने लगा, पंचायती राजव्यवस्था में महिलाओं की हिस्सेदारी सुनिश्चित की जाने लगी और लाखों–लाख महिलाओं के भीतर नई आकांक्षाओं का संचार होने लगा, शायद आर्थिक ढ़ाचे में और तदनुरूप राजनीतिक ढ़ाचे में आधी आबादी को शामिल किए बिना नई आर्थिक– औद्योगिक नीति को लागू करना सम्भव भी नहीं था।

महिलाओं के लिए रोजगार के नए अवसर खुले है। यह भी कहा जा सकता है कि औरतों का एक हिस्सा सफलता के ऊँचें पायदान पर चढ़ रहा है। महिलाएँ निर्देशक बन रही है, उद्यमी भी, फिल्म, मॉडलिंग, फैशन, सूचना प्रौद्योगिकी जैसे क्षेत्रों में कदम रख रही हैं। देश की अर्थव्यवस्था में महिला समुदाय सक्रिय हो गया है। हम इसकी अभिव्यक्ति को दो स्तर पर देख सकते है– औरतों के भीतर आर्थिक उद्यम की आकांक्षा का बढ़ाना और महिलाओं की राजनीतिक सामाजिक चेतना का विकास शायद यही वजह है कि आम महिलाओं को माइक्रों केडिट स्क्रीम से लेकर बैंक कर्ज तक और बचत योजनाओं में शामिल किया जा रहा है।

दहेज प्रथा :

लड़की का जन्म और दहेज दो ऐसी हकीकत है, जो सुनने वालों की दिमाग में एक साथ कौधती है और यही से शुरू होती है लड़की के जन्म पर उदास होने की दास्तां। गर्भ मे ही गर्भपात के जरिये नारी जा रही बच्ची की चीख, जन्म से लेकर विवाह तक घर के लिए "बोझं" ठहराई जा रही लड़की के बेबस आँसू और आंही एंव एक रंगीन टीवी। मोटरसाइकिल 10–20 हजार रूपये के लिए जिन्दा जलाई जा रही नई बहु की चीख पुकार। दहेज घर, समाज मे एक प्रथा के रूप में अपनी जड़े जमा चुका है। यहाँ तक की मुस्लिम समाज भी इससे अहूता नहीं है। मध्यकालीन ऐतिहासिक साक्ष्य इसकी पुष्टि करते है। दहेज विवाह की एक गैर–कानूनी, नाजायज, घृणित परन्तु अनिवार्य शर्म है जिसे न तो स्त्री धन और न ही स्त्री के सम्पति में अधिकार की समझ में रखा जा रहा जा सकता है। बल्कि यह तो वह सिसुदाल धन है। जिस पर लड़के वालों की कई चाहतों का दारोमदार टिला रहता है। – जैसे घर का स्टेटस बढ़ाना (कार, रंगीन, टी0वी0 विडियों आदि से) लड़के की नौकरी में घूस का इन्तजाम या फ्लैट की व्यवस्था दहेज भारतीय समाज की रंगो में इस प्रकार घर कर गया है कि यदि लड़के जा बाप दहेज नहीं लेने की बात करता है तो उसे घिसका हुआ समझा जाता है। यानि एंव नार्मल समझा जाता है।

आजादी के पचास वर्षो के उपरान्त भी दहेज की समस्या घटी नहीं। सन् 1961 ई0 में दहेज – विरोधी कानून बनाया गया। कानून में दहेज लेना और देना दोनों जुर्म

है। परन्तु सरकारी तौर पर दहेज को स्थापित किया गया। लड़का की शादी के लिए रूपये जमा करना, पी0 ए0 फ0 भारतीय जीवन वीमा एंव बैक के माध्यम से बढ़ावा दिया जाता गया। आज कानून बनाने वाले मंत्री, सांसद, विधायक अपनी बेटियों की शादी में लाखों–करोड़ो खर्च कर रहें है। दहेज की मांग के विरोध में प्राथमिकी दर्ज कराने वाले उस दरोगा से न्याय की क्या उम्मीद करेगें जिसने अपनी शादी में मोल भाव किया हो और नोटो की "मोटी गड्डी " ली है। दहेज की बीमारी से अमेरिका या अन्य देशों में रहने वाले प्रवासी भारतीय भी मुक्त नहीं "विदेशी मोटे आसानी' की छवि को हिन्दूस्तान में "कैश करने " जैसी प्रकृति आये दिन देखने को मिल रही है।

बिहार में आये दिन दहेज के लिए उत्पीड़न और हत्याओं के मामलें सुनने में आ रहे है। बिहार महिला अपराध कोषांग के मई सन् 2001 ई0 तक के प्रकाशित आंकड़े के अनुसार जहाँ वर्ष सन् 1995 ई0 में दहेज के लिए प्रताड़ित की गई महिलाओं की संख्या 274 थी वही मई सन् 2001 ई0 में वह 2490 हो गई।

उपन्यासों में नारी पात्र :

"चित्रा " मुद्गल" के उपन्यास "आवा " में केन्द्रीय भूमिका में उपस्थित "नमिता" श्रमिक संगठन के एक जुझारू कार्यकर्ता "देवीशंकर पांडे" की बेटी है। जिसने अपने पिता को जीवन की आहूति देते देखा महसूस किया। ऐसी महिला का मनः संसार बदलते आर्थिक परिदृश्य और उपभोक्तावादी संस्कृतिक के दबाब में बहुत तेजी से बदलने लगता है। यहाँ तक कि वह अपने मज्जागत परिवेश से दूर होती चली जाती है। उपन्यास में नमिता कि वर्गीय चरित्र को सुविधाओं की चासना में भिगों–भिगोकर "अंजना वासतानी" जैसे बड़े लोगों ने न केवल उसे बाजार की ओर प्रलोभित किया, वरन छद्म प्यार के सपने बोने वाले "संजय कनोई" ने भी अन्ततः उच्चवर्गीय स्वार्थ का प्रतिनिधित्व किया। दूसरी ओर नव– धनाढ़य कुंती मौसी और गौतमीं जैसे पात्र है, जो अपने वर्ग चरित्र को ढ़ोपने के लिए मुद्राराक्षस की कांख में दबे रहने में सुकून महसूस करते है।

नमिता की माँ चरित्र पूरे उपन्यास में एक कड़वाहट भरी उपस्थित है, जबकि यही महिला एक संघर्षरत मजदूर आन्दोलन के समर्पि व्यक्ति की पत्नी रही है। जिसनें अपने पति के संघर्ष को बहुत करीब से देखा है। कड़वाहत का यह आवरण

परिस्थितिजन्य कठिनाइयों का प्रतिफलन है। जिसके भीतर संवेदना की एक निर्झरणी बह सकती थी। लेकिन पता नहीं क्यों वह चरित्र एक सुविधा कांक्षा कुंठित महिला का प्रतिनिधि बनकर रह गया है।

ऊषा प्रियंम्वदा की गणना उन कथाकारों में होती हैं, जिन्होने आधुनिक जीवन ऊब, छटपटाहट, संत्रास और अंकलेपन की अनुभूति के स्तर पर पहचाना और व्यक्त किया है "पचपन खम्भे लाल दिवारें" की नारी सुषमा का छात्रावास के उपन्यास की चाहरदिवारी की ऊब तथा घुटन की तीखा एहसास ऊषा प्रियंम्वदा के उपन्यास में दृष्टिगोचर होता हैं । लेकिन फिर भी वह उससे मुक्त नहीं हो पाती । शायद होना नहीं चाहती उन परिस्थितियों के बीच जीना ही उसकी नियति है। आधुनिक जीवन की यहीं विडम्बना है कि जो हम नही चाहते, वही करने को विवश है।

हिन्दी के सुपरिचित कथाकार "प्रभा खेतान" का "छिन्नमस्ता" उपन्यास "प्रिया" नामक एक ऐसी नारी का अख्यान है जो निरन्तर शोषित है– समाज की जर्जर मान्यताओं से भी और पुरूष की आदिम भूख से भी टूट जाने की हद तक । लेकिन वह ट्टती नहीं बल्कि शोषक शक्तियों के लिए चुनौती बनकर एक नई राह पर चल पड़ती है, और यहीं से आरम्भ होती है उसकी बाहरी और आन्तरिक यात्राएँ । "प्रिया" उभरती है अपनी निरीहता से। अपनी खोई हुई अस्मिता को पुनः प्राप्त करके वह एक सबल नारी के रूप में उपस्थित होती है। संक्षेप में कहें तो "प्रिया" के माध्यम से लेखिका ने नारी – स्वातंत्र्य की भावना का वास्तविक रूप उद्घाटित किया है।

मैत्रीय पुष्पा के "झूला नट" उपन्यास की साधारण सी औरत "शीलो " न ही बहुत सुन्दर तथा न ही पढ़ी–लिखी है वह न तो समाजशास्त्र जानती और न ही उसने मनोविज्ञान ही पढ़ा है। राजनीति तथा स्त्री विमर्श का भाषा का भी उसे पता नहीं है। "झूला नट" की "शीलों" हिन्दी उपन्यास के कुछ न भूले जा सकने वाले चरित्रों में एक है। बेहद आत्मीय, पारिवारिक सहजता के साथ मैत्रीय ने इस जटिल कहानी की नायिका शीलों और उसकी "स्त्री शक्ति को फोकस किया है।

वेश्या जीवन की समस्याएँ एवम समाधान :

"व्याकरण में जैसे दो नकारों के मिल से जाने से एक सकार बन जाता है, ठीक उसी प्रकार विवाह की नैतिकता मे वेश्याकर्म और वेश्यागमन के योग का फल सदाचार है। वैवाहिक दायरे से बाहर पुरूषों और अविवाहित स्त्रियों की बीच होने वाला यौन व्यापार जो एक निष्ठ विवाह के साथ – साथ चलता है, और जो, जैसा कि हम जानते है, सभ्यता के पूरे युग में फलता – फूलता रहा है और खुली वेश्वावृत्ति के बतौर लगातार विकसित होता रहा है। अनुष्ठानात्मक आत्मसमपर्ण की उस प्रथा को कहते है जिसमें स्त्रियों यौन–पवित्रता का अधिकार प्राप्त करने का मूल्य चुकाती है। रूपया लेकर आत्म समर्पण करना शुरू में एक धार्मिक कृत्य था जो प्रेम की देवी के मन्दिर में किया जाता था और इससे मिलने वाला रूपया मंदिर के कोष मे चला जाता था। भारत की देवदासियां इतिहास की पहली वेश्याएं थी, यह आत्म समर्पण पहले सभी स्त्रियों के लिए अनिवार्य था। बाद मे मंदिरो की यें पुजारिन ही, सभी स्त्रियों की तरफ से, आत्म समर्पण करने लगी।

अतएवं, जिस प्रकार सभ्यता से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु दो मुंही, दोरूखी अन्तविरोधी और अपने विपरित में बंटी हुई बस्तु होती है, उसी प्रकार यूथ विवाह से सभ्यता को मिली विरासत के भी दो पहलू है.............एक ओर एकनिष्ठ विवाह, दूसरी ओर हैटेरिज्म और उसका चरम रूप – "वेश्यावृत्ति के खिलाफ संघर्ष की पांचवीं अन्तराष्ट्रीय कांग्रेस "लन्दन में हुई थी। रइसो, नवाबों की बीबिया, धर्माचार्य, पुलिस अधिकार और नाना प्रकार के पूंजीवादी लोक हितैषी खासे तौर पर उपस्थित रहे । जोरदार दावतों ओर शानदार सरकारी स्वागत समारोहों का कहीं अन्त न था। वेश्यावृत्ति की बुराई और जिल्लत पर गम्भीर भाषणों की भरमार थीं।

वैवाहिक जीवन की समस्याएँ :

पति–पत्नी के बीच यौन प्रेम एक नियम के रूप में केवल उत्पीड़ित वर्गों में अर्थात आजकल केवल सर्वहारा वर्ग में ही संभव हो सकता है और होता भी है.....चाहे इस सम्बन्ध को अधिकृत रूप से मान्यता प्राप्त हो या न हो, लेकिन यहाँ क्लासिकीय एकनिष्ठ विवाह की सारी विवाह की सारी बुनियाद ही ढ़ह जाती है। जिस सम्पति की रक्षा करने के लिए और उसे अपने पुत्रों को विरासत मे सौपने के लिए एकनिष्ठ विवाह और पुरूष के अधिपत्य की स्थापना की गई थी। उसका यहाँ पूर्ण अभाव है।

विवाह अवस्था में, पुरूष और नारी की कानूनी समानता के बारे में भी स्थिति इससे अच्छी नहीं है, स्त्री और पुरूष के बीच कानून की नजर में जो असमानता हमें पुरानी सामाजिक परिस्थितियों की विरासत के रूप में मिली है। वह स्त्रियों के आर्थिक उत्पीड़न का कारण नहीं, बल्कि उसका परिणाम हो, पुराने सामुदायिक कुटुम्ब में, जिसमें अनेक दम्पति और उनकी सन्ताने शामिल होती थी स्त्रियां घर का प्रबंध करती थी। और यह कार्य उतना ही, सार्वजनिक एंव सामाजिक माना जाता था जितना कि पुरूषों द्वारा भोजन जुटाने का कार्य । पितृसत्तात्मक परिवार की स्थापना से यह परिस्थिति बदल गई और एक निष्ठ परिवार की स्थापना के बाद तो और भी बड़ा परिवर्तन हो गया। पत्नी को सार्वजनिक उत्पादन से निकाल दिया गया, वह घर की दासी बन गई। केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग ने ही उसके लिए पर अब भी केवल सर्वहारा स्त्री के लिए ही। आधुनिक वैयक्तिक परिवार नारी की खुली या छिपी हुई घरेलू दासता पर आधारित है और आधुनिक समाज इन्ही वैयक्तिक परिवारों के अणुओं से मिलकर बना है।

19 वीं सदी में यूरोपीय नवचेतना से जुड़ें हमारे समाज सुधारकों के एजेंड़े मे भी भारतीय समाज मे स्त्रियों की स्थिति एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखने लगी थीं। लेकिन औरतों के लेकर परिवार के भीतर पुरुष की प्रभुता का स्वीकार, शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व के ऊपर उसके पारम्परिक गृहणी तथा मातृत्व के रोल की महत्ता, कानून में स्त्री को पराश्रयी मानने का रूझान और सामाजिक जीवन में स्त्री की यौन–शुचिता पर अत्यधिक बल, यह चार विचार पश्चिमी विक्टोरियाई समाज से हमारे

समाज सुधारक आंदोलन में भी आ घुसे इससे एक तरफ समाज सुधारकों की मानसिकता प्रभावित हुई जिसके फलस्वरूप वे बाल–विवाह जैसी प्रथाओं का निषेध तथा विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा को बढाने के कई श्रेयस्कर प्रयास किए लेकिन वहीं दूसरी तरफ स्त्री के लिए समान साम्पतिक अधिकारों और घर के बाहर शिक्षण संस्थाओं या नौकरियों में उसकी खुली भागीदारी की वकालत करने से हमारे समाज सुधारक हिचकिचाते रहे। बाल–विवाह निबन्ध के समर्थक रानाडे तथा तेजबहादुर सप्रु जैसे गणमान्य लोगों पर भी पश्चिम परस्त तथा भारतीय लोगों को जंगली पिट्ठू होने का आक्षेप लगाया गया। इस मानसिकता के दबाब तले लोकमान्य तिलक (मरहट्टा मे छपे लेख में) कहते है..........हमने कई बार कहा है कि हम इस सुधार विशेष का विरोध नहीं करते। वैयक्तिक रूप से तो हम सरकार द्धारा प्रस्तावित कदम से भी आयु सीमा तय करने की बार्बता आगे जाना चाहेगे, लेकिन हम कटट्रपंथी बहुसंख्यक समाज पर अपनी राय नही थोपना चाहते......।

महिला सशक्तिकरण :

स्त्री के सन्दर्भ में यह सशक्तिकरण की योजना है। इसे नई सदी के द्धारा पर खड़ी स्त्री अब कद निकालती खुद इन आकृतियों में मनचाहा रंग भर पाने की सामर्ध्य अर्जित करती दिख रही है। ऐसा कहना शायद अभी उसी किस्म की रस्म आदायगी मात्र हो जैसी इस किस्म की भविष्यवादी चिंताओं के सन्दर्भ में करने का प्रथा है। यह शुभाशंसा अधिक है यथार्थ का बिम्बकम। लेकिन सच यह भी है कि परिर्वतन की मात्र बढ़ते–बढ़ते उन्ततः एक गुणात्मक अन्तर में बदल जाती है। वैसे ही जैसे गरम होते–होते पानी भाप बन जाया करता हो।

पिछली सदी के आरम्भ में स्वाधीनता आन्दोलन में मातृशक्ति को शामिल करने के उद्देश्य से साक्षरता और शिक्षा का वरदान स्त्री को दिया गया था। इसके पूर्वाभास की व्यावहारिक रणनीति एक सुशिक्षित और प्रशिक्षित नई पीढ़ी को जल्दी से जल्दी खड़ा कर पाने के लिए ....से ही सही संस्कार और शिक्षा दे पाने की आंकाक्षा भी है। इस क्रार्यक्रम में स्त्री के लिए पुरूषों से भिन्न शिक्षा की व्यवस्था की गई है। महादेवी वर्मा के प्रयाग स्थित छात्रावास के एक दीक्षांत समारोह में बोलते हुए प्रेमचन्द्र इसी सामुहिक आशंका को स्वर देते है। जब उन्होने इस बात पर संतोष प्रकट करते

हुए साधुवाद दिया कि यहाँ की छात्राएं पढ़–लिखकर भी तितलियाँ नहीं बनी है। यानी पढ़ – लिखकर भी अनपढ़ता को अपने भी तर सुरक्षित रख पाना स्त्री की विशेष योग्यता थी।

भारत नारीवादी आन्दोलन अभी दमित मानसिकता के पहले ही दौर में है। पिछली और अगली सदी के सन्धि प्रदेश पर स्त्री अपनें हाथ में सशक्तिकरण का प्रावधान लिए खड़ी है। लेकिन अत्याचारी का प्रतिरूप यानी दोयम दर्जे का पुरूष बन जाने का संभात्य नियति से गुजर रही है। सशक्तिकरण का पहला विन्दू अपने फैसले खुद करने का अधिकार है। यानि अपनी छबि को, इसकी ओर अपने कर्म को स्वयं निर्धारित करने का अधिकार रहा है। यह किसी के दे देने से मिलने वाला अधिकार नहीं है। इसे खुद बढ़कर लेना होता है।

स्वाधीनता और अधिकार के नाम पर भारत में स्त्री ने संविधान के प्रदत्त नियमों से बहुत कुछ बिना किसी लड़ाई के एक झटके में प्राप्त कर लिया। लेकिन अभी व्यवहारिक जीवन में परिणति नही कर पाई। लेना अभी तक सीख नहीं पाई। सशक्तीकरण के कार्यक्रम का व्यवहारिक तौर पर लागू होना पूरी तरह से इसी बात पर निर्भर है कि स्त्री इस परीक्षा में कितनी दूर तक सफल हो सकती है।

चेतना अथवा आत्मबोध तथा आर्थिक स्वतंत्रता के यौगिक पैमाने पर अपनी स्त्री आबादी को चार हिस्सों बाँट सकते है–

(1) वह नारी समुदाय जो आर्थिक दृष्टि से निर्भर और चेतना से हीन है।

(2) वह नारी समुदाय जो आर्थिक दृष्टि से निर्भर किन्तु चेतना सम्पन्न है।

(3) वह नारी समुदाय जो आर्थिक दृष्टिसे आत्मनिर्भर किन्तु चेतना से हीन है।

(4) वह नारी समुदाय जो आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर एंव चेंतना संपन्न है।

यह विभाजन जाति, धर्म और वर्ग की सीमाओं से परे एक से आधार पर किया गया है जिसमें सभी जातियों, वर्गो और धर्मो को सम्मिलित किया जा सके, फिर भी मुस्लिम समाज का पूरा नारी समुदाय इसके बार ही रह जाता है और विकास या सशक्तिकरण है किसी भी सामान्य प्रतिमानीकरण में उसको शामिल करना अंसभव है क्योंकि वह संविधान की पहुँच के बाहर और जनतांत्रिक प्रक्रिया से अछूता है। बड़े पैमाने पर गरीबों, अशिक्षा और परदा प्रथा से ग्रस्त इस समुदाय में एक नगण्य प्रतिशत

में शिक्षा और आर्थिक स्वतंत्रता के उदाहरण भले ही उपलब्ध हो। निर्णय की स्वतंत्रता का सवाल नहीं उठता।

पित्तृसत्ता ने नारी–पुरूष को एक दूसरे का पूरक विलोम बनाया था। प्रौद्योगिकी के विकास ने इस पूरक विलोमता की जरूरत का भी भौतिक आधार खत्म कर दिया है। आज के संदर्भ में इसका मे नतीजा पूरकता का क्षय औंर विलोमता की जय हो गया है।

स्त्री वर्चस्व की स्थापना दमनचक्र का निराकरण नहीं, केवल दमित और दमनकर्त्ता के बीच जगहों की अदला–बदलीं है। यह समस्या को बीज समाधान के भीतर ही बाकी छोड़ देने का प्रर्याय है जो फिर लौट कर स्थिति को समस्या मूलक बनाएगा। जरूरी है कि हर स्त्री अपने भीतर थोड़ी– सी स्त्री खोज निकालने की और खोजने से भी वह अगर वहाँ न मिले तो रच लेने को तत्पर हो। अपनी–अपनी हैसियत में एक स्वतः सम्पूर्ण व्यक्तित्व बनने की आकांक्षा ही भविष्य को कार्यक्रम की ओर ले जा सकती है कि नारी पुरूष का सम्बन्ध द्वन्दात्मक न होकर योगात्मक बने।

महिला सशक्तिकरण का काम महिलाओं को प्रौद्योगिकी से दर्पण कियें विना नहीं हो सकता। जुलाई सन् 2001 में यूनस्को के महानिदेशक डॉ0 कोईचुरों मात्सुरा ने अपने भारत आगमन पर वैज्ञानिकों के बीच कहा कि "गरीब केवल इसलिए गरीब नहीं कि उनके पास धन नहीं, बल्कि इसलिए भी गरीब है कि वह विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल और उसके जरिये सृजन की क्षमता से वंचित है। महिलाओं को जैव टैक्नालाजी से परिचित कराके सशक्त बनाया जा सकता है। जैव प्रौद्योगिकी विभाग के सहयोग से भारत में अनेक परियोजनाएँ चल रहीं है। उनसे यह उजागर भी हुआ है कि ग्रामीण महिलाओं मे जैव टेक्नोलाजीं को आत्मसात करने की खासी क्षमता है। अभी देश का एक मात्र जैव प्रौद्योगिक पार्क चेन्नाई में स्थापित किया गया है जो केवल महिलाओं के लिए है। इसकी सफलता ने विभिन्न राज्यों का ध्यान आकर्षित किया है और उसकी मांग पर दसवीं पंचवर्षीय योजना में कम से कम दस से अधिक जैव प्रौद्योगिकी· पाई बनाने की योजना है। सर्वहारा वर्गीय महिलाओं के विकास के लिए भी अनेक योजनाएँ नगरीय एवं ग्रामीण स्तर पर चलायीं जा रही है जिसमें सर्वहारा वर्ग की उत्थान की सम्भानाएँ निहित है।

पंचायती राज में महिला सशक्तिकरण :

हमारे देश में प्राचीनकाल से ही पंचायतें गांवों के सामुदायिक जीवन की संरक्षक रही है। स्वतन्त्रता के प्रश्चात् ग्राम पंचायत की महत्ता को बढ़ावा मिला। बलवंत राय मेहता कमेटी सन् 1958 ई0 की सिफारिशों के आधार पर त्रिस्तरीय पंचायत राज व्यवस्था लागू की गई। यह माना जाता है कि देश का समग्र विकास महिलाओं की भागीदारी के बिना नहीं हो सकता। महिलाओं के विकास के लिए तैयार किया गया दस्तावेज सन् 1985 ई0 में स्वीकार किया गया है कि महिलाओं द्वारा औनापचारिक राजनैतिक गतिविधियों में तीव्र बृद्धि के वावजूद राजनैतिक ढ़ाचे मे उनकी भूमिका वास्तव में अपरिवर्तित रही है। विभिन्न सामाजिक, आर्थिक रूकावटों के कारण महिलाओं को अपनी सांस्थिकी शक्ति के बावजूद समाज मे बहुत महत्वहीन दर्जा प्राप्त है।

अतः देश मे पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं की एक–तिहाई भागीदारी होने और पंचायती राज व्यवस्था को सुदृढ़ करने के उद्देष्य से सन् 1992 ई0 में 73वाँ संवैधानिक संशोंधन अधिनियम पारित हुआ। इस संविधान के अनुसार एक ग्रामसभा का गठन होना अनिवार्य है जिसमें महिलाओं की भागीदारी के साथ–साथ ग्राम पंचायतो, पंचायत समितियो और जिला परिषदों के अध्यक्षों के पदो की कुल संख्या के कम से कम एक तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए है अर्थात् ऐसी एक तिहाई संस्थाओं की अध्यक्ष महिलायें होगी।

मध्य प्रदेश के टीकमढ़ जिले के बलदेवगढ़ तहसील अन्तगर्त अत्यंत पिछड़ा एक गांव काफी दिनों तक चर्चा का विषय बना रहा। चर्चा के केन्द्र में एक दलित महिला सरपंच थी जिसे स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर टीकमगढ़ जिला मुख्यालय में उसी गांव के दबंग और असरदार लोगों ने झड़ा फहराने से रोक दिया, क्योंकि वह समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही थी जो पिछड़ें में भी पिछड़ा और निरक्षर तथा अस्तित्वहीन था। सच तो यह है कि आज भी दलित महिला और पुरूष सरपंचो का न तो अपना कोई अस्तित्व बन पाया है और न सत्ता में सीधे भागीदारी ही हो पायी है। इतना अवश्य

कहा जा सकता है कि दलित सशक्तीकरण के नाम पर दलित वर्ग इस प्रक्रिया की एक कड़ी अवश्य बन रहे है।

जिला, प्रखंड और ग्राम स्तरीय पंचायतों में बहुत बड़ी संख्या में दलित वर्ग के प्रतिनिधि चुने गए है। जिन्हे अपने क्षेत्रों में विकास योजनाएं बनाने और उसे क्रियान्वित करने का दायित्व सौपा गया है। आरक्षण प्रणाली में वर्णित नियमावली के आधार पर ग्राम स्तरीय पंचायतो में दलित वर्ग के प्रतिनिधियों को कार्य करते लगभग सात वर्ष बीत चुके है। किन्तु आज भी दलित वर्गो की स्थिति मे कोई खास परिवर्तन नहीं आ पाया है।

पंचायतों मे महिलाओं के लिए एक तिहाई स्थान आरक्षित करने के साथ–साथ ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों और जिला परिषदों के अध्यक्षों के पदों की कुल संख्या के कम से कम एक तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित किए गये है। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप देश भर में लाखों महिलाएँ पंचायतों का काम करने के लिए मैदान में आने लगी है। पंचायतीराज में महिलाओं की भागीदारी महज लोकतांत्रिक प्रक्रिया में राजनैतिक सहभागिता के लिए ही आवश्यक नहीं वरन् महिलाओं के विकासात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु भी जरूरी है।

आज महिलाओं ने सह प्रामाणित कर दिया है कि वक्त आने पर वे कोई भी जिम्मेदारी उठा सकती है और न उसे अच्छी तरह निभा सकती है। अगर समाज के अधिक और सम्पन्न वर्ग से बनने वाले प्रशासकों, इंजीनियर, पायलट, शिक्षक तथा अन्य क्षेत्रों में जाने वाली महिलाओं की बात छोड़ दी जाए, तब भी अनेक उदाहरण हैं जहाँ ग्रामीण महिलाओं ने अकेले प्रशासन की जिम्मेदारी संभाली हैं और उसे पूरा किया है।

पंचायतों और अन्य कार्यकारी इकाइयों की सभी महिला सदस्यों को अनिवार्य प्रशिक्षण देना चाहिए और उन्हें अपने अधिकार का इस्तेमाल के लिए शक्ति प्रदान करनी चाहिए। आवश्यक है कि पुरूष और महिला सदस्य दोनों ही, महिलाओं की समस्याओं के प्रति संवेदनशील हों। महिलाओं की भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए चुने गए प्रतिनिधियों और विकास अधिकारियों के मध्य सम्पर्क स्थापित करके सचेत प्रयत्न करने की जरूरत है। महिला विकास कार्यक्रमों का पंचायत। स्थानीय अधिकारियों से भी अनिवार्य रूप से सम्बन्ध होना चाहिए ताकि विकास में महिलाओं की ज्यादा प्रभावपूर्ण

भागीदारी संभव हो सके। महिलाओं को चाहिए कि वे संविधान के 73वें संशोधन में उनके लिए किए गए आरक्षण को एक चुनौती मानें। वे यह साबित कर दें कि दायित्व संभालने में वे पुरूषों से पीछे नहीं हैं।

****

आठवाँ अध्याय

उपसंहार

सर्वहारा वर्ग भारतीय समाज का अत्यन्त उपेक्षित और पीड़ित वर्ग है। स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी कथा साहित्य में इस वर्ग का चित्रांकन न के बराबर है। मुंशी प्रेमचन्द को छोड़कर शेष कथाकारों ने इनके विषय में कम ही लिखा है। अन्य कथाकारों के कथा साहित्य में सर्वहारा आया भी है तो वहां उनकी दृष्टि पूंजीवादी होने के कारण सर्वहारा पाठकों की आँखों से ओझल हो गया है। वास्तव में यह समाज सदियों से राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक एवम् सामाजिक रूप से अधिकारों से वंचित रहा है। अधिकतर कथाकारों की कलम की स्याही जमींदारों, महाजनों, उच्च पदासीन अधिकारीगण एवं महंतो के वर्णन में ही चुक गयी। ये वर्ग आये भी है तो यदा–कदा। वास्तविकता यह है कि जो साहित्य पूंजीवादी, परम्परावादी भावना से ओत प्रोत होगा वहां सर्वहारा चेतना चरित्र का विकास स्वतंत्र रूप से न ही हो सकता।

स्वतंत्रता के चौवन वर्ष बाद भी देश ने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में विविध उतार–चढ़ाव झेला है जिसका प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपों में भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव से इस काल के उपन्यासकार भी अछूते न रहे। अतः उनकी रचनाओं में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों से सम्बन्धित घटनाओं का आवश्यकतानुसार उपयोग किया गया जो स्वाभाविक है क्योंकि कथाकार से कच्ची सामग्री अपने आस–पास के वातावरण एवं परिवेश से ही प्राप्त होती है जिसे वह कल्पना के द्वारा परिष्कृत करके अपने लक्ष्य को प्राप्त करता हुआ पाठकों तक सम्प्रेषित करता है।

उपन्यास मानव जीवन की व्याख्या के साथ–साथ उपन्यास ऐसी कला भी है। जिसमें मनुष्य सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपित होकर सामने आता है। अपने समय, समाज और इतिहास की प्रक्रिया से परिभाषित मनुष्य ही उपन्यास रचना का लक्ष्य है और समाजशास्त्री अन्वेषण का भी। समाजिक दृष्टि से मनुष्य की सामाजिकता की पहचान के अनेक रास्ते है उसमें जो रास्ता साहित्य संसार से होकर

जाता है, वह सबसे सुगम और विश्वसनीय तब होता है, जब वह उपन्यास के रचना संसार से गुजरता है। क्योंकि वहां न तो कविता की तरह आत्म परकता की फिसलन होती है और न नाटक के यथार्थ का माया लोक होता है। उपन्यास की कला में मौजूद मनुष्य के समाज सम्बद्ध और इतिहास सापेक्ष रूप को आसानी से पहचाना जा सकता है।

भारतीय उपन्यास में किसान–जीवन, मजदूर वर्ग एवं सर्वहारा वर्ग के यथार्थवादी चित्रण की परम्परा और कला को प्रेमचन्द ने विकसित किया। उन्होंने भारतीय उपन्यास और उसकी यथार्थवादी कला को अधिक उन्नत किया। उसके रचनात्मक प्रयत्न से भारतीय उपन्यास और स्वाधीनता आन्दोलन के बीच अधिक आत्मीय और गहरा सम्बन्ध स्थापित हुआ। उपन्यास राष्ट्रीय जागरण में सहायक बना और सामाजिक परिवर्तन का प्रेरक भी। प्रेमचन्द जी ने अपने साहित्य में भारतीय समाज के दलित जनों–किसानों, मजदूरों, हरिजनों और स्त्रियों के प्रति अपनी अड़िग पक्षधरता और गहरी सहानुभूति को छिपाते नहीं है। प्रेमचन्द की रचनाशीलता का ऐतिहासिक संदर्भ स्वाधीनता आन्दोलन का था। कार्ल मार्क्स ने एक जगह लिखा है कि मैं जिससे सच्चा प्रेम करता हूँ उसके अस्तित्व की अनिवार्यता अनुभव करता हूँ। प्रेमचन्द किसानों से सच्चा प्रेम करते थे और वे किसानों के अस्तित्व की अनिवार्यता महसूस करते थे। प्रेमचन्द की रचनाओं से यह साबित है कि जो किसानों और मजदूरों से सच्चा प्रेम करते हैं, वे ही किसानों–मजदूरों के जीवन का चित्रण कर सकते है, अन्य नहीं। भारतीय मनुष्य को भारतीय समाज की संरचनाओं, संस्थाओं और जीवन–मूल्यों के संदर्भ में ही पहचाना जा सकता है। स्वाधीनता के बाद भारत के आदिवासी और दूसरे दलित जन समुदायों में नया जागरण आया है।

प्रेमचन्द के 'गोदान' में किसान–जीवन की यथार्थ–चेतना और भाविक संवेदनशीलता के बीच गहरी आत्मीयता है। 'गोदान' में सहजता की कला है तो 'मैला आँचल' में लोक संस्कृति का संगीत सुनाई पड़ता है। 'गोदान' में गोबर और झुनिया सर्वहारा वर्ग की नई पीढ़ी की है होरी की दबी हुई गर्दन भी पूंजीवादी पैरों से मुक्त होकर ऊपर उठने का विद्रोह करती है।

स्वतंत्रता के बाद सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में बदलाव के कारण सर्वहारा वर्ग की नियति में भी मोड़ आता है। समाज सुधारकों और संतों ने तो इनके पक्ष में बहुत पहले ही बहुत कहाँ परन्तु राजनीति में लोकतांत्रिक मूल्यों के समावेश से जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति विश्वास और धर्म की स्वतंत्रता सब को समान अवसर प्रदान करने और राष्ट्र की एकता बढ़ाने में योगदान दिया। भारतीय समाज में सर्वहारा वर्ग में ही एक सर्वथा सभी अधिकारों से वंचित समाज था जिसे भारतीय समाज में अछूत समझा जाता था इसे गांधीजी ने 'हरिजन' नाम दिया और उनके अधिकारों की बात कहीं इनके अधिकारों की बात कहीं इनके अत्याचारों के लिए मुखर लड़ने वालेइस वर्ग के डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का अर्विभाव भी स्वतंत्रतापूर्व भारत में भारत में हो गया जिन्होंने अपने संघर्ष से इन वंचित लोगों को शोषित समाज में स्थान दिलवाया इसी ओर सन् 1917 ई0 की रूसी क्रांति (बोलशेविक क्रांति) से प्रेरित भारत के समाजवादियों ने भी कम्यूनिष्ट पार्टी की स्थापना (1919) की जिन्होंने सर्वहारा समाज के उन्नति के मार्ग प्रशस्त किये पहली बार राजनीति में मजदूर, किसान, स्त्रियों के कल्याण, दलितोत्थान की बात कहीं गई और जब प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई तो प्रगतिशील साहित्यिक जनचेतना से सर्वहारा साहित्य का सृजन हिन्दी साहित्य में हुआ। निःसंदेह इसके प्रथम कथाकार प्रेमचन्द है, जिन्होंने स्वतंत्रतापूर्व सर्वप्रथम इस वर्ग को अपने साहित्य में स्थान दिया। पहले के उनके उपन्यास आदर्श और यथार्थ के मध्य आते है, विचारों से वे गांधीवादी है जो हृदय परिवर्तन में विश्वास करते है। किन्तु सन 1936 ई0 तक 'गोदान' तक आते–आते उनका आदर्शवादी विचारों की बलि 'गोदान' के होरी के मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाती है। और वे यथार्थवादी धरातल पर पांव रख देते है। प्रेमचन्द ने रंगभूमि उपन्यास और कफन तथा पूस की रात कहानियों में सर्वहारा वर्ग का चित्रण किया है। जो कि यथार्थवाद की पहल पर अंकित है। इसी कारण गोदान का 'गोबर' अपने नाम के विपरीत मिल की हड़ताल में जी जान से शामिल होता है और सर्वहारा के अधिकारों की बात करते हुए समाजवादी चिंतन और यथार्थ की ओर पाठकों को मोड़ता है प्रेमचन्द के पूर्व का साहित्य आदर्शवादी साहित्य है।

इस साहित्य ने सर्वहारा वर्ग की समस्यायें को जमाने की भरपूर कोशिश की है। इसी कारण वे जमींदारों, साहूकारों, धर्म के ठेकेदारों और सरकारी नौकरशाही के विरोध में अपनी कलम चलाते है। सर्वहारा वर्ग के अधिकारों की वकालत करते है। अर्थ यह नहीं कि केवल प्रगतिशील साहित्यकारों ने ही सर्वहारा चेतना को विश्लेषित किया है वस्तुतः एक बार यथार्थ की प्रतिष्ठा हो जाने पर यह कथा साहित्य में फूट गया तो वे साहित्यकार भी जो प्रगतिशील नहीं है वे भी इनके साथ न्याय कर सके है।

अब स्वतंत्रता के चौवन वर्ष बाद शैक्षिक, औद्योगिक, राजनीतिक सामाजिक विकास ने अब चिंतन शैली में भी परिवर्तन कर दिया है फिर से अब कोई थोड़ा तर्क नहीं कर सकता कि गरीबों को ईश्वर बनाता है क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों एवं बुद्धिवाद ने और वादों की तरह समाज की दबी कुचली, घिनौनी परतों को उभाड़कर रख दिया है एवं उस पूंजीवादी कुचक्र का भंडाफोड़ कर दिया जिसमें एक गरीब अनवरत गरीब हो जाने के लिए बाध्य है। आधुनिक उपन्यास साहित्य में इसलिए विद्रोह नामक एक प्रबल तत्व पनप उठा है जो पूरे समाज की व्यवस्था को पूरे वेग से बदलना चाहता है। जब तक इस प्रकार समाज व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं होता है तब तक सर्वहारा की नियति ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इसी परिवेश में आज का स्वातंत्रयोत्तर उपन्यासकार सर्वहारा को अपने साहित्य मे स्थान देता है और उससे जुड़ी समस्याओं और चुनौतियों का सामना करने के लिए सामने आता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सर्वहारा चेतना का वर्णन जिन–जिन संदर्भ सूत्रों के माध्यम से प्रस्तुत हुआ उसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा बनाना चाहे तो वह निम्नलिखित प्रकार की होगी।

(1)राजनैतिक प्रभावों अर्थात मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित प्रेरित राजनीतिक उपन्यासों में जैसे विश्वम्भरनाथ मानव का 'रीछ' नागार्जुन कृत बाबा बटेसर नाथ, भैरव प्रसाद गुप्त कृत सती मैया का चौरा राजेन्द्र यादव कृत उखड़े हुए लोग अमृत राय कृत बीज यशपाल कृत झूठा सच,

(2)अराजनैतिक आंचालिक उपन्यासों में फणीश्वरनाथ रेणु का परती–परिकथा,

(3)आंचालिक उपन्यासों जैसे रेणु का मैला आंचल, नागार्जुन का बलचनमा।

(4)शुद्ध सामाजिक उपन्यासों में आया सर्वहारा चित्र जैसे– रामदरश मिश्र का जल टूटता हुआ।

(5)आधुनिक प्रभावित अनांचलिक ग्राम कथानकों में जैसे–शिवप्रसाद सिंह कृत अलग–अलग वैतरणी।

(6)सर्वहारा दलित वर्ग के समाज दर्शन से प्रभावित उपन्यास विवेकी राय कृत बबूल ओम प्रकाश वाल्मीकि का जूठा, मोहनदास नैमिश राय का अपने–अपने पिंजरे, अमृतराय कृत बीज, प्रेमचन्द की रंगभूमि।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में दलित लेखन भी चर्चा का विषय रहा है जहां दलित वर्ग के लेखक दलित साहित्य की रचना स्वयम् करना चाहते है और वे टी0 एस0 इलियट की इन पक्तियां के पक्षधर है।

''भोगने वाले प्राणी और सृजन करने वाले कलाकार में सदा एक अन्तर रहता है। यहाँ दलित लेखक भोगने वाला भी है और रचनाकर भी जबकि अन्य केवल रचनाकार है किन्तु हिन्दी कथा साहित्य में सर्वप्रथम दलित लेखन में 'कलम के सिपाही' प्रेमचन्द है जिनके विभिन्न उपन्यासों रंगभूमि के सूरदास तथा गोदान आदि में दलित समस्या पर लेखन हुआ है। निराला ने 'चतुरी चमार' लिखकर दलित समाज का चित्रण किया है' दलित लेखन का जहां तक प्रश्न है। लेखन कला को किसी वर्ग या जाति तक सीमित नहीं किया जा सकता है इससे साहित्य का अपकर्ष ही होगा उत्कर्ष नहीं।

नारी साहित्यकारों ने नारी के अन्तर्मन की पीड़ा अधुनातन नारी के रंगढंग तथा स्वातंत्र्योत्तर भारतमें नारी के जीवन मूल्यों में आये परिवर्तन का चित्रण किया है जैसे मैत्रेयी पुष्पा का बेतवा बहती रही, मन्नू भण्डारी का आपका बंटी, उषा प्रियवदा का रूकोगी नहीं राधिका, एवं पचपन खम्बे लाल दिवारें, प्रभा खेतान की पीली आंधी।

मार्क्सवाद का वैचारिक दर्शन सर्वहारा अधिनायकवाद में निहित है। यह अधिनायकवाद सर्वहारा क्रान्ति के परिधि में हासिल की जा सकती है। इसका अनुगम स्रोत मार्क्सवाद है। इसी वैचारिक क्रांति से प्रभावित हिन्दी उपन्यासकारों का एक वर्ग जनवादी उपन्यासकार कहलाने लगा। जैसे भैरव प्रसाद गुप्त, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, यशपाल, विश्वम्भर नाथ मानव, राहुल सांस्कृत्यायन।

महिला उपन्यासकारों में मंजुल भगत, मन्नू भण्डारी, मैत्रेयी पुष्पा, उषा प्रियवदा, मृदुला गर्ग,कौशल्या वैसंत्री आदि जिन्होंने नारी के प्रति सम्बेदना व्यक्त करते हुए नारी स्वातंत्र्य की चर्चा के फलस्वरूप सर्वहारा यथार्थ की प्रतिष्ठा की है।

हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में जो जनवादी रचनाएं प्रस्तुत हुई है और जिसमें यथार्थ की प्रतिष्ठा की गई है उन्हें ध्यानपूर्वक परखने से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि जनवादी उपन्यासकार जिस वर्ग संघर्ष की......की सृष्टि करता है उसके मूलस्वरूप एक नये प्रकार का आदर्शवाद खड़ा हो जाता है। इस प्रकार पारम्परिक आदर्शवाद से मुक्त होकर भी समस्या नये प्रगतिशील आदर्शवाद में उलझी रह जाती है। इस समस्या के उलझने के साथ ही सर्वहारा वर्ग भी उलझा रह जाता है। वह मात्र नारा बन जाता है। एक राजनीतिक लड़ाई का मोहरा।

इस प्रकार का कथा आदर्शवाद विश्वम्भरनाथ मानव के 'रीछ', भैरव प्रसाद गुप्त की रचना 'सती मैया का चौरा', यशपाल का 'झूठा सच' आदि में है। वास्तव में आदर्शवाद से सर्वथा मुक्ति स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में एक ज्वलंत समस्या है। अधिकतर उपन्यासकार सर्वहारा के सम्बन्ध में दिग्भ्रमित ही हो जाता है।

अत्याधुनिक सामाजिक कथाकार मधुकर सिंह ने अपने उपन्यास 'सोनभद्र की राधा' में जिस प्रकार एक सर्वहारा दलित और ग्रामीण ब्राह्मण युवती की साहसिक प्रेमकथा का चित्रण किया है। यह वास्तव में वामपंथी आदर्शवाद का दबाव ही प्रतीत होता है। सूक्ष्म तथ्य यह भी है कि प्रेम जाँति–पाँति नहीं देखता है। यह कथानक कोई क्रांतिकारी नहीं इसकी सार्थकता समाज में इसे स्थापित करने की है। इसी तरह का कथानक रामदरश के 'जल टूटता हुआ' में है जहां ब्राह्मण युवती अपने हलवाहे को समर्पित हो जाती है। प्रेम, अभिलाषा के कारण ही नायक(पात्र) विभिन्न कष्टों को सहता है। इसमें जातीय अभिमान टूटते हुए दिखाया गया है।

अन्त में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य बदलते हुये जीवन मूल्यों के साथ कथा साहित्य में भी परिवर्तन हुआ है। आदर्शवाद से आगे चलकर यथार्थवाद की ओर मुड़ता है जिसके गर्भ से जनवाद, समाजवादी साहित्य की रचना होती है। इसी कारण इसमें सर्वहारा वर्ग, दलितोत्थान भावना, वर्ग विहीन समाज की स्थापना दलित साहित्य

की अवधारणा, स्त्रियों की पीड़ा–दर्द–घुटन एवं लोकतांत्रिक भावना का उल्लेख हुआ है।

सर्वहारा वर्ग के जीवन मूल्यों से प्रभावित उपन्यासों के भिन्न–भिन्न पहलुओं पर यथा स्थान विचार विमर्श हुए है। इन प्रभावों की वांछनीयता एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। मृत्यु संत्रास मोहभंग, पलायन, दुःखोपासना, मानसिक रिक्तता, भौतिक सुख–सुविधाओं के प्रति बेरोक आसक्ति, ईश्वरी एवं धार्मिक विश्वास को अन्धविश्वास मानना ये अब हमारी संस्कृति और जीवन मूल्यों के अनुरूप नहीं है। स्वातंत्र्योत्तर युग के कई उपन्यास इस कोटि में आते है। स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी उपन्यास का बहुमूखी विकास हुआ है। जिसमें व्यापकता की अपेक्षा गहराई महत्वपूर्ण है।

सर्वहारा वर्गीय चेतना तभी सार्थक हो सकती है जब उपन्यासकार उनके विभिन्न पहलुओं को उपन्यास में उजागर करें तभी सही अर्थ में हिन्दी उपन्यास अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व अर्जित कर सकेगा।

परिशिष्ट :

****

(क) मूल–उपन्यास :

1. अलग–अलग वैतरणी–शिव प्रसाद सिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1967 ई0।
2. अमृत और विष– अमृत लाल नागर, प्रथम संस्करण 1966 ई0, प्रयुक्त संस्करण 1982 ई0, लोक भारती प्रकाशन, 15ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद।
3. अनाम स्वामी– जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1974 ई0।
4. अठारह सूरज के पौध– रमेश वक्षी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता, प्रथम संस्करण 1965 ई0।
5. अंधेरे बन्द कमरे–मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लिमिटेड, दिल्ली प्रथम संस्करण 1961 ई0।
6. अंधेरे के विरूद्ध– उदयराज सिंह, अशोक प्रेस पटना, प्रथम संस्करण 1970 ई0।
7. अजय की डायरी–देवराज, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली संस्करण 1960ई0।
8. आधा गांव–राही मासूम रज़ा, अक्षर प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली संस्करण 1968 ई0।
9. आपका बंटी– मन्नू भण्डारी, अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1971 ई0।
10. एक चिथड़ा सुख– निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1979 ई0।
11. एक पति के नोट्स– महेन्द्र भल्ला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1967 ई0।
12. एक इंच मुस्कान–राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, प्रथम संस्करण 1963 ई0, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।
13. एक चूहे की मौत– बदि उज्जमा, शब्दाकार दिल्ली 1971 ई0।
14. उखड़े हुए लोग– राजेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1956 ई0।
15. उसके हिस्से की धूप– मृदुला गर्ग, अक्षर प्रकाशन प्रा0 लि0 प्रथम संस्करण 1976 ई0।
16. उगते सूरज की किरण– शैलेश मटियानी, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1971ई0।
17. कब तक पुकारूँ– रांगेय राघव, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, प्रथम संस्करण 1957 ई0, प्रयुक्त संस्करण 1980 ई0।
18. काली आँधी– कमलेश्वर, राजपाल एण्ड सन्स काश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1974 ई0।
19. किस्सा नर्मदावेन गंगू बाई–शैलेश मटियानी, आत्मा राय एण्ड सन्स, दिल्ली संस्करण 1961 ई0।
20. कलावे– जयसिंह

21. खग्रास–आचार्य चतुरसेन शास्त्री, प्रभात प्रकाशन, 205 चावड़ी बाजार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1960ई0।
22. गंगा मैया– भैरव प्रसाद गुप्त, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण, 1953 ई0।
23. गोदान–प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस बनारस तेरहवाँ सं0–1956 ई0।
24. गुनाहों का देवता–धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली 1988 ई0।
25. ग्राम सेविका–अमरकांत, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1962 ई0।
26. जुलूस– फणीश्वर नाथ रेणु भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी प्रथम सं0 1965 ई0।
27. कामरेड– यशपाल विप्लव कार्यालय लखनऊ तृतीय सं0 1958 ई0।
28. जल टूटता हुआ– रामदरश मिश्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1969 ई0।
29. जूठन– ओम प्रकाश वाल्मीकि, प्रकाशन 1997 ई0।प्रथम संस्करण 1999, राधा कृष्ण प्रकाशन प्रा0 लि0 2/ 38 अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली।
30. झूठा सच– (दोनों भाग) यशपाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1958 ई0 से 1960 ई0।
31. दुखमोचन–नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण सन् 1958 ई0।
32. दो बूँद जल– शैलेश मटियानी, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1966 ई0।
33. दादा कामरेड– यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, द्वितीय संस्करण 1959 ई0।
34. देशद्रोही– यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, चौथा सं0 1953 ई0।
35. धरती धन न अपना– जगदीश चन्द्र, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 8 फैज बाजार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1972 ई0।
36. घुन लगी बस्तियाँ– जयवन्त दलवी अनु0 विय वापट प्रकाशन वर्ष 1968 ई0।
37. नदी के द्वीप– सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', प्रोगोसिव पब्लिशर्स फिरोजशाह रोड़ दिल्ली, प्रथम संस्करण 1968 ई0।
38. नई पौध– नागार्जुन, किताब महल इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1953 ई0।
39. नदी फिर बह चली– हिमांशु श्रीवास्तव, विद्या मंदिर प्रेस प्रा0 लि0 मान मंदिर, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1961 ई0।
40. परती परिकथा– फणीश्वर नाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973 ई0।
41. पानी के प्राचीर– रामदरश, मिश्र हिन्दी प्रचारक पुस्तक माला, वाराणसी 1951 ई0।
42. पुरूष पुराण– डॉ0 विवेकी राय।
43. पचपन खम्भे लाल दीवारें– उषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 1984 ई0।
44. बबूल– विवेकी राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण 1967 ई0।
45. बलचनमा– नागार्जुन, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1950 ई0।

46. बाबा बटेसर नाथ– नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1960 ई0।
47. वरुण के बेटे– नागार्जुन किताब महल इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1957 ई0।
48. हिरना साँवरी– मनहर चौहान, उमेश प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1962 ई0।
49. बीमार शहर– राजेन्द्र अवस्थी, राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973 ई0।
50. बीज–अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1953 ई0।
51. बेघर– ममता कालिया रचना प्रकाशन इलाहाबाद सं0 1976 ई0।
52. बूँद और समुद्र– अमृत लाल नागर, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1956 ई0।
53. भीतर का घाव– डॉ0 देवराज, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1971 ई0।
54. भूले बिसरे चित्र– भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1959 ई0 प्रयुक्त संस्करण 1980 ई0।
55. भोर झाल–श्याम परमार।
56. भूदान– मार्कन्डेय।
57. भूदानी सोनिया– उदयराज सिंह, अशोक प्रेस पटना, प्रथम संस्करण 1970 ई0।
58. मछली मरी हुई– राजकमल चौधरी, राजकमल प्रकाशन, प्रा0 लि0 दिल्ली प्रथम संस्करण 1965 ई0।
59. माटी की महक– सच्चिदानन्द 'धूमकेतु' वाणी प्रकाशन, पटना प्रथम संस्करण 1967 ई0।
60. मशाल– भैरव प्रसाद गुप्त, नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद, 1957 ई0।
61. माटी के लोग सोने की नैया– मायानन्द मिश्र।
62. मुक्तिबोध– जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1971 ई0।
63. *मैला आंचल– फणीश्वर नाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रयुक्त संस्करण* 1956, प्रथम संस्करण 1954 ई0। प्रयुक्त संस्करण 1984, लोक भारती प्रकाशन 15 ए महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद।
64. मनुष्य के रूप–यशपाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, आठवां संस्करण 1972 ई0।
65. राग दरबारी– श्री लाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड।
66. रतिनाथ की चाची– नागार्जुन, किताब महल इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1953 ई0।
67. रुकोगी नहीं राधिका– उषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 9 बी नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली–110002 प्रथम सं0 1984 ई0।
68. राई और पर्वत– रांगेय राघव, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1959 ई0।
69. रीछ– विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, साहित्य प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1967 ई0।
70. रेखा– भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, दिल्ली प्रथम संस्करण 1974 ई0।

71. वे दिन– निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली प्रथम संस्करण 1974 ई0।
72. लोहे के पंख– हिमांशु श्रीवास्तव
73. सफेद चेहरे– लक्ष्मीकांत वर्मा साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1971 ई0।
74. सती मैया का चौरा– भैरव प्रसाद गुप्त, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1959 ई0।
75. सबहिं नचावत राम गोसाई– भगवती चरण वर्मा राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1988 ई0।
76. सोनभद्र की राधा–मधुकर सिंह
77. सामर्थ्य और सीमा–भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1962 ई0।
78. साँचा– प्रभाकर माचवे, नव साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1955 ई0।
79. सारा आकाश–राजेन्द्र यादव, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
80. सूरज मुखी अंधेरे के–कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण 1972 ई0।
81. सागर लहरें और मनुष्य–उदय शंकर भट्ट, हिन्दी प्रचारक पुस्तक माला वाराणसी, प्रथम संस्करण 2012 वि0, प्रयुक्त संस्करण 2018 विक्रमी।
82. सूरज किरन की छांव– राजेन्द्र अवस्थी, राजपाल एण्ड सन्स, 1959 ई0।
83. शेखर एक जीवनी (भाग एक)–सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, प्रथम सं0 1984 ई0।
84. शेखर एक जीवनी (भाग दो)–सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली प्रथम सं0 1984 ई0।
85. सूखता हुआ तालाब–राम दरश मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली सं0 1972ई0।
86. यह पथ बन्धु था– नरेश मेहता, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1984 ई0।
87. इमरतिया–नागार्जुन
88. मनुष्यानन्द–भवदेव पाण्डेय
89. मुक्ति पर्व– मोहन दास नैमिशराय
90. अपने–अपने पिंजरे– मोहन दास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन प्रथम संस्करण–1995 ई0। द्वितीय संस्करण–1996 ई0।
91. दोहरा अभिशाप–कौशल्या बैसंत्री प्रकाशन 1999 ई0।
92. प्रथम गिरमिटिया– गिरिराज किशोर
93. वंशज– मृदुला गर्ग– अक्षर प्रकाशन दिल्ली, प्र0 सं0 1976 ई0।
94. थके पाँव– भगवती चरण वर्मा
95. मित्रो मरजानी– कृष्णा सोबती– राजकमल प्रकाशन दिल्ली, सं0 1967 ई0।
96. छप्पर– डॉ0 जय प्रकाश कर्दम
97. चाक– मैत्रेयी पुष्पा
98. इदन्नमम्– मैत्रेयी पुष्पा (1994)
99. नई पौध– नागार्जुन किताब महल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 1953 ई0।
100. ढ़ाई घर– गिरिराज किशोर

101. पीली आँधी–प्रभा खेतान
102. सूरज का सॉतवा घोड़ा–धर्मवीर भारती साहित्य भवन प्रा0लि0 इलाहाबाद प्रथम सं0 1952 ई0।
103. कुरू–कुरू स्वाहा– मनोहर श्याम जोशी
104. उम्र एक गलियारें की – शशि प्रभा शास्त्री
105. बेतवा बहती रही– मैत्रेयी पुष्पा
106. टेढ़े मेढ़े रास्ते– भगवती चरण वर्मा भारती भण्डार लीडर प्रेस इलाहाबाद, द्वितीय सं0 2005 विक्रमी।
107. दिव्या– यशपाल लोकभारती प्रकाशन 15 ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद संस्करण 2000 ई0।
108. चित्त कोबरा– मृदुला गर्ग

(ख) सहायक–पुस्तकें :

1. हिन्दी उपन्यास पहचान और परख– डा0 इन्द्रनाथ मदान, लिपि प्रकाशन, दिल्ली संस्करण 1973 ई0।
2. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, डाॅ त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय पो0 बाक्स नं0 70, ज्ञानवाणी प्रकाशन, वाराणसी तृतीय संस्करण 2018 विक्रमी।
3. हिन्दी उपन्यास–डॉ0 सुषमा धवन, राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1961 ई0।
4. हिन्दी उपन्यास–सुरेश सिन्हा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्र0 1972 ई0।
5. हिन्दी उपन्यासः एक अन्तर्यात्रा–रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्र0 सं0 1968 ई0।
6. हिन्दी उपन्यासः एक सर्वेक्षण–महेन्द्र चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1962 ई0।
7. हिन्दी उपन्यासःउपलब्धियां–डॉ0 लक्ष्मी नागर वाष्णेय, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, 1970 ई0।
8. हिन्दी उपन्यास वर्ग भावना–डॉ0 प्रताप नारायण टण्डन, प्रकाशन लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1956 ई0।
9. हिन्दी उपन्यासों में नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण– डॉ0 विमल सहस्रबुद्धे, पुस्तक संस्थान 109/ 50ए, नेहरू नगर कानपुर, प्रथम संस्करण 1974 ई0।
10. हिन्दी उपन्यास कला–डॉ0 प्रताप नारायण टण्डन, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण 1965 ई0।
11. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ–डॉ0 शशि भूषण सिंहल, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, प्र0 सं0, 1970 ई0।
12. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव– डॉ0 भारतभूषण अग्रवाल
13. हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन–डॉ0 रमेश तिवारीः रचना प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1972 ई0।
14. हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास– डॉ0 प्रताप नारायन टण्डन हिन्दी साहित्य भण्डार लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 1964 ई0।
15. हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग– डॉ0 त्रिभुवन सिंह

16. हिन्दी उपन्यास सामाजिक सन्दर्भ– डा0 बालकृष्ण गुप्त, अभिलाषा प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण 1962 ई0।
17. हिन्दी उपन्यास उत्तरशती की उपलब्धियां– डॉ0 विवेकी राय, राजीव प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण, 1983 ई0।
18. हिन्दी उपन्यास उन्नीस सौ पचास के बाद–सं0 निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1987 ई0।
19. हिन्दी उपन्यास युग चेतना और पाठकीय संवेदना–डॉ0 मुकुन्द द्विवेदी, लोक भारती प्रकाशन 15 ए महात्मा गांधी मार्ग–1, प्रथम संस्करण 1970 ई0।
20. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक विघटन– डॉ0 धर्मेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, उमेश प्रकाशन, 100 लूकरगंज इलाहाबाद–1 प्रथम संस्करण 1995 ई0।
21. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासः प्रकाश वाजपेयी, नन्द किशोर एण्ड सन्स, वाराणसी सं0 1964 ई0।
22. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधिः डॉ0 आदर्श सक्सेना, सूर्य प्रकाशन मंदिर बीकानेर प्र0 सं0 1971 ई0।
23. हिन्दी लेखिकाओं के स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में पुरूष कल्पना–डॉ (श्रीमती) उर्मिला प्रकाश चिन्ता प्रकाशन गणेशनगर शंकरपुर दिल्ली सं0 1992 ई0।
24. हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता–डॉ0 सुखदेव शुक्ल
25. हिन्दी के व्यक्तिवादी उपन्यास – प्रेमचन्द श्रीवास्तव
26. हिन्दी साहित्य कोश भाग एक–सं0 धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक ज्ञान मण्डल लि0 वाराणसी तृतीय संस्करण 1985 ई0।
27. हिन्दी साहित्य कोश भाग दो–सं0 डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक ज्ञान मण्डल लि0 वाराणसी द्वितीय संस्करण आश्विन संवत् 2043(1986 ई0)।
28. हिन्दी साहित्य का इतिहास–सं0 डॉ0 नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज नई दिल्ली–110002, द्वितीय संस्करण 1986ई0।
29. हिन्दी साहित्य का इतिहास–एच0 पी0 सिन्हा एवं डा0 जे0 पी0 श्रीवास्तव, प्रकाशन किताब महल, इलाहाबाद 1964 ई0।
30. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृतियाँ–डॉ0 शिव कुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन 2615, नई सड़क दिल्ली,110006 पन्द्रहवॉ संस्करण 1996 ई0।
31. हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास–मोहन अवस्थी, प्रकाशन, सरस्वती प्रेस इलाहाबाद, 1983 ई0।
32. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास–विश्वनाथ त्रिपाठी एन0सी0ई0आर0टी0 प्रकाशन विभाग, सातवां पुर्नमुद्रण फरवरी 1996 ई0।
33. हिन्दी साहित्य का इतिहास– डॉ0 लक्ष्मी नागर वार्ष्णेय लोक भारती प्रकाशन 15 ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद
34. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास–डॉ0 लक्ष्मी सागर वाण्णेय राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973 ई0।
35. उपन्यास और राजनीति– सुषमा शर्मा स्कृति प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम सं0 1976 ई0।
36. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान : देवराज, साहित्य भवन प्रा0 लि0 इलाहाबाद, प्रथम सं0 1956ई0।
37. आधुनिक हिन्दी उपन्यास : नरेन्द्र मोहन, दि मैक मिलन कम्पनी आब् इण्डिया लिमिटेड, प्रथम सं0 1975ई0।

38. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन: एम0 एन0 श्रीवास्तव राजकमल प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1967 ई0।
39. आधुनिक हिन्दी साहित्य, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि– डॉ0 भोलानाथ, प्रगति प्रकाशन, बैतूल बिल्डिंग आगरा, संस्करण 1969 ई0।
40. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास–डॉ0 बेचन, सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली प्रथम सं0 1965ई0।
41. आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास, इन्द्रनाथ मदान– राजकमल प्रकाशन दिल्ली सं0 1981 ई0।
42. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द–डाॅ0 बच्चन सिंह, राधा कृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1983 ई0।
43. मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास– एन0 रविन्द्रनाथ वाणी प्रकाशन 61 एक कमलानगर दिल्ली।
44. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल– पारसनाथ मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1972 ई0।
45. मार्क्स और मार्क्सवाद– लेनिन, अनुवादक वी0पी0 सिन्हा, गंगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ, प्रथम संस्करण 1966 ई0।
46. मार्क्सवाद–यशपाल, विप्लव कार्यालय लखनऊ संस्करण 1940 ई0।
47. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, कान्ति वर्मा, रामचन्द्र एण्ड कम्पनी दिल्ली, प्रथम सं0 1966ई0।
48. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य की समाज शास्त्रीय पृष्ठभूमि– डॉ0 स्वर्णलता
49. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण, डॉ0 हेमेन्द्र पानेरी, संघी प्रकाशन जयपुर प्रथम संस्करण 1974 ई0।
50. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, डॉ0 ज्ञान चन्द्र गुप्त अभिनव प्रकाशन वेस्ट सीलमपुर दिल्ली, 31, प्रथम सं0 1971 ई0।
51. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास डॉ0 आर0 सुरेन्द्रन लोक भारती प्रकाशन, 15 ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम सं0 1997 ई0
52. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में जीवन दर्शन–डॉ0 सुमित्रा त्यागी–साहित्य प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1978 ई0।
53. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानव मूल्य और उपलब्धियां–डॉ0 भगीरथ बड़ोले–स्मृति प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम सं0 1983 ई0।
54. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन–डाॅ0 विवेकी राय– लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण,1974 ई0।
55. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में–डॉ0 उमेश प्रसाद सिंह
56. भारत वर्तमान और भावी,–रजनीपामदत्त, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1956 ई0।
57. भारतीय सामजिक समस्याएं, जी0 आर0 मदन 7 यू0 ए0 जवाहर नगर दिल्ली संस्करण 1969 ई0।
58. भारत का राजनीतिक इतिहास, राजकुमार, ओम प्रकाश बेरी हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय पो0 आ0 70 सी 0/ 21 पिशाच मोचन वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1962 ई0।

59. भारतीय अर्थव्यवस्था–रुद्रदत्त, के0 पी0 सुन्दरम्, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी, लि0 राम नगर नई दिल्ली दशम सं0 1977 ई0।
60. साढोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप–डॉ0 विमला शर्मा संगम प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण, 1982 ई0।
61. समाजवादी समाज में व्यक्ति–डॉ0 स्मिर्नोव, प्रगति प्रकाशन, मास्को (सोवियत संघ) 1986 ई0।
62. भारतीय ग्राम्य अर्थशास्त्र– शंकर सहाय सक्सेना, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग प्रथम संस्करण 1000 विक्रमी।
63. ग्रामों का आर्थिक पुनरूद्दार–व्योहार राजेन्द्र सिंह, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग तृतीया वृत्ति 1000 विक्रमी। सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग।
64. आंचालिक उपन्यास शिल्प और सम्वेदना–डा0 ज्ञान चन्द गुप्त
65. अठारह उपन्यास,–राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, प्रा0 लि0 दिल्ली प्रथम संस्करण, 1981 ई0।
66. प्रेमचन्द्रोत्तर हिन्दी उपन्यासों की शिल्प विधि–डा0 सत्यपाल चुघ इकाई प्रकाशन 16 पुरुषोत्तम नगर, हिम्मतगंज, इलाहाबाद प्र0 सं0 1968 ई0।
67. प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास– डॉ0 विजय लक्ष्मी पाण्डेय
68. प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास–डॉ0 प्रभाष चन्द्र शर्मा 'मेहता'
69. गाँधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास– अरूणा चतुर्वेदी, कल्पकार प्रकाशन लखनऊ सं0 1983 ई0।
70. यशपाल के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण– मधु जैन, कानपुर अभिलाषा प्रकाशन सं0 1977 ई0।
71. डॉ0 रांगेय राघव और उनकेउपन्यास– डॉ0 लाल साहब सिंह
72. साहित्यानुशील– डॉ0 शिवदान सिंह चौहान
73. साहित्य का उद्देश्य– प्रेमचन्द
74. दिशाओं का परिवेश– डॉ0 ललित शुक्ल, वाणी प्रकाशन 7 प्र0 सं0 1978 ई0।
75. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका–डॉ0 मैनेजर पाण्डेय हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़ प्र0 सं0 1989 ई0।
76. साम्यवादी विश्व का विघटन और समाजवाद का भविष्य–मस्त राम कपूर–सारांश प्रकाशन प्रा0लिमिटेड,142–ई, पॉकिट–4, मयूर विहार, फेज–1, दिल्ली–110091
77. सामाजिक विचारों का इतिहास, काम्टे से गांधी तक– ओम प्रकाश वर्मा, सरस्वती सदन जवाहर नगर दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1972 ई0।
78. समाजवाद–डॉ0 सम्पूर्णानन्द
79. डॉ0 भीमराव अम्बेडकर व्यक्तित्व के कुछ पहलू–मोहन सिंह, लोक भारती प्रकाशन 15–ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद–1, द्वितीय संस्करण–2001 ई0।
80. राज्य और क्रांति– लेनिन प्रगति प्रकाशन मास्को, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा0)लि0 रानी झांसी रोड नई दिल्ली 110055, चौथा सं0–1989 ई0।
81. राष्ट्रीय नीति तथा सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के प्रश्न–ब्ला0 इ0 लेनिन, प्रगति प्रकाशन मास्को, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0, नई दिल्ली, प्रथम सं0–1974 ई0।(अनुवादक–त्रिभुवननाथ)
82. कार्ल मार्क्स और उनकी शिक्षा– लेनिन–प्रगति प्रकाशन मास्को, सं0 1989 ई0।

83. मार्क्स–एंगेल्स कृत कम्यूनिष्ट घोषणा–पत्र एक विवेचन– व0 सजोनोव–प्रगति प्रकाशन मास्को, अनुवादक नरेश वेदी सं0 1984 ई0।
84. वर्ग और वर्ग संघर्ष क्या है?– अन्तोनीना येर्माकोवा, वालेन्तीन रात्नि कोव– प्रगति प्रकाशन मास्को, सं0 1988 ई0। अनुवादक सुरेन्द्र कुमार
85. एशियाई समाजवाद–एक अध्ययन, अशोक मेहता, अनु0 श्यामा प्रसाद प्रदीप, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट काशी
86. मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त के मूलतत्व– वोल्कोव, बोर्दालाजोव, पिरोगोव, प्रगति प्रकाशन मास्को सं0, 1985,ई0।
87. सर्वहारा अधिनायकत्व–मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन– प्रगति प्रकाशन मास्को सं0, 1985 ई0।
88. मार्क्सवादी दर्शन–वि0 अफना स्येव, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0, नई दिल्ली 1972 ई0।
89. एंगेल्स ड्यूहरिंग मत खण्डन मास्को, 1959 ई0।
90. माओत्से तुङण्ग की संकलित रचनायें, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पेकिंग,1969, चीन लोक गण राज्य में मुद्रित।
91. लेनिनवाद–मुक्ति तथा जातियों की प्रगति का ध्वज समपादक–बी0 आर0 कुल्लानन्दा सोवियत भूमि पुस्तक–1972 ई0।
92. मार्क्स और एंगेल्स 'संकलित पत्र व्यवहार, अंग्रेजी मास्को, 1965 ई0।
93. हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर– ले0 के0 एम पणिक्कर एशिया पब्लिशिंग हाउस, प्र0 सं0 1956 ई0।
94. ऐतिहासिक भौतिकवाद क्या है? एम0 सिरोदोव, राजनीति विज्ञान।
95. आज का भारत– रजनी पामदत्त– अनु0 आनन्द स्वरूप गर्ग दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लि0 नई दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास समस्त विश्व की सहयोग कम्पनियां।

(ग) अंग्रेजी–पुस्तकें :

1. कास्ट एण्ड स्ट्रक्चर आफ सोसाइटी, आर0 पी0 भसानी, लीगेसी आफ इण्डिया ग्रंथमाला।
2. कास्ट इन माडर्न इण्डिया– एम0 एन0 श्री निवास, एशिया पब्लिशिंग हारस, दिल्ली, 1962 ई0।
3. इण्डियाज चेन्जिग विलेज– जे0 एच0 हुट्टाम, आर्क्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन, थर्ड एडिशन 1961 ई0।
4. दि नेचर एण्ड टाइम्स आव सोशियोलाजिकल थियरीः मार्टिण्डल
5. दि न्यू क्लास– जिलास
6. कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो– मार्क्स एण्ड एंगेल्स
7. सोशल प्राब्लम्स एण्ड चेन्जिंग सोसाइटी–मार्टिन एच0 न्यूमेयर,डी0 वाननास्टेन्ड को0 न्यूयार्क, 1953
8. फण्डा मेन्टल आफ मार्क्ससिज्मः लेनिनिज्म मैनुअल एडिटेड वाई क्लेमेन्स

9. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वालूम 1 ऐनसीयेन्ट इण्डिया, एडिटेड वाई ई0 जे0 रेप्सन; फर्स्ट इण्डियन रिप्रिन्ट, एस0 चंद एण्ड कम्पनी फाउनटेन, दिल्ली
10. हिन्दू रिलीजन कास्टम एण्ड मैनर–पी0 थोमोट, पी0 वी0 तारा पोरवाला एण्ड सन्स लिमिटेड बाम्बे।
11. दि आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी
12. दि नावेल एण्ड दि पीपुल– रॉल्फ फाक्स
13. वोमन इज माडर्न इण्डिया– सेकन्ड एडिसन कोरा एण्ड को0 पब्लिशर प्राइवेट लि0 कल्बादेवी रोड बाम्बे–2,1977 ई0।
14. फेमिनी डेवलपिंग रिलेशन शिप– स्मार्ट मल्लि स्टेवेन्स।
15. मार्क्ससिज्म फिलासफी– वि0 अफनास्येव।
16. हवाट इज कम्यूनिज्म– आई0 डब्लू राब्सन।
17. दि नावेल एण्ड रिवोलुशन– एलन स्वीन्गेवूड मैकमिलन, लंदन [illegible]
18. लिटरेचर एण्ड सोसाइटी– चार्ली आई0 ग्लिक्स बर्ग, दि [illegible];1972 ई0।
19. दि राइज आफ दि नावल– आइयन वाट–ए पेलिकन बुक, 1972 ई0।

(घ) पत्र–पत्रिकाएँ :

1. आजकल–हिन्दी मासिक पत्रिका, 2000 ई। सं0 सुरेश सिन्हा
2. आलोचना– हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका, सहस्राब्दी अंक, एक2000 प्रधान सम्पादक–नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली।
3. सारिका– अगस्त, 1976 वर्ष 16 पृष्ठ–91 सं0 अवध नारायण मुद्गल मार्च, 1985
4. धर्मयुग– 14 नवम्बर, 1976 वर्ष 27 अंक 46 पृष्ठ 7। अगस्त 1985, सम्पादक–धर्मवीर भारती
5. मुक्तधारा– (हिन्दी) पाक्षिक।
6. आलोचना–नन्द दुलारे वाजपेयी सम्पादकीयलेखन 1957।सं0 डॉ0 नामवर सिंह
7. साप्ताहिक हिन्दुस्तान– मार्च, 1989। प्र0 सं0– शीला झुनझुनवाला
8. हिन्दी प्रदीप
9. राष्ट्रभाषा संदेश– पाक्षिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 12, सम्मेलन मार्ग इलाहाबाद।
10. हंस– सम्पादक राजेन्द्र यादव अक्षर प्रकाशन प्रा0 लि0,2/ 36, अन्सारी रोड मासिक पत्रिका, दरियागंज, नई दिल्ली, अर्द्धशती विशेषांक खण्ड1,1997ई0।
11. स्त्री दर्पण
12. नयी धारा– सं0 उदयराज सिंह
13. संचेतना– सं0 डा0 महीप सिंह
14. दस्तावेज–सं0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
15. हिन्दी नव जीवन

16. वागर्थ– अंक 75, सितम्बर 2001, भारतीय भाषा परिषद प्रकाशन, कलकत्ता(मासिक पत्रिका) सम्पादक–प्रभाकर श्रोत्रिय
17. सम्मेलन पत्रिका–(शोध त्रैमासिक) भाग 84, संख्या 4, सम्पादक विभूति मिश्र हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद
18. इन्द्र प्रस्थ भारती–अप्रैल–जून 2000, कबीर विशेषांक, प्रबंध सम्पादक डॉ0 रामशरण गौड़
19. (त्रैमासिक, साहित्यिक पत्रिका) हिन्दी अकादमी दिल्ली।
20. सन्धान– अंक 2, जुलाई सितम्बर 2001 सम्पादक – लाल बहादुर वर्मा, सुभाष गाताड़े
21. परख(एक वैकल्पिक प्रस्ताव)– अक्टूबर–2001–मार्च 2002 ई0।
22. कथाक्रम–अक्टूबर–दिसम्बर–2001(त्रैमासिक पत्रिका) सम्पादक – शैलेन्द्र सागर
23. दस्तक–(त्रैमासिक पत्रिका) वर्ष 7, अंक 4, जुलाई, अगस्त, सितम्बर 2001 ई0।
24. उत्तरार्द्ध– वर्ष 1, अंक 1, दिसम्बर 1999 प्रबंध सम्पादक–विजयलक्ष्मी, युगान्तर प्रकाशन राधिका विहार मथुरा।
25. वर्तमान साहित्य– वर्ष 18, अंक 11, नवम्बर, 2001 ई0।
26. कुरुक्षेत्र वर्ष 47, अंक अग्रहायण पौष 1923, दिसम्बर 2001 ई0।